ADVANCE FOUNDATION FOR MPPSC

SUBJECT

POLITICAL AND ETHICAL THINKERS

राजनीतिक एवं नैतिक विचारक

PREFACE

The thoughts and philosophies of **India's great political and ethical thinkers** have played a significant role in shaping the nation's governance, policies, and moral values. To help aspirants understand these influential ideas, **Kothari Group of Institutions** has specially edited this book, making it an **exclusive resource for MPPSC** and equally useful for **MP Top 40 Government Jobs**, including **MP S.I., Patwari, and other state-level exams**.

This book covers a **wide syllabus**, including the contributions of **Kautilya, Mahatma Gandhi, Jawaharlal Nehru, Sardar Patel, B.R. Ambedkar, Pandit Deendayal Upadhyay, Ram Manohar Lohia, Jayaprakash Narayan, and other prominent thinkers**. It presents their **political ideologies, ethical principles, governance models, and their relevance in contemporary India**. Additionally, the book includes **previous years' question papers, model papers, and extensive practice exercises** to ensure thorough exam preparation.

Designed to align with the latest exam patterns, this book serves as a **comprehensive study resource** for aspirants. We believe it will be an invaluable tool in their journey toward success.

Best Wishes & Happy Learning!
Kothari Group of Institutions

अणुक्रमणिका

1. कौटिल्य
2. गौतम बुद्ध
3. स्वामी महावीर
4. श्री अरविन्द
5. सर रवीन्द्रनाथ टैगौर
6. राजा राममोहन राय
7. स्वामी दयानन्द सरस्वती
8. स्वामी विवेकानन्द
9. महात्मा गाँधी
10. डॉ. भीमराव अम्बेडकर
11. सर्वपल्ली राधाकृष्णन
12. प्लेटो
13. अरस्तू
14. तुलसीदास
15. कबीर
16. पं. दीनदयाल उपाध्याय
17. राममनोहर लोहिया
18. मौलाना अबुल कलाम आजाद
19. गुरु नानक

कौटिल्य

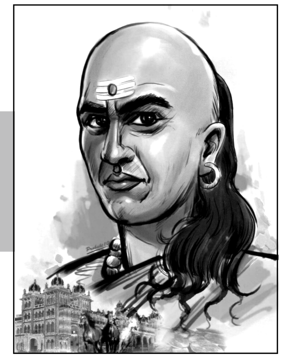

आचार्य कौटिल्य का पूरा नाम क्या था, यह एक विवादास्पद विषय है। विष्णुगुप्त, चाणक्य और कौटिल्य इन तीनों नामों को कुछ विद्वान एकत ही व्यक्ति के नाम और उपनाम मानते हैं और सत्य भी यही प्रतीत होता है। आचार्य का नाम विष्णुगुप्त था और 'चणक' गौत्रीय ब्राह्मण होने के कारण उन्हें चाणक्य कहा जाता है। इस प्रकार उसका नाम विष्णुगुप्त चाणक्य होना चाहिए, लेकिन आश्चर्य का विषय है कि आचार्य ने चाणक्य का प्रयोग अपने ग्रंथों में नहीं किया। उन्होंने अपने ग्रंथ में यत्र-तत्र कहीं अपने लिए विष्णुगुप्त और कहीं कौटिल्य का प्रयोग किया है। ग्रंथ की समाप्ति पर उन्होंने स्वीकार किया है कि अपने क्रोध के कारण शास्त्र, शस्त्र एवं नंद राज्य के अधीन भूमि उद्धार कर, विद्वानों के विविध मतों को देखकर स्वयं विष्णुगुप्त ने सूत्र एवं भाष्यों की रचना की -

ये न शास्त्र च शस्त्र च नन्द राज कताच भूः।
अभर्षेणो धृतान्यश तेन शास्त्रमिंद कृतम्।।
दृष्टवा विप्रतिपतिबहधा शास्त्रेषु भाग्य काराणाम्।
स्वमेव विष्णु गुप्तचकार सूत्रं च भाष्यम् च।।

आचार्य का नाम विष्णुगुप्त था, इसका प्रमाण तत्कालीन ग्रंथों एवं विद्वानों के विचारों से स्पष्ट हो जाता है। आचार्य गुप्त द्वारा रचित छः हजार श्लोक जो मौर्य शासक के लिए लिखे गए थे, पठनीय हैं। डॉ. जायसवाल ने यह सिद्ध किया है कि आचार्य विष्णुगुप्त कौटिल्य चाणक्य 'अर्थशास्त्र' के रचयिता हैं। आचार्य ने इस शास्त्र के प्रारंभ और अंत में अपने को ही कौटिल्य कहा है। उन्होंने प्रारंभ में 'कौटिल्येन कृतं शास्त्र', तथा अंत में 'नैति कौटिल्यः' या 'इतिकौटिल्ययेऽर्थशास्त्रे' कहा है। 'कौटिल्य' शब्द आचार्य का उपनाम था या गोत्रज नाम इस संबंध में दो धारणाएं हैं। एक विचारधारा यह मानती है कि यह आचार्य का गोत्रज नाम था, क्योंकि अन्न को कूट कहा जाता है। अन्न से भरे हुए बर्तन को कूटल कहते हैं। जिन ब्राह्मण परिवारों में वर्ष भर के लिये अन्न संग्रह किया जाता है उसके कुल में जन्म लेने से उन्हें कौटिल्य कहा जाता था। आचार्य विष्णुगुप्त इस प्रकार कौटिल्य गोत्रीय ब्राह्मण बताए जाते हैं। दूसरी विचारधारा उन विद्वानों की है, जो इसे उपनाम सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार यह कुटलिता का अनुरूप है। जो व्यक्ति धूर्त उपायों के अवलंबन से अपने कामों को सफल बनाने में नहीं चूकता उसे कुटिल कहते हैं। आचार्य ने अपने ग्रंथ में शासक को अपने मार्ग में आई बाधाओं को दूर करने के लिए विविध छल-प्रपंचों आदि का सहारा लेने की सलाह दी है। इसके अतिरिक्त राजनीति के व्यावहारिक ज्ञान को प्रयोग करने वालों को कूटनीतिज्ञ भी कहते हैं। आचार्य ने नंद वंश का उन्मूलन कर चंद्रगुप्त को सत्ता प्राप्त कराने तथा उसे स्थायी रखने के लिए कूटनीतिक उपायों का सहारा लिया अतः संभवतः उनके इस नृशंसतापूर्ण कार्यों के कारम उन्हें कौटिल्य कहा गया। यह भी संभव है कि अहिंसावादी जैन एवं बौद्ध विचारकों ने आचार्य की नीति से असंतुष्ट होकर यह उपनाम निंदा करने के लिए प्रयोग किया हो। परंतु इन मतों का अध्ययन करने पर यह प्रश्न उठता है कि यदि 'कौटिल्य' आचार्य का गोत्रीय नाम नहीं होता, तो वह स्वयं अपने ग्रंथ में उसे बार-बार क्यों प्रयोग करते? इन विभिन्न विवादों पर विचार करने के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि विष्णुगुप्त कौटिल्य या चाणक्य आचार्य का पूरा नाम था।

कौटिल्य के नाम के समान ही उनकी जन्मभूमि अथवा जीवन के संबंध में प्रामाणिक सामग्री का बड़ा ही अभाव है। उनके जन्म स्थान के संबंध में दो मत हैं। एक ओर बौद्ध ग्रंथ उनकी जन्मभूमि तक्षशिला मानते हैं तो जैन ग्रंथ मैसूर राज्य का श्रवण वेल गोल प्रदेश। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान उनका जन्म स्थान नेपाल की तराई के किसी मौर्य आदि प्रदेश का मानते हैं। यद्यपि निश्चित रूप से कहना मुश्किल है, फिर भी तक्षशिला वाला मत अधिक प्रचलित है। उनकी शिक्षा-दीक्षा नालंदा विश्वविद्यालय में हुई।

उस समय भारतवर्ष में मगध राज्य पर नंद वंश का शासन था। महाराज महानंद इस वंश के अंतिम शक्तिशाली शासक थे। महाराज महानंद ने अपने मंत्री शकटार से किसी कारण अनबन हो गई और राजा ने मंत्री शकटार का अपमान किया। मंत्री ने राजा से इसका बदला लेने का निश्चय किया। एक दिन उसने एक ऐसे ब्राह्मण को देखा जो दर्भ घास को जड़ से उखाड़ रहा था, क्योंकि उसके पैर में चोट आई थी। ब्राह्मण दृढ़ संकल्प से प्रभावित होकर मंत्री ने इसे राजा नंद को विध्वंस करने का साधन बनाया। यह ब्राह्मण कौटिल्य ही था जो विद्वान होने के साथ ही कुरूप और क्रोधी भी। उसने राजा की ओर से ब्राह्मण को राजदरबार में श्राद्ध के अवसर पर बुलाकर सबसे प्रतिष्ठित आसन पर बैठाया। सुबंधु नामक दूसरे ब्राह्मण ने जब कुरूप चाणक्य के उच्चासन पर बैठने पर आपत्ति की तो राजा ने उसे नौकरों से अपमानित कराके वहां से निकलवा दिया। चाणक्य ने इस प्रकार तिरस्कृत होकर निकलवाए जाने पर यह प्रतिज्ञा की जब तक राजा नंद वंश का नाश नहीं कर दूंगा, शिखाबंध नहीं करूंगा। शकटार ने उसे संरक्षण प्रदान किया। आचार्य कौटिल्य का मौर्यवंशीय क्षत्रिय राजकुमार चंद्रगुप्त से परिचय प्राप्त हुआ। वह एक महत्वाकांक्षी युवराज था, जिसके पिता से रुष्ट होकर सम्राट महानंद ने देश से निष्कासित कर दिया। चंद्रगुप्त योग्य, रणकुशल तथा बलवती इच्छाओं के कारण चाणक्य को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयुक्त पात्र जान पड़ा और उधर चंद्रगुप्त भी महाज्ञानी कूटनीतिज्ञ चाणक्य को पाकर कृतार्थ हो गया। आचार्य के मार्गदर्शन में शक्ति संचित कर उसका प्रयोग करने के बाद चंद्रगुप्त ने महानंद का नाश कर मगध साम्राज्य का शक्तिशाली शासक बना। इस प्रकार नंद वंश का नाश कर आचार्य ने अपने अपमान का बदला ले लिया। आचार्य ने राजनीतिक ज्ञान से पूर्ण एक ग्रंथ 'अर्थशास्त्र' लिखकर चंद्रगुप्त के शासन को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। कौटिल्य ने भारतीय राजनीति के इतिहास में प्रथम राष्ट्रीय राज्य की कल्पना की और उसे क्रियान्वित भी किया। वे केवल विचारक ही नहीं, अपितु सक्रिय राजनीतिज्ञ भी थे। चंद्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री के रूप में उन्होंने जिस प्रकार देश के राजनीतिक सूत्रों का संचालन किया वह भारतीय इतिहास की अनुपम देन बन गई है।

कौटिल्य रचित 'अर्थशास्त्र'

'अर्थशास्त्र' आचार्य चाणक्य की अद्वितीय कृति का नाम है। भारत में कोटिल्य के 'अर्थशास्त्र' की खोज अपेक्षाकृत नवीन है। 1905 में मैसूर राज्य के तंजौर जिले के एक ब्राह्मण ने 'अर्थशास्त्र' की एक हस्तलिखित प्रति मैसूर सरकार के भारतीयों विद्याओं से सम्बन्धित पुस्तकालय को भेंट की। पुस्तकालय के तत्कालीन संचालक श्री शामशास्त्री ने इस प्रति का गहन अध्ययन किया और पुस्तक के साथ मिली भट्टस्वामी की टीका के साथ प्रकाशित कराया। 1915 में इसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ। पश्चिमी विद्वानों जैसे जौली, विन्सेण्ट स्थिम, फ्लीट आदि ने इस रचना की प्रशंसा की।

'अर्थशास्त्र' ग्रन्थ को आधुनिक अर्थों में अर्थशास्त्र (Economics) नहीं समझा जाना चाहिए। प्राचीन भारतवर्ष में अर्थशास्त्र की बहुत व्यापक परिभाषा की जाती थी। विद्वान अर्थ,धर्म, कर्म, मोक्ष की संयुक्त प्रकृति को अर्थशास्त्र में परिगणित करते हैं। प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार अर्थशास्त्र में ज्ञान की विभिन्न शाखाएँ - राजनीति, धर्मनीति, कूटनीति आदि सम्मिलित मानी जाती थीं। 'अर्थशास्त्र', अर्थशास्त्र (Economics) नहीं है बल्कि राजनीतिक विज्ञान का महानतम ग्रन्थ है। फिर भी इस ग्रन्थ का नाम कोटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' क्यों रखा ? जबकि स्वयं कौटिल्य स्वीकार करते हैं कि 'कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिकृतः'। कौटिल्य ने राजा के लिए शासन विधि बतायी। उन्होंने पहले अध्याय के प्रारम्भ में ही स्पष्ट किया है कि वे दण्डनीति का विवेचन कर रहे हैं। दण्डनीति शब्द प्राचीन काल में भारत में राजनीति-विद्या के लिए प्रयुक्त हुआ है। आचार्य शुक्र ने राजनीति-विद्या को दण्डनीति की संज्ञा दी है। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ का नामकरण करने का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा कि ''अर्थ मनुष्य की जीविका संचालन में सहायक होता है। मनुष्य जीविका प्राप्त करने के लिए कृषि कर्म आदि भूमि पर ही करते हैं। अतः मनुष्य एवं भूमि को अर्थ कहा जाता है। इसलिए इस मनुष्य युक्त भूमि (राज्य) को प्राप्त करने और उसकी सुरक्षा करने वाले शास्त्र को 'अर्थशास्त्र' कहते हैं।'' इसका अर्थ यह हुआ कि अर्थशास्त्र में राज्य का अध्ययन किया जाता है। राज्य में धर्म, कानून, राजनिति, व्यापार, उद्योग कृषि सभी सम्मिलित है। इस प्रकार आचार्य के अनुसार 'अर्थशास्त्र' भूमियुक्त मनुष्यों के जीवन संचालन का ग्रन्थ है। 'अर्थशास्त्र' में शासन-व्यवस्था का पूर्ण विवेचन आ जाता है।

कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' राजनीतिक और शासन कला की एक महान रचना है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में ही चार विधाओं का उल्लेख किया है। प्रथम आन्वीक्षिकी (दर्शन और तर्क), दूसरी त्रयी (धर्म-अधर्म या वेदों का ज्ञान), तीसरी वार्ता (कृषि, व्यापार, आदि) और चौथी दण्ड-नीति (शासनकला या राजनीतिशास्त्र)। अर्थशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय

प्रमुख रूप से दण्ड-नीति ही है। कौटिल्य ने पहले सूत्र में लिखा है और उसके साथ ही भाष्य दिया है। यह शैली राजनीति जैसे गम्भीर विषय में दुरूहता न आने देने के लिए प्रयोग की गयी है।

राज्य की उत्पत्ति (Origin of State)

प्राचीन भारत में राज्य की संस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कई प्रकार के सिद्धान्त माने जाते थे। पहला सिद्धान्त यह था कि युद्ध की परिस्थिति में सैनिक आवश्यकताओं के कारण राज्य का जन्म हुआ। ऐतरेय ब्राह्मण (1/14) में यह कहा गया है कि देवासुर संग्राम में देवताओं ने बार-बार असुरों से हारने पर यह अनुभव किया कि उनकी पराजय का कारण उनमें कोई राजा नहीं है, अतः उन्होंने अपना एक राजा चुन लिया। दूसरा दैवी सिद्धान्त का है। इसके अनुसार भगवान ने विभिन्न देवताओं के अंश लेकर राजा का निर्माण प्रजा के कल्याण के लिये किया। मनु ने राजा के दैवी सिद्धान्त को स्वीकार किया। तीसरा सिद्धान्त विकासमूलक है, इसके अनुसार राज्य की संस्था का क्रमशः धीरे-धीरे विकास हुआ है। अथर्ववेद (8/10/1) में यह बताया गया है कि राज्य संस्था क्रमिक विकास का परिणाम है। चौथा सिद्धान्त यह है कि आरम्भिक स्वर्णयुग की समाप्ति पर दैन्य, मोह, लोभ, काम और राग आदि की भावनाओं के प्रबल होने से मानव-स्वभाव में भयावह स्थिति उत्पन्न हो गयी थी, इससे छुटकारा पाने के लिए लोग ब्रह्मा की शरण में गये, उसने उन्हें दण्डनीति का उपदेश दिया और इसके अनुसार राज्य की तथा राजा की उत्पत्ति हुई ।

राज्य उत्पत्ति का पाँचवाँ सिद्धान्त मत्स्य न्याय और अनुबन्धवाद का है। कौटिल्य ने इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है। इस विषय में कौटिल्य के विचार हॉब्स के समान हैं। इस सम्बन्ध में कौटिल्य ने कहा कै कि मानव समाज में पहले कोई दण्ड-व्यवस्था नहीं थी, इससे बड़ी अराजकता व्याप्त थी। इसे कौटिल्य ने मत्स्य न्याय का नाम दिया है। जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी एवं निर्बल मछली को अपना आहार बना लेती है, उसी प्रकार उस युग में सबल निर्बल मनुष्यों की सम्पत्ति और अधिकारों को हड़प रहे थे। इस अराजकता की स्थिति से परेशान आकर मनुष्यों ने वैवस्वत के पुत्र मनु को अपना राजा बनाया। मनु और प्रजा के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार प्रजा ने राजा को राज्य शासन चलाने के लिए, अन्न की उपज का छठवाँ भाग, व्यापार द्वारा प्राप्त धन का दसवाँ भाग और हरण्य की आय का कुछ भाग कर रूप में देने का निश्चय किया। साथ ही साथ, यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि कर के प्राप्त धन का अधिकारी वही राजा होगा जो अपनी प्रजा को धन-धान्य से सुखी रखेगा तथा सबी व्याधियों एवं शत्रु आक्रमण से रक्षा करेगा।

इस प्रकार यह समझौता द्विपक्षीय था, जिससे राजा और प्रजा अपने कर्तव्य से बँधे हुए थे। राजा प्रजा के प्रति तथा प्रजा राजा के कर्तव्य निभाने के लिए बाध्य थे। जो राजा प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य से विमुख होगा वह अपने अधिकार से वंचित कर दिया जायेगा। प्रजा उसकी धन-धान्य से सहायता करना बन्द कर देगी अर्थात् राजा को पद से पदच्युत कर देगी। उन्होंने कहा है प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है। प्रजा के हित में ही उसका हित है, राजा का अपना प्रिय या सुख कुछ नहीं है। प्रजा का प्रिय ही उसका प्रिय है। राजा के कुछ निश्चित कर्तव्य हैं, इन्हें पूरा करने के बदले में ही वह प्रजा से निश्चित करों के रूप में अपनी वृत्ति या वेतन प्राप्त करता है। राजा को प्रजा पर, उसकी पूर्व अनुमति के बिना कर लगाने, तत्सम्बन्धी धन संचय करने तथा उसे खर्च करने का अधिकार नहीं है। कौटिल्य के यह विचार लोकतन्त्रीय हैं। कौटिल्य ने प्रजा के हाथ में वित्तीय अधिकार सौंप कर निश्चित नहीं है। कौटिल्य के यह विचार लोकतन्त्रीय है। कौटिल्य ने प्रजा के हाथ में वित्तीय अधिकार सौंप कर निश्चित ही राजा को निरंकुश बनने से रोक दिया।

सप्तांग सिद्धान्त अथवा राज्य के अंग (Elements of state or Saptang Siddhant)

कौटिल्य ने राज्य के सात अंग बताये गये हैं। इसलिए राज्य के इस सिद्धान्त को सप्तांग सिद्धान्त कहा जाता है। आधुनिक युग में राज्य की कल्पना चार तत्वों के सामूहिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती है। इन चारों से कोई भीअंग यदि नहीं होता है तो वह राज्य नहीं कहा जा सकता। उसी प्रकार इन सात अंगों से विहीन राज्य भी अपने उद्देश्य की पूर्ति में असफल रहता है। वह जनता की आन्तरिक व्यवस्था और बाह्य आक्रमण से रक्षा में असमर्थ रहता है। राज्य के सात अंग निम्न हैंः

(1) स्वामी (The KIng) - कौटिल्य ने स्वामी अर्थात् राजा में अनेक गुणों का होना आवश्यक बताया है। उसने राजा को एक आदर्श पुरुष माना है जिसमें हर प्रकार के गुण हों और अवगुण नहीं हो। स्वामी के गुणों की गणना करते हुए उसने बताया कि वह उच्च कुल में उत्पन्न, धर्म में रूचि रखने वाला, दूरदर्शी, सत्य बोलने वाला, महत्वकांक्षी, अथक परिश्रमी,

गुणियों की पहचान और आदर करने वाला, शिक्षा प्रेमी, योग्य मन्त्रियों से युक्त, समन्तगणों को वश में रखने वाला होना चाहिए। उसकी योग्यता और विद्वता उसे आत्मसम्पन्न बनाती है।उसमें सेवा करे की भावना, शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा, प्रत्येक बात को समझने की शक्ति होनी चाहिये। उसकी स्मृति तीव्र गुणों से युक्त होनी चाहिए। उसे विधान तथा तर्कशक्ति से सम्पन्न होना चाहिए। उसमें शौर्य,अपराध क्षमा करने की शक्ति होनी चाहिए। वह शक्तिसम्पन्न, आत्मसंयमी, विविध प्रकार के अश्व एवं हस्ति, अस्त्र-शस्त्रों के संचालन में निपुण हो। शत्रु को विपत्ति में दबाने और अपनी विपत्ति में दृढ़ सैन्य संगठन करने वाला हो। शास्त्रानुसार अपकार-उपकार कर्ता के साथ व्यवहार करने की क्षमता, अकाल आदि सभी समयों में अन्त का ठीक प्रबन्ध करने तथा विधियों के अनुसार राजकोष की वृद्धि करने वाला होना चाहिए। उसे सैन्य संचालन, सेना को युद्ध की शिक्षा, उसके उत्साहवर्द्धन, युद्ध आदि; सन्धि, विग्रह, शत्रु की कमजोरी को जानने की कुशलता, दूर की सोचने की शक्ति आदि होनी चाहिए। वह तेजस्वी, आत्मसंयमी, काम, क्रोध, लोभ, मोह से दूर रहने वाला, मीठे वचन बोलने वाला परन्तु दूसरों की मीठी बातों में न आने वाला, दूसरों की हँसी उड़ाने वाला नहीं होना चाहिए। इन गुणों से युक्त स्वामी हँसमुख होता है और वृद्धों की आज्ञाओं का अनुसरण करता है तथा दूसरों की ओर भौंहे वक्र करके नहीं देखता है और उदार होता है। प्लोटो के अनुरूप कौटिल्य भी राजा की क्षिा पर बल देता हुआ यह मानता है कि अशिक्षित राजकुल उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार धुन लगी हुई लकड़ी। शासक के गुणों को एक वाक्य में कहा जा सकता है कि वह सर्वगुण सम्पन्न अवगुणों से मुक्त, इन्द्रियों का दमन करने वाला होना चाहिए। डॉ. बी.सिन्हा के अनुसार कौटिल्यीय राज शास्त्रीय व्यस्था में राजा को शासन की धुरी माना गया है जो उसे गति प्रदान करता है। (In Kautilya's sheme the king was the lever of administration and had necessarily to play a positive and directive role in the government.) वह अपने राजा को प्लेटो की भाँति केवल दार्शनिक ही नहीं देखना चाहता परन्तु उसे राजर्षि (The King of Philosophers) देखना चाहता है।

(2) आमात्य - राजा की दूसरी प्रकृति अमात्य होते हैं और राज्य संचालन के वास्तविक अंग होते हैं। अकेला राजा कितना भी गुण सम्पन्न क्यों न हो जब तक उसके अमात्य गुणवान और योग्य नहीं होंगे, शासन सफल नहीं हो सकता। राजा के बाद अमात्य का स्थान होता था वह एक महत्वपूर्ण राजकीय अधिकारी था। अमात्य प्रशासनिक कार्यों की देखभाल करता था।राजा को अमात्य की नियुक्ति बहुत सोच-समझकर करनी चाहिए। कौटिल्य ने अमात्यों के लिए उच्च वेतन तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान की थीं। शासन की सुविधा के लिए केन्द्रीय प्रशासन अनेक विभागों में विभाजित था। प्रत्येक विभाग को 'तीर्थ' कहा जाता था। कौटिल्य ने निम्न 18 तीर्थों के प्रधान अधिकारियों का उल्लेख किया है-

1. मंत्री, 2. पुरोहित, 3. सेनापति, 4. युवराज, 5. दौवरिक, 6. अन्तर्वशिक, 7. प्रशस्ता, 8. समाहर्ता, 9. सन्निधाता, 10. प्रदेष्टा, 11. नायक, 12. पौर, 13. कर्मान्तिक, 14. मंत्रिपरिषाध्यक्ष, 15. दण्डपाल, 16. दुर्गपाल, 17. अन्तपाल,, 18. अतिवाहिका।

(3) जनपद - कौटिल्य ने जनपद प्रकृति में आधुनिक युग के राज्य के दो तत्वों का सम्मिश्रण कर दिया है। जनपद से उसका अभिप्राय किसी प्रदेश की भूमि और जनता से है। भारतीय अर्थ में जनपद का प्रारम्भिक अर्थ एक जाति के प्रदेश से लिया जाता था लेकिन अब राज्य का स्वरूप बड़े राष्ट्रीय राज्यों में परिवर्तित हो गया, उसमें अनेक जातियों के लोगों का होना आवश्यक हो गया। जनपद के गुणों के सम्बन्ध में भूमि तथा उसकी स्थिति आदि स्वरूप पर आचार्य के विचार यूनानी विचारकों- प्लेटो तथा अरस्तू से काफी मिलते हुए हैं। उनमें जो अन्तर पाया जाता है वह देश-काल एवं परिस्थितियों आदि के कारण ही है। जनपद में पहला गुण यह होना चाहिए कि उनकी सीमा पर तथा मध्य में दुर्ग होने चाहिए। उसकी भूमि इतनी उपजाऊ होनी चाहिए कि थोड़े से परिश्रम से ही अधिक अन्न उत्पन्न हो सके और वह अन्न देश के निवासियों एवं आने वाले विदेसियों की आवश्यकता को पूरा करने में समर्थ हो। जनपद की पर्वतमालाएँ, सरिता तथा वन ऐसे होने चाहिए जो संकट काल में सहायक हो सकें। कृषि धन को अतिरिक्त देश में खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा में सुलभ हो। लकड़ी हाथी तथा गायें (पशुधन) और उनके चारागाह आदि के लिए भूमि हो। जनपद के आसपास दुर्बल शासक हों, उनकी भूमि में कीचड़, कंकड़, पत्थर, उपजाऊ भूमि, हिंसक पशु, सघन वन, चोर हों, आदि तथा छोटे-छोटे शत्रु न हों। जनपद का जलवायु स्वास्थ्यप्रद हो, सरितौँ, झीलें, आदि उसे रमणीक बनाते हों, वहाँ क्रय-विक्रय सुलभ हो और बहुमूल्य वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता हो। प्रजा को दण्ड सहने तथा करों को सहन करने की समर्थ्य हो। यहाँ किसान उद्यमी हों और राजा के शत्रुओं के विरोधियों की संख्या अधिक हो। प्रजा में अधिकांश नीच वर्ण के आज्ञापालक नागरिक हों। भूमि एवं जनता की विवेचना में अरस्तू का 'मध्यम सिद्धान्त' (Theory of Mean) विचार देता है। भारतीय आचार्यों में ग्रन्थों आदि की शोध के साथ ही यह भी जानकारी प्राप्त करना शेष है कि अरस्तू ने आचार्य से या आचार्य ने अरस्तू से उपर्युक्त विषय में कुछ अनुदाय ग्रहण किया।

सप्तांग सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Saptang Theory)

(1) राज्य को शरीर बताना उचित नहीं है (State is not an Organism) - सप्तांग सिद्धान्त में यह आभास पाया जाता है कि राज्य मानव शरीर की भाँति है और वह गुणों से पूर्णतः युक्त है। लेकिन हमें यह विस्मृत नहीं कर देना चाहिए कि आंगिक सिद्धान्त केवल आंशिक रूप में ही सत्य हैं।

(2) कौटिल्य सार्वभौमिकता, सरकार, जनसंख्या तथा निश्चित भू-भाग जो राज्य के आधुनिक तत्व माने जाते हैं, उनका कहीं पर भी वर्णन नहीं करता है। (Hedoes not state any where in his Saptang theory elements of modern state.)

(3) सप्तांग सिद्धान्त में प्रजातन्त्र की उपेक्षा की गयी (Democracy has been put to scorn in Saptang Theory)- इस आलोचना में बहुत कुछ शक्ति है। सप्तांग सिद्धान्त प्रजातन्त्र की अपेक्षा राजतन्त्र के अधिक समीप है।

(4) राज्य सेना, कोष एवं दुर्ग की अनुपस्थिति में भी जीवित रह सकता है (State can live in absence of military, funds and forts) - यह बात तो सस्य है कि ये बातें राज्य के लिए चाहे आवश्यक हों परन्तु उन्हें आधारभूत तत्वों की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती। सेना प्रत्येक राज्य में पायी जाती है, उस पर बल दिया जाता है, परन्तु उसे राज्य का आधारभूत तत्व नहीं माना जा सकता।

राज्य का स्वरूप अथवा सप्तांग सिद्धान्त (Nature of State or Saptang Theory)

कौटिल्य ने मनु, भीष्म आदि अन्य प्राचीन राजशात्रियों के मतानुसार राज्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए सप्तांग अथवा सात अंगों वाले राज्य की कल्पना की है। जिस प्रकार हमारा शरीर हाथ-पैर, मुँह आदि अनेक अंगों से मिलकर बनता है, उसी प्रकार राज्य भी एक जीवित जाग्रत शरीर (Organism) है। राज्य के ये सात अंग हैं- स्वामी (राजा), अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र। शुक्रनीति में इनकी मानव शरीर के अंगों से तुलना करते हुए कहा गया है - इस शरीर रूपी राज्य में राजा सिर के समान है, अमात्य आँख है, सुहृत कान है, कोष मुख है, दण्ड मन है, दुर्ग हाथ हैं और राष्ट्र पैर है। राज्य के विभिन्न अंगों को शरीर के अवयवों के समान मानने के कारण इस सिद्धान्त को राज्य का सावयव सिद्धान्त (Organic Theory of State) कहा जाता है। आधुनिक युग में राज्य की कल्पना चार अंगों के सामूहिक स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती है। इन चारों में से कोई भी अंग यदि नहीं होता है तो वह राज्य नहीं कहा जा सकता। ठीक उसी प्रकार इन सात अंगों से विहीन राज्य भी अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल नहीं हो सकता। राज्य केसात अंग अग्र प्रकार है :

राजा (King)

राज्य के सात अंगों में कौटिल्य ने राजा को ही राज्य का सर्वोच्च एवं प्रधान अंग माना है। उन्होंने राजतन्त्रीय शासन व्यवस्था का समर्थन किया है। राजा शासनतन्त्र की धुरी है और वह शासन के संचालन में सक्रिय रूप से भाग लेने तथा शासन को गति प्रदान करने का कार्य करता है। कौटिल्य के शब्दों में, ''यदि राजा सम्पन्न हो तो उसकी समृद्धि से प्रजा भी सम्पन्न होती है। राजा का जो शील हो, वह प्रजा का भी होता है। यदि राजा उद्यमी और उत्थानशील होता है तो प्रजा में भी गुण आ जाते हैं। यदि राजा प्रमादी हो तो, प्रजा भी वैसी हो जाती है। अतः राज्य में कूटस्थानीय (केन्दभूत) राजा ही हैं।

राजा के गुण

जब राज्य में राजा का सर्वोच्च स्थान और महत्व हो, तो स्वाभाविक रूप से राजा एक आदर्श व्यक्ति ही होना चाहिए, और कौटिल्य ने ऐसे ही व्यक्ति के रूप में राजा की कल्पना की है। वह राजा को दार्शनिक सम्राट (KIng Philosopher) मानता है जो प्लेटो के दार्शकि शासक से किसी भी प्रकार कम नहीं है। उसने राजा के सम्बन्ध में बहुत ऊँचे आदर्शों, उद्देश्यों और कर्तव्यों का वर्णन किया है। उसके मतानुसार राजा और प्रजा में पिता और पुत्र का सम्बन्ध होना चाहिए, वह पिता जैसा प्रजा का ध्यान रखे। राजा को उच्च आदर्शों और कर्तव्यों का पालन करने के लिए राजा में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक हैः ''वह ऊंचे कुल का हो, उसमें दैवी बुद्धि तथा दैवी शक्ति हो, वह वृद्धजनों की बात सुनने वाला हो, धार्मिक हो, सत्य भाषण करने वाला हो, परस्पर विरोधी बातें न करे, कृतज्ञ हो, उसका लक्ष्य बहुत ऊँचा हो, उसमें उत्साह अत्यधिक हो, वह दीर्घसूत्री न हो, वह सामन्त राजाओं को अपने वश में रखने में समर्थ हो, उसकी बुद्धि दृढ़ हो, उसकी परिषद छोटी न हो और वह विनय का पालन करने वाला हो। इनके अतिरिक्त राजा के अन्य आवश्यक गुण इस प्रकार हैं- उसकी बुद्धि बहुत

तीक्षण होनी चाहिए, उसमें स्मरण शक्ति, बुद्धि और बल प्रचुर मात्रा में होनी चाहिए। वह अत्यन्त उग्र, अपने ऊपर नियन्त्रण रखने वाला, सब शिल्पों में निपुण, सब दोषों से रहित और दूरदर्शी होना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह पर पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिए।

कौटिल्य इस वास्तविक तथ्य से परिचित था कि सर्वगुण सम्पन्न आदर्श राजा मिलना आसान नहीं है। उसके अनुसार इनमें से कुछ गुण तो स्वाभाविक होते हैं कुछ अभ्यास से प्राप्त किये जा सकते हैं। समुचित शिक्षा द्वारा उसमें गुण पैदा किये जा सकते हैं। प्लेटो की भाँति उसने भी राजा के प्रशिक्षण पर बहुत बल दिया है। उसका यह विश्वास था कि यदि एक कुलीन तथा होनहार व्यक्ति को बचपन से ही उचित शिक्षा दी जाये तो उसे एक आदर्श राजा बनाने के लिए तैयार किया जा सकता है, अतः 'अर्थशास्त्र' में उस शिक्षा के वर्णन विस्तार से किया गया है जो बचपन और युवावस्था में राजा को दीजानी चाहिए। उसके अनुसार, ''भलीभाँति शिक्षा प्राप्त राजा समस्त प्रजाजनों के हित में लगा हुआ तथा प्रजा के रक्षण में तत्पर रहता हुआ चिरकाल तक निषकलंक पृथ्वी का उपभोग करता है। इसके विपरीत, जिस प्रकार घुन लगी हुई लकड़ी शीघ्र नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार जिस राजकुल के राजकुमार शिक्षित नहीं होते, वह राजकुल बिना किसी युद्ध के ही नष्ट हो जाता है।'' राजा के लिए यह आवश्यक है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और हर्ष नामक छः रिपुओं पर विजय प्राप्त करे तथा अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण स्थापित करे।

कर्तव्य

राजा के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए कौटिल्य ने लिखा है - राजा और प्रजा में पिता और पुत्र का सम्बन्ध होना चाहिए, वह पिता जैसे प्रजा का ध्यान रखे। कौटिल्य के अनुसार, ''प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प6जा के हित में राजा का हित है। राजा के लिए प्रजा सुख से भिन्न अपना कोई सुख नहीं है, प्रजा के सुख में ही उसका सुख है।'' उसके अनुसार राजा के प्रमुख कर्तव्य निम्नलिखित हैं :

1. वर्णाश्रम धर्म बनाये रखना - राजा का प्रमुख कर्तव्य वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था को बनाये रखना है। कौटिल्य ने राजा को नष्ट होने वाले धर्मों का चलाने वाला (धर्म प्रवर्तक) बताया है। जिस राजा की प्रजा आर्य मर्यादा के आधार पर व्यवस्थित रहती है, जो वर्ण और आश्रम के नियमों का पालन करती है और जो त्रयी (तीन वेद) द्वारा निहित विधान से रक्षित रहती है, वह प्रजा सदैव प्रसन्न रहती है और उसका कभी नाश नहीं होता।

2. दण्ड की व्यवस्था करना - दण्ड की उचित व्यवस्था करना राजा का महत्वपूर्ण कर्तव्य है। कौटिल्य के अनुसार, 'दण्ड अपर्याप्त वस्तु को प्राप्त कराता है, उसकी रक्षा करता है, रक्षित वस्तु को बढ़ाता है और बढ़ी हुई वस्तु का उपयोग करता है। समाज और सामाजिक व्यवहार दण्ड पर ही निर्भर करते हैं, अतः दण्ड की उचित व्यवस्थआ आवश्यक है। इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है दण्ड न तो आवश्यकता और औचित्य से अधिक हो और न ही कम। यथोचित दण्ड देने वाला राजा ही पूज्य होता है और केवल समुचित दण्ड ही प्रजा को धर्म, अर्थ तथा काम से परिपूर्ण करता है। ''यदि काम, क्रोध या अज्ञानवश दण्ड दिया जाए, तो जनसाधारण की कौन कहे, वानप्रस्थ और सन्यासी तक क्षुब्ध हो जाते हैं। यदि दण्ड का उचित प्रयोग नहीं होता, तो बलवान मनुष्य निर्बलों को वैसे ही खा जाते हैं, जैसे बड़ी मछली छोटी को।''

3. जनकल्याणकारी कार्य करना - कौटिल्य ने राजा के कर्तव्यों में जनकल्याणकारी कार्यों को बहुत महत्व दिया है। राजा को चाहिए कि वह बालकों, वृद्धों, रोगियों, अनाथों और स्त्रियों के हितों की देखभाल स्वयं करें, तथा अधिकारियों पर न छोड़े। वह प्रजा की रक्षा और शत्रु के आक्रमण से देश की रक्षा के लिए मन्दिरों, मुनियों के आश्रमों, पाखण्डियों के मठों, वेदशालाओं, गौशालाओं और धर्मशालाओं आदि का समय-समय पर निरीक्षण करता रहे। साथ में जो किसान खेती न करके जमीन परती छोड़ देते हों, उसके पास से जमीन लेकर दूसरे किसानों को देना, कृषि के लिए बाँध बनाना, जलमार्ग, स्थलमार्ग, बाजार और जलाशय बनाना, दुर्भिक्ष के समय जनता की सहायता करना और उन्हें बीज प्रदान करना।

कौटिल्य के अनुसार खदानें, वस्तुओं का निर्माण, जंगलों में इमारती लकड़ी और हाथियों को प्राप्त करना तथा अच्छी नस्ल के पशुओं को पैदा करना राज्य के द्वारा ही किया जाना चाहिए। कौटिल्य के मतानुसार राजा के कर्तव्य ये भी हैं- ''राज्य की प्रत्येक प्रकार की उदासीन की देखरेख, उनके तदनुकूल व्यवहार करना, विधिवत दीक्षा प्राप्त किये व्यक्तियों को राज्य के विभिन्न पदों पर नियुक्त करना।

4. नियुक्ति सम्बन्धी कर्तव्य - कौटिल्य की राजतन्त्र व्यवस्था अथवा शासन व्यवस्था में राजा राज्य का प्राण होता है और शासन की धुरी भी। कोई भी राजा समस्त कार्यों को अकेला संचालित नहीं कर सकता है। अतः वह शासन

कुशलतापूर्वक संचालित करने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति करता है और उनकी सहायता से राजकार्य संचालित करता है। राज्य को उत्तम बनाये रखने के लिए राजा और अधिकारियों के उत्तम बनाने पर बल दिया है। अतः अमात्य, सेनापति और अन्य प्रमुख अधिकारियों की नियुक्ति सावधानीपूर्वक करनी चाहिए। योग्य, कुशल, ईमानदार व्यक्तियों की राज्य के विभिन्न पदों पर नियुक्ति करनी चाहिए। उसे कर्मचारियों पर निरीक्षण रखना चाहिए और श्रेष्ठ कार्य करने वाले कर्मचारियों को पदोन्नत करना चाहिए। इस सम्बन्ध में कौटिल्य का मत है कि राजा को स्वयं परिश्रम कर प्रजा के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत करे। जो राजा ऐसा नहीं करता तो राष्ट्र नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा।

5. आत्मरक्षा- कौटिल्य राजा को आत्मरक्षा हेतु सदैव सचेत रहने का उपदेश देता है। राजा राज्य का प्राण होता है; अतः उसके जीवन कीरक्षा के लिए विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता है। उस समय राजा प्रायः विभिन्न षड्यन्त्रों के शिकार होते थे, उनका जीवन बड़ा असुरक्षित होता था, अतः कौटिल्य ने बड़े विस्तार से इस विषय में की जाने वाली सावधानियों का उल्लेख किया गया है। उनके अनुसार, ''राजा, राजकुमारों से सावधान रहे क्योंकि वे केकड़े के समान होते हैं जो अपने पिता को खा जाते हैं।'' राजकुमारों पर नियन्त्रण रखने के लिये कौटिल्य ने उपाय सुझाया है कि ''उन्हें अच्छे गुरुओं से शिक्षा दिलायी जाये और बचपन से उन पर अच्छे संस्कार डाले जायें। राजा को चाहिए कि अंगरक्षकों का चयन करते समय यह देख लें कि वे विश्वास योग्य हैं या नहीं। भोजन के बारे में भी वह सावधान रहे। महल की देखभाल रखे तथासुरक्षित रहे, क्योंकि सर्वथा सुरक्षित राजा ही प्रजा का कल्याण कर सकता है। उसके वर्ण से यह पता चलता है कि राजा अपने शयनागार में रानी के पास जाते हुए भी निश्चिन्त नहीं हो सकता था, उसे यह आशंका रहती थी कि शैय्या के नीचे कोई शत्रु को नहीं छिपा है, कहीं रानी ने अपने केशों में या वस्त्रों में कोई अस्त्र या विष तो नहीं छिपा रखा है।''

6. युद्ध करना - वर्तमान समय में युद्ध करने के राजा के कर्तव्यों में सम्मिलित करने पर भले ही आपत्ति कीजाए, कौटिल्य ने इसे राज्य का एक प्रमुख कर्तव्य बताया है। उसके अर्थशास्त्र का केन्द्र एक ऐसा विजिगीषु राजा है जिसका उद्देश्य निरन्तर नयी भूमि प्राप्त कर अपने क्षेत्र में वृद्धि करना है। कौटिल्य राज्य की सभी आर्थिक और अन्य संस्थाओं की महत्ता इसी मापदण्ड से तय करता है कि ये राज्य को किस सीमा तक सफल युद्ध के लिए तैयार करती है। नयी भूमि प्राप्त करना अर्थशास्त्र का इतना प्रमुख विषय है कि इस ग्रन्थ के 15 अधिकरणों में से 9 अधिकरम प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में युद्ध से ही सम्बन्ध रखते हैं। उसने राज्य का कार्य बाहरी आक्रमण से रक्षा और साम्राज्य का विस्तार करना बताया है। उसने राजतन्त्र को सार्वभौमिक विजय को अपना लक्ष्य बनाकर अनेकानेक प्रदेशोंको अपने संरक्षण में लाने के लिए प्रयत्नशील रहने का परामर्श दिया।

7. अन्य कर्तव्य - कौटिल्य ने राजा के कर्तव्यों में विदेशी नीति, आन्तरिक सुरक्षा, कृषि, व्यापार, पशुधन संरक्षण और प्राकृतिक संकटों से रक्षा करने, आदि कर्तव्यों का उल्लेख किया है।

मंत्रिपरिषद या अमात्य (Council of Ministers or Amatya)

मन्त्रिपरिषद्

कौटिल्य यह मानता है कि राज्यकार्य बहुत अधिक होते हैं, वे एक साथ नहीं होते, एक स्थान पर नहीं होते, अतः एक राजा अपने सब कार्य अपने आप नहीं कर सकता है। उसे ये सब कार्य अमात्यों या मन्त्रियों से कराने चाहिए। उसने मन्त्रिपरिषद् के निर्माण का कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि राज् का कार्य दूसरों की सहायता से ही सम्पन्न हो सकता है। एक पहिये से राज्य की गाड़ी नहीं चल सकती है, अतः राजा सचिवों की नियुक्ति करें तथा उनकी बात सुने। मन्त्रिपरिषद् में कितने मन्त्री रखे जायें, इस विषय में प्राचीन आचार्यों में बड़ा मतभेद था। मानव, बार्हस्पत्य और औटामस सम्प्रदायों के मत में मन्त्रिपरिषद् में क्रमशः बारह, सोलह और बीस मन्त्री होने चाहिये थे। किन्तु चाणक्य किसी निश्चित संख्या के पक्ष में नहीं थे। उनका यह मत था कि जितनी सामर्थ्य तथा जितनी आवश्यकता हो, उतने ही मन्त्रिपरिषद् में रख लिये जायें।

'अर्थशास्त्र' में इस बात पर बल दिया है कि मन्त्रिपरिषद का कार्य सर्वथा गुप्त रहना चाहिए। उसके मतानुसार मन्त्रिपरिषद् की बैठक के लिए ऐसा स्थान चुना जाये जहाँ पक्षियों तक की दृष्टि न पड़े, जहाँ से कोई भी बात बाहर का आदमी न सुन सके। सुनते है कि शुक, सारिका, कुत्ते आदि तक जीव-जन्तुओं से मन्त्रियों से परामर्श की जाने वाली गुप्त बा4तों का भेद खुल गया था, अतः मन्त्ररक्षा का पूरा प्रबन्ध किये बिना इस कार्य को नहीं करना चाहिए। दि कोई मन्त्र का भेद या रहस्य खोलता है तो उसे जान से मार डालना चाहिए।

राजा अत्यधिक गुप्त रखी जाने वाली बातों के विषय में मन्त्रिपरिषद् की बैठक में सलाह नहीं लेता था, क्योंकि एक बड़ी बैठक में की गयी चर्चा से राजकीय रहस्यों के खुलने की सम्भावना अधिक थी। अतः राजा एक-एक मन्त्री को बुलाकर उससे अलग-अलग सलाह लेता था, इस विषय में उसने एक अन्य परामर्श यह दिया है कि जिस बात पह सलाह लेनी हो, उससे उल्टी बात इशारे से पूछी जाये ताकि किसी मन्त्री को यह ज्ञात न हो सके कि राजा के मन में क्या योजना है और वह वास्तव में किस विषय में उससे परामर्श लेना चाहता है।

बड़ी मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त उस समय एक छोटी उपसमिति होती थी। इसमें तीन याचार विशेष विश्वसनीय, अनुभवी और योग्य मन्त्री रहा करते थे, इन्हें 'मन्त्रिणः' कहा जाता था। आवश्यक जिस बात को कार्य की सिद्धि करने वाली बताती थी, उसे राजा किया करता था। राजा यह अच्छी तरह समझता था कि राज्यकार्य का संचालन मन्त्रियों की सहायता के बिना नहीं हो सकता। जो बात पता नहीं है, उसे ज्ञात करना; जो ज्ञात है, पूर्ण रूप से जानना; यह सब कुछ मन्त्रिपरिषद् के मन्त्र या परामर्श द्वारा ही हो सकता है, अतः जो बुद्धि की दृष्टि से वृद्ध हो उन्हें सचिव या मन्त्री बनाकर उनसे सलाह लेनी चाहिए। राजा को मन्त्रिपरिषद् के बहुमत की ऐसी बात मान लेनी चाहिए, जो उसे कार्यसिद्धि करने वाली प्रतीत हो। जो मन्त्री उपस्थित न हो, उनकी सम्मति पत्र द्वारा उनसे मँगा लेनी चाहिए।

कौटिल्य मन्त्रियों की एक बड़ी विशेषता यह मानता है कि वे सब प्रकार के दोषों, निर्बलताओं से, भ्रष्टाचार, काम, क्रोध, मोह आदि के दुर्व्यसनों से मुक्त हो। उनके मतानुसार मन्त्रीपद पर व्यक्तियों को नियुक्त करने से पहले उनके बारे में विभिन्न पत्रकार की परीक्षाओं द्वारा निश्चित कर लेना चाहिए कि वे 'सर्वोपधाशुद्ध' है। उपधा का अर्थ छल द्वारा या गुप्त रीति से किसी के चरित्र की परीक्षा करना है। यह चार प्रकार की-धर्म, अर्थ, काम और भय-की होती है। धर्मोपधा का अर्थ है भ्रामिक प्रसंग लेकर किसी के चरित्र की परीक्षा करना। उदाहरणार्थ, राजा नये नियुक्त अधिकारियों के धार्मिक चरित्र की परीक्षा इस प्रकार करे। वह अपने पुरोहित को झूठ-मूठ ऊपर से दिखावे के तौर पर इस कारण के आधार पर पदच्युत कर दे कि उसने उस समय अपनी नाराजगी दिखायी थी जब उसे राजा ने किसी चण्डाल को पढ़ाने या यज्ञ कराने के लिए कहा था। इस प्रकार से अपमानित पुरोहित गुप्तचरों की सहायता से नवनियुक्त अधिकारियों के पास जाये और उन्हें कहे कि हमारा यह राजा बड़ा अधार्मिक है, इसे हराकर इस वंश के किसी गुणी व्यक्ति को राजगद्दी पर बिठा दिया जाये। यह बात सुनकर यदि नवनियुक्त मन्त्री और कर्मचारी इस प्रस्ताव को ठुकरा दे तो उन्हें धर्मोपधाशुद्ध या राज भक्ति सम्पन्न समझें। इसी प्रकार वह दिखावटी रूप में सेनापति का अपमान करके उसे पदत्युत कर दे और इस प्रकार अपमानित सेनापति राजा के गुप्तचरों को प्रत्येक मन्त्री के पास भेजकर धन का प्रलोभन देते हुए यह कहलाये कि हमने इस राज्य को नष्ट करने की योजना बनायी है, आप इसमें मेरा साथ दें। यदि यह सुनते ही वे मन्त्री कहें कि हम इस षड्यन्त्र में सम्मिलित नहीं होते तो उन्हें शुद्ध अर्थात् राज भक्ति सम्पन्न समझे। यह अर्थोपधा है, अर्थात् धन का लोभ देने के प्रसंग से चरित्र की परीक्षा करने की विधि है। इसी प्रकार रनिवास की महिलाओं की विश्वासपात्र कोई संन्यासिनी प्रत्येक अमात्य को प्रलोभित करते हुए कहे कि महारानी आप पर आसक्त हैं, आपको उनसे मिलने पर प्रचुर अर्थलाभ होगा। ऐसी बात सुनकर यदि वे इनकार करे तो उन्हें शुद्ध समझना चाहिए। इसे कामोपधा कहते हैं। इसीप्रकार राजा द्वारा बन्दीगृह में डाले जाने वाले तथा भयभीत मन्त्रियों को यदि कोई गुप्तचर राजा के विरूद्ध षड्यन्त्र के लिए प्रेरित करे और वे भयग्रस्त होने पर षड्यन्त्र में सम्मिलित होने से मना करें तो उन्हें शुद्ध समझें। यह भयोपधा है। इस प्रकार विभिन्न अपधाओं अथवा गुप्त परीक्षाओं में सच्चे और खरे उतरने वाले लोगों को ही राजा विभिन्न मन्त्रिपदों पर नियुक्त करें ।

राजदूत

वर्तमान की भाँति प्राचीन भारत में भी राजनीति के क्षेत्र में राजदूत को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता था और उसे महान् गौरव प्राप्त था। रामायण, महाभारत, धर्मशास्त्र और कौटिल्य द्वारा उद्धृत पुरातन विद्वानों की दृष्टि में भी राजदूत प्रतिष्ठित व्यक्तित्व माना गया है। कुछ आचार्यों ने तो राजदूत को 'मन्त्रिपरिषद्' का सदस्य तक स्वीकार किया है। कौटिल्य ने राजदूत को 'राजा का मुख' माना है क्योंकि राष्ट्र में जो राजा का कार्य व्यवस्था और नीति-नियम निर्धारित करना होता है, परराष्ट्र में राजा का वही कार्य राजदूत करता है। राजदूत परराष्ट्र सम्बन्ध में राजा का प्रतिनिधित्व करता है।

मनु ने राजदूतों की योग्यता के सम्बन्ध में कहा है कि वह बहुश्रुत आकार तता चेष्टाओं के विकार से हृदयस्थ भावों को पकड़नेवाला, स्मृतिमान, दर्शनीय, दक्ष, सत्कुलीन, राजभक्त, देश-काल का ज्ञाता, पवित्र आचरण वाला, वाग्मी और समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिये। महाभारत के शान्ति पर्व में भी दूत की यही विशेषताएँ उल्लिखित है। कौटिल्य ने

राजदूत के प्रस्थान करने व आचार-व्यवहार की पद्धति के सम्बन्ध में बहुत सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है। उनके अनुसार राजदूत को प्राण-संकट पैदा हो जाने पर भी अपने राजा के सन्देश को अविकल रूप में अन्य राजा के सम्मुख प्रस्तुत करे। ऐसा ही सन्देश रामायण में अंगद द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

गुप्तचर-विभाग

कौटिल्य गुप्तचर विभाग को बहुत ही आवश्यक विभाग मानता है। इस व्यवस्था द्वारा राजा जनता एवं अपने कर्मचारियों का पूरा नियन्त्रण रखता है। कौटिल्य के द्वारा दी गयी दिनचर्या में हमने देखा है कि राजा प्रातः और सायंकाल एक-एक घड़ी गुप्तचरों को देता है। उनसे समाचार एवं सूचनाएँ प्राप्त करता है एवं उन्हें आगे का कार्य बताता है। ही कार्य राजा इन दो घड़ियों में करता था। गुप्तचर राजा की आँख और कान दोनो होते हैं। राज्य के अन्दर होने वाले षड्यन्त्रों का पता लगाना, जनता पर अधिकारियों द्वारा या धनिकों द्वारा अत्याचार का पता लगाना राजा के लिए बहुत ही आवश्यक था। आज भी यह व्यवस्था प्रत्येक देश में प्रचलित है। इस मामले में रूस और चीन का गुप्तचर विभाग बहुत निपुण एवं संगठित है। यद्यपि सं.रा. अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी व जापान आदि भी अच्छे गुप्तचर रखते हैं पर सोवियत सघ के समान नहीं है।

आचार्य कौटिल्य का मत है कि ''राजा राज्य कर्मचारियों तथा प्रजा की शुद्धता जानने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति करे। धन तथा सम्मान द्वारा उन्हें सदैव सन्तुष्ट रखे।''

(1) कापटिक, (2) उदास्थित, (3) गृहपतिक, (4) वैदेहक, (5) तापस, (6) सत्री, (7) तीक्ष्ण, (8) रसद, (9) परिव्रजिक

चाणक्य ने विष कन्याओं को भी रखने की राजा को सलाह दी थी जो विष खिलाकर पालीजाती थीं। शत्रु के पास उन्हें भेजा जाता था जो उसे अपने रूप, यौवन, हाव-भाव से आकर्षित कर विषय-भोग के लिए तैयार कर लेती है और जब वह भोग करे तो तड़प-तड़प कर मर जाता है।

दण्ड-व्यवस्था

यद्यपि कौटिल्य ने निरंकुश राजतन्त्र की व्यवस्था की बड़ी प्रशंसा की है परन्तु वह राजा को विधि के ऊपर नहीं मानता था। विधि के शासन का राजा संचालक था। वह स्वयं विधि पालन करता था और जनता से कराता था। कौटिल्य ने धर्म राज्य की कल्पना की है। राजा को धर्म के बाद द्वितीय स्थान प्रदान किया गया है। इसका उद्देश्य यही था कि राजा धर्म के विपरीत न चले और वह स्वेच्छाचारी शासक न बन पाये। कौटिल्य ने विधि के 4 स्त्रोत माने हैं- धर्म, व्यवहार, चरित्र एवं राजा। राजा की आज्ञा सर्वश्रेष्ठ है।

दण्ड

कौटिल्य के मतानुसार दण्ड का प्रयोग तीन दृष्टियों से किया जाना चाहिए। प्रथम, समाज रक्षण के लिए एवं द्वितीय, सुव्यवस्था के लिए। दण्ड का उचित प्रयोग निम्नलिखित तीन विद्याओं की रक्षा हित होना चाहिएः (1) त्रयी (ऋक, यजुर एवं साम) - इन तीन वेदों को त्रयी कहा जाता है; (2) आन्वीक्षिकी- सूक्ष्म का अन्वीक्षण करने वाली दर्शन विद्या को आन्वीक्षिकी विद्या कहा जाता है; तथा (3) वार्ता, कृषि, पशुपालन एवं व्यापार द्वारा जीविका सिखाने वाली अर्थ व्यवस्था द्वारा जीविका सिखाने वाली अर्थ विद्या को वार्ता कहा जाता है। कौटिल्य का यह भी कहना है कि दण्ड का प्रयोग इसलिए भी किया जाना आवश्यक है, क्योंकि इसके द्वारा पृथ्वी एवं समाज की रक्षा होती है।

न्याय व्यवस्था

प्राचीन काल से ही हमारे देश में न्यायपालिका की स्वतंत्रता एवं निष्पक्षता पर जोर दिया गया है। कौटिल्य के अनुसार राजा को न्याय के लिये अलग से एक अधिकारी की नियुक्ति करनी चाहिए। न्यायाधीश ब्राह्मण हो तथा वह धर्मशास्त्र एवं विधिशास्त्र का ज्ञाता होना चाहिए। प्रत्येक मामले की सुनवाई की अच्छी व्यवस्था होनी चाहिए। अभियुक्त को अपना पक्ष प्रस्तुत करने एवं सफाई देने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए।

मनु की भाँति कौटिल्य की स्वधर्म पालन पर बहुत जोर देता था। उसका मत था कि स्वधर्म पालन से मनुष्य का लोक एवं परलोक दोनो ही सुधरते हैं। प्रजा अपने-अपने स्वधर्म पालन में तत्पर रहे उसी के लिये न्याय, व्यवस्था, न्यायालय एवं दण्ड व्यवस्था का प्रबन्ध किया जाता है। कौटिल्य के अनुसार राजा को भी धर्मानुसार ही प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। राजा

को न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करनी चाहिए, यही उसका धर्म होता है। राजा को न्याय के मामले में पक्षपात नहीं दिखाना चाहिए, शत्रु हो या मित्र, उसे न्याययुक्त ही दण्ड देना चाहिए।

कौटिल्य ने न्याय-व्यवस्था को दो भागों में विभाजित किया हैः

(1) व्यवहार या धर्मस्थ न्यायालय -आधुनिक भाषा में इसे सिविल कोर्ट कहा जाता है।

(2) कण्टक शोधक न्यायालय- आधुनिक भाषा में यह फौजदारी न्यायालयों के समान थे।

(1) व्यवहार न्यायालय का क्षेत्राधिकार - इस न्यायालय के क्षेत्र में निम्नलिखित मामले आते हैंः

(i) साधारण समझौते सम्बन्धी विवाद।

(ii) दाम्पत्य सम्बन्धी विवाद।

(iii) सम्पत्ति के उत्तराधिकार एवं विभाजन सम्बन्धी विवाद।

(iv) पुत्रों में सम्पत्ति विभाजन सम्बन्धी विवाद।

(v) ऋण विषयक विवाद।

(vi) स्वामी एवं सेवक विषयक विवाद।

(2) कण्टक शोधक न्यायालयों का क्षेत्राधिकार -

(i) शिल्पियों और व्यापारियों की रक्षा और उनसे प्रजा का बचाव।

(ii) अवैधानिक रीतियों से धनोपार्जन करने वाले के विरूद्ध मामले।

(iii) कन्याओं के साथ बलात्कार और स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार के मामले।

(iv) सामाजिक व नागरिक नियमों का भंग करना आदि।

न्यायालयों का गठन

न्यायालयों की रचना के सम्बन्ध में कौटिल्य ने तीन प्रकार के न्यायालयों के संगठन पर प्रकाश डाला हैः

(1) जनपद सन्धि न्यायालय।

(2) संग्रहण न्यायालय।

(3) द्रोणमुख न्यायालय।

जनपद सन्धि न्यायालयों को पंचायती न्यायालों का रूप दिया जा सकता है। ये न्यायालय ऐसे जनपदों या गाँवों की सीमा पर निर्धारित किये जाते थे, जहाँ दो या दो से अधिक जनपद अथवा गाँवों की सीमाएँ मिलती है। संग्रहण न्यायालय 10 ग्रामों के लिये होता था। द्रोणमुख चार सौ ग्रामों के केन्द्रीय स्थानों पर स्थापित होते थे।

कार्य-प्रणाली

कौटिल्य के मतानुसार न्यायाधीश को अपने पास उन विवादों का पूर्ण विवरण रखा चाहिए, जो उसके पास सुनवाई को आते हैं। वादी, प्रतिवादी के नाम, जाति, गोत्र, ग्राम, उनके साक्षियों के नाम और विवाद का विषय आदि का सम्पूर्ण विवरण आदि न्यायाधीश के पास रहे। न्यायाधीश इसके बाद सभी बातों पर विचार कर सत्य-असत्य का सूक्ष्तम विश्लेषण कर ले, फिर पक्षपातरहित न्यायोचित निर्णय दे।

कौटिल्य ने एक न्याायलय में कम से कम 3 न्यायाधीश एवं 3 अमात्य रहने का संकेत दिया है। स्थानीय महत्व के विषयों का बँटवारा 'स्थानीय' न्यायालय में होना चाहिए। ग्रामों के न्यायालय में ग्राम के वृद्धों एवं ग्राम सामन्तों द्वारा मामलों की सुनवाई होनी चाहिए।

साक्षी - कौटिल्य के मतानुसार साला, सहायक, दास, ऋणकर्ता, शत्रु, अपंग एवं राज्य द्वारा दण्डित व्यक्ति साक्षी बनने की पात्रता नहीं रखते हैं।

प्रशासन

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में प्रशासन सम्बन्धी विवरण विस्तृत रूप में दिया है। शासन के विभिन्न भागों को महाभारत, रामचरितमानस और अन्य ग्रन्थों में तीर्थ का नाम दिया गया है। इनकी संख्या 18 बतायी जाती है। कौटिल्य ने भी तीर्थों की संख्या अठारह ही मानी है, जिनका विवरण अग्रलिखित हैः

(1) **मन्त्री-** मन्त्री का कार्य राजा को परामर्श है।

(2) **पुरोहित-** पुरोहित का कार्य राजा को धर्म एवं नीति के विषय में संकेत देते रहना है।

(3) **सेनापति -** सेना का संचालन करने वाला होता है एवं व्यवस्था करता है।

(4) **युवराज-** सामान्यतः राजा का ज्येष्ठ पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी होता है। वह राज्य का अंग है, क्योंकि आगे चलकर उसे राजा बनना है, अतः उसे शासन का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करना आवश्यक है।

(5) **दोवारिक-** राजमहल का निरीक्षक होता है।

(6) **सन्निधाता-** राजकोष का अध्यक्ष होता है।

(7) **दण्डपाल-** सेना की व्यवस्था करने वाला प्रमुख अधिकारी होता है।

(8) **अन्तरवेषिक-** राजा अंगरक्षक सेना का प्रधान होता है।

(9) **प्रशास्ता -** शिल्पियों का प्रधानाधिकारी होता है।

(10) **समाहर्ता-** राज्य की आय का संग्रह करने वाला अधिकारी होता है।

(11) **प्रदेष्टा-** जिले का प्रमुख अधिकारी होता है।

(12) **दुर्गपाल -** राज्य के समस्त दुर्गों की देखभाल करता है।

(13) **पौर-** राजधानी का प्रमुख प्रशासक होता है।

(14) **अन्तपाल-** सीमावर्ती प्रदेशों की रक्षा के लिए उत्तरदायी अधिकारी होता है।

(15) **नायक-** सेना का संचालक होता है।

(16) **व्यावहारिक -** धर्मस्थ न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश होता है।

(17) **कर्मान्तिक-** खानों और उद्योगों का अध्यक्ष होता है।

(18) **मन्त्रिपरिषद् अध्यक्ष-** प्रधानमंत्री होता है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में उपर्युक्त अधिकारियों के अतिरिक्त कुछ अन्य अधिकारियों की नियुक्ति की चर्चा की है; जैसे- गणनिक, पण्डयाध्य, पौतवाध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष, सीताध्यक्ष, गौ-अध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष, नगराध्यक्ष और धर्माध्यक्ष इत्यादी।

कर्मचारियों की नियुक्ति व वेतन

कौटिल्य का मत है कि कर्मचारी की नियुक्ति का आधार योग्यता व कर्तव्यपालन होना चाहिए। प्रजा की दुःख देने वाला राजद्रोही तथा अकर्मण्य को कभी भी सेवारत नहीं करना चाहिए। योग्य, कर्तव्यपरायण, त्यागी, राजभक्त और सेवाभावी कर्मचारी पर ही देश की उन्नति निर्भर होती है।

कौटिल्य यह भी बताता है कि राज्यकर्मचारियों को इतना वेतन मिलना चाहिए जिससे वे उत्साहपूर्वक काम कर सकें। राज्य की आय का 1/4 भाग राज्य के कर्मचारियों के वेतन आदि में व्यय होना चाहिये। उच्च पदाधिकारियों के इतना वेतन मिलना चाहिए कि वह प्रलोभन के जान में न फँस सके या राजद्रोह न कर बैठें। ईमानदारी प्रशासन का मेरूदण्ड है। रिश्वत के लिए वे कठोर दण्ड की व्यवस्था करते हैं। कर्मचारियों की पूर्ण जिम्मेदारी कौटिल्य ने राजा पर डाली है। उनका मत है कि योग्य राजा के सम्पर्क में रहने वाला कर्मचारी भी योग्य हो जाता है।

कोष एवं अर्थ व्यवस्था

कौटिल्य अर्थव्यवस्था को राज्य के लिए अति आवश्यक समझता था। राजकोष राज्य के लिए आधार-स्तम्भ के समान है। राकाजकोष का अध्यक्ष समाहर्ता बताया गया है। शमाहर्ता का काम है कि कोष परीक्षित सुवर्ण मुद्राओं को ग्रहण करना। इसी प्रकार शुद्ध और नये अनाजों के गोदामों (कोठारों) में संग्रह की व्यवस्था करना। गुप्तचरों द्वारा कोष सम्बन्धी जानकारी राजा को प्राप्त करते रहना चाहिए। चोरी करने वाले को दुगुनी सजा दी जानी चाहिए और यदि कोषाध्यक्ष कोष का अपहरण करे तो उसे मृत्युदण्ड दिया जाना चाहिए।

राजस्व - कौटिल्य ने समाहर्ता का दूसरा कर्तव्य यह भी बताया है कि वह दुर्ग, राष्ट्र, खान, सेतु, वन, ब्रज और विणक पथ आदि द्वारा राष्ट्रीय कोष के लिए धन एकत्र करे। उसका सतत् प्रयास यह रहे कि कोष की अभिवृद्धि होती रहे तथा व्यय कम होता रहे।

आवर्तक- यह व्यय है जो प्रतिदिन या प्रतिमास किया जाता है। इसे रेकरिंग भी कहा जाता है।

अनावर्तक - वह व्यय दैनिक, पाक्षिक तथा मासिक न होकर वार्षिक होता है, इसे नॉन-रेकरिंग कहा जा सकता है। कौटिल्य आय-व्यय को ''आय शरीर'' तथा ''व्यय शरीर'' नाम देता है।

व्यय शरीर को देव पूजा, पितृ पूजा, दान, स्वस्तिवाचन इत्यादि धार्मिक कार्यों पर व्यय; राजमहल के अन्तःपुर, रसोई आदि पर व्यय; कारखाने और मजदूरों पर व्यय; घोड़ा, रथ, हाथी और सेना पर व्यय, गाय, बैल, आदि उपयोगी पशुओं पर व्यय; लकड़ी, चारा आदि के संग्रह पर व्यय; आदि भागों में विभाजित करता है।

गणनिक- कौटिल्य ने महालेखापाल के पद का भी सृजन किया है। हिसाब विभाग के अध्यक्ष को वह गणिनिक की संज्ञा देते हैं। जिसका कार्य आय-व्यय का समुचित निरीक्षण करना तथा उसे व्यवस्थित ढंग से रखना था। वित्तीय वर्ष का अन्त आषाढ़ माह माना है। प्राप्त आय को सिद्ध, व्यय को करणीय और बचत को नीवी का नामकरण किया है।

स्थानीय शासन

कौटिल्य ने स्थानीय शासन व्यवस्था पर काफी ध्यान दिया है। वह राजा द्वारा गोप, स्थानिक और नम्बरदार तीन अधिकारियों की नियुक्ति का समर्थन करता है।

(1) **गोप-** पांच या दस ग्रामों तक का अधिकारी गोप कहलाता था। उसका काम ग्राम कीसीमा निर्धारित करना, भूमि के भिन्न-भिन्न भागों को कृषि योग्य बनाना। करदाताओं और कर न देने वालों कीसूचियाँ बनाना आदि था।

(2) **स्थानिक -** जिले के समस्त गोप स्थानिक के अधीन रहते हैं। वह इनके कार्यों का निरीक्षण करता है। स्थानिकों के ऊपर प्रदेष्टा नामक अधिकारी होता है।

(3) **नगराध्यक्ष -** प्रत्येक नगर का अधिकारी नगराध्यक्ष होता है। वह नगर की देखभाल करता है । नगर में धर्माध्यक्षों की व्यवस्था भी थी। ये नगर में धर्मस्थानों की देखभाल एवं व्यवस्था करते थे। कौटिल्य विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती थे।

कौटिल्य का महत्व और मूल्यांकन

भारतीय राजनीतक विचारधारा में कौटिल्य अपनी कई विषेषताओं और प्रभावों के कारण असाधारण महत्व रखता है। उसकी पहली विशेषता अर्थशास्त्र विषयक सभी विषयों का सुव्यवस्थित, क्रमबद्ध और विशद् विवेचन करना था। उससे पहले अर्थशास्त्र के अनेक आचार्य हो चुके थे, इनके विभिन्न विषयों में विभिन्न मत थे, इन सब मतों का आलोकन एवं मन्थन करके विष्णुगुप्त ने इसके सभी विषयों का सांगोपांग निरूपण करने वाला एक ऐसा शास्त्र बनाया जो शीघ्र ही अपनी उत्कृष्टता के कौरण सर्वमान्य हो गया।

दूसरी विशेषता राज्य के उच्च एवं साधारण कर्मचारियों को भ्रष्टाचार से मुक्त रखना है। पहले यह बताया जा चुका है कि कौटिल्य ने मन्त्रियों तथा अमात्यों के पदों पर ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त करे का परामर्श दिया है, जिनके आचरण की परीक्षा अच्छी तरह से कर ली गयी हो तथा जिनके बारे में यह निश्चित हो चुका हो कि वे सब प्रकार के प्रलोभनों, व्यसनों और बुराइयों से मुक्त (उपधाशुद्ध) हैं। इसी प्रकार सरकारी कर्मचारियों की घूँसखोरी की प्रवृत्ति को वह अच्छी तरह समझता था। उसने लिखा है कि जिस प्रकार पानी में रहने वाली मछलियों के बारे में यह पता नहीं लगता कि वे कब पानी पीती है, उसी प्रकार राजकर्मचारी कब घूँस लेते हैं, इसका पता लगाना कठिन है। फिर भी उसने इनके भ्रष्टाचार को दूर करने की महत्ता और उपायों की ओर ध्यान खींचा है तथा राजा को इस विषय में सदैव सावधान रहने का परामर्श दिया है।

तीसरी विशेषता उसके कानून सम्बन्धी विचार हैं। इस क्षेत्र में उसकी पहली बड़ी बात कानून के शासन (Rule of Law) के विचार को महत्व देना है। वह राजतन्त्र का कट्टर सर्म्थक होते हुए भी राजा को कानून से ऊपर नहीं समझता है। पहले यह बताया जा चुका है कि राजा यदि धर्म से किसी व्यवस्था का उल्लंघन करता है, दण्ड न देने योग्य व्यक्ति को दण्ड देता है तो राजा को इसका तिगुना दण्ड प्रायश्चित के रूप में वरूण देवता को देना पड़ता है। इस क्षेत्र में उसकी एक नवीन मौलिक देन राजा की आज्ञा को भारतीय साहित्य में पहली बार विभिन्न प्रकार के कानूनों में तथा अदालती मामलों में सर्वोच्च स्थान देना था। वह कानून के चार प्रकारों- धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन- में राजशासन में सबसे प्रबल बताता है। इस विषय में श्री उपेन्द्रनाथ घोषाल ने लिखा हैः ''हमारे कानूनी तथा राजनीतिक विचारों के इतिहास में, कानूनी मामलों में राजा के आदेश का अन्य सब कानूनों की अपेक्षा अधिक प्रबल होने का संकेत बड़ा महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह पहली बार सुस्पष्ट और असंदिग्ध रूप से कानूनी दृष्टि से राजा की सर्वोच्च प्रभुता रखने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।'' इस क्षेत्र में तीसरी बात विभिन्न प्रकार के कानूनों के संग्रह और संकलन पर बल देना था। कौटिल्य ने दायभाग तथा बंटवारे के

सम्बन्ध में यह व्यवस्था की है कि राजा इस विषय में अपना निर्णय विभिन्न प्रदेशों, जातियों, संघों, श्रेणियों, संघों तथा गाँवों के परम्परागत रीति-रिवाजों तथा धर्मों को रजिस्टरों में लेखनबद्ध करा लिया जाये। यह व्यवस्था हमें भारत में ब्रिटिश शासन स्थापित होने पर विभिन्न प्रान्तों के रिवाजों या दस्तूरों के संग्रह करने का तथा इनके अनुसार शासन करने का स्मरण कराती है। राजा द्वारा नये जीते प्रदेशों में प्रचलित पुराने रिवाजों और नियमों के बारे में भी कौटिल्य ने इसी प्रकार की व्यवस्था की । इन व्यवस्थाओं से कौटिल्य ने कानून को स्पष्टता और स्थिरता प्रदान की है।

चौथी विशेषता राजा की शिक्षा पर बल देना है। वह राजतन्त्र का समर्थक था, यह राजा के व्यक्तित्व पर आधारित था, अतः उसने इसकी सफलता के लिए राजा को सब दृष्टियों से योग्य बनाना आवश्यक समझा है तथा उसकी बौद्धिक, मानसिक तथा नैतिक शिक्षा की विस्तृत व्याख्या की है। कौटिल्य जैसी राजकुमारों के प्रशिक्षण की व्यवस्था हमें उस समय के अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलती है।

पाँचवी विशेषता उसके आर्थिक विचार तथा राज्य द्वारा आर्थिक क्षेत्र पर स्थापित किया जाने वाला कठोर नियंत्रण और अनेक उद्योगों एवं कार्यों को करना तथा कल्याण राज्य (Welfare State) को मानना है। अनेक विद्वानों ने कौटिल्य की इन व्यवस्थाओं में राजकीय समाजवाद (State Socialism), समृद्धवाद (Collectivism) तथा अधिनायकवाद (Totalitarianism) की झलक देती है। एक जर्मन ब्रेलोएर (Breloer) ने कौटिल्य को आर्थिक योजना (Economic Planning) के विचार का जन्मदाता कहा है। इन सब विचारों में काफी अत्युक्ति है। समाजवाद और समूहवाद 19वीं शताब्दी में यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न होने वाली विचारधाराएँ है, चौथी शताब्दी ई.पू. में कौटिल्य के सम में ये परिस्थितियाँ नहीं थीं, अतः उस समय समाजवादी विचारों की कल्पना करना ठीक नहीं है। इसी आधार पर विनयकुमार सरकार ने उपर्युक्त जर्मन विद्वान के मत का खण्डन करते हुए कहा हैः ''नियोजन (Planning) का विचार प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर 1918 के बाद विकसित हुआ है, इसे चौथी शताब्दि ई.पू. में कैसे ले जाया जा सकता है?

नियोजन के आधुनिक विचार का मूल तत्व यह है कि कुछ वर्षों के लिए आर्थिक विकास का एक कार्यक्रम बनाया जाये, विभिन्न क्षेत्रों में विकास के लिए लक्ष्य तथा साधन और प्राथमिकताएँ निश्चित करके सब कार्य किये जायें और प्रतिवर्ष प्र्गति का सिंहावलोकन होता रहै। 'अर्थशास्त्र' में हमें ये सब बातें नहीं मिलती हैं। फिर भी हमें इनमें से कुछ बातें दिखायी देती हैं। पहली बात बजट तथा प्रत्येक विभाग के आर्थिक कार्यों से होने वाली राजकीय आमदनी की है। विभिन्न विभागों पर राज्य का कड़ा नियन्त्रण इस दृष्टि से रखा गया है कि ये राज्य को निश्चित आमदनी देते रहें। नियोजन के आधुनिक सिद्धान्त में विकास की प्रक्रिया पर बल दिया जाता है जबकि 'अर्थशास्त्र' में आर्थिक नियंत्रण पर।

किन्तु फिर भी, 'अर्थशास्त्र' में हम कल्याणकारी राज्य की रूपरेखा पाते हैं। राजा का आदर्श और लक्ष्य प्रजा के सुख में अपना सुख तथा प्रजा के हित में अपना हित समझता है। वह समाज के निर्बल वर्गों- अनाथों, विधवाओं का भरण-पोषण करता है। कारीगरों और मजदूरों की रक्षा की व्यवस्था करता है। साथ में सभी प्रकार`क समाज-विरोधी तत्वों से जनता की रक्षा करने के लिए कानून बनाता है। संक्षेप में, कौटिल्य के अद्वितीय विचारों के कारण भारतीय राजनीतिक विचारधारा में विशिष्ट स्थान है।

****

गौतम बुद्ध

एक प्रसिद्ध आधुनिक बौद्ध भिक्षु से एक पत्रकार ने पूछा कि यदि कोई आपके सामने ही बुद्ध के उपदेशों के संग्रह त्रिपिटक को टॉयलेट में डाल कर फ्लश चला दे तो आप पहला काम क्या करेंगें? उन्होंने उत्तर दिया- 'प्लंबर को बुलाऊंगा कि कही टॉयलेट जान न हो जाए।' पत्रकार घंटा भर हंसता रहा और आश्चर्यचकित भी। यह सहनशीलता, धैर्य और दुश्मन के प्रति भी ऐसा क्रोध एवं द्वेष से रहित भाव देखकर बुद्ध का अस्तित्व प्रतिमाओं, मंदिरों और पुरोहिताई का मोहताज न तो उनके समय में था, न आज है। बौद्ध धर्म का विस्तार विश्व में जहां-जहां भी हुआ, इस संदेश के साथ हुआ कि बौद्ध चिंतन पद्धति अपनाने के लिए व्यक्ति को किसी संस्कृति, समाज, नस्ल या जातीय समूह का अनिवार्य हिस्सा बनने की बाध्यता नहीं है।

दरअसल बुद्ध की चिंतन धारा एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति तक सहजता पूर्वक प्रवाहित होती रही है क्योंकि इसका आग्रह कभी भी धर्म संबंधी आचरणों पर न होकर मन के उत्तरोत्तर विकास और शुद्धि पर रहा है। न तो बौद्ध धर्म के नीतिशास्त्र में और न ही उसकी साधना पद्धति शमथ और विपस्सना में रत्ती भर भी संप्रदायवाद की गंध है।

मनुष्य अपने अस्तित्व तथा विकास के लिए कितने ही अन्य अस्तित्वों पर निर्भर होता है। जितने लोगों को आप दुःखी करोगे, उतने ही आपको दुःखी करने का मौका ढूँढेंगे और जितने लोगों का दुःख आप दूर करेंगे, उतने ही ज्यादा लोग आपकी मदद करेंगे। स्वर्थी और दुष्ट व्यक्ति हर समय आशंकित रहते हैं। स्वार्थ और लालच दुःखों की जड़ें हैं। प्रबुद्ध व्यक्ति को प्रज्ञा, उपेक्षा, करूणा तथा मुदिता का संवर्द्धन करना चाहिए। बुद्ध कहते थे कि जन्म-विकास-क्षण और मृत्यु ये जैविक प्रक्रिया के वैश्विक तथा अनिवार्य अंग हैं। बुढ़ापा और मृत्यु के लिए तैयार रहना चाहिए तथा लालच को रोक दिया तो दुःख भी निरस्त हो जाएँगे। यही बुद्ध प्रणीत धम्म है।

बुद्ध के अनुसार धम्म यह है - जीवन की पवित्रता बनाए रखना, - जीवन में पूर्णता प्राप्त करना, -निर्वाण प्राप्त करना, -तृष्णा का त्याग, - यह मानना कि सभी संस्कार अनित्य हैं, - कर्म को मानव के नैतिक संस्थान का आधार मानना

बुद्ध के अनुसार क्या अ-धम्म है- -परा-प्रकृति में विश्वास करना, - आत्मा में विश्वास करना, -कल्पना-आधारित विश्वास मानना, - धर्म की पुस्तकों का वाचन मात्र।

बुद्ध के अनुसार सद्धम्म क्या है- (1) जो धम्म प्रज्ञा की वृद्धि करे,जो धम्म सबके लिए ज्ञान के द्वार खोल दे, जो धम्म यह बताए कि केवल विद्वान होना पर्याप्त नहीं है, जो धम्म यह बताए कि आवश्यकता प्रज्ञा प्राप्त करने की है।

(2) जो धम्म मैत्री की वृद्धि करे, जो धम्म यह बताए कि प्रज्ञा भी पर्याप्त नहीं है, इसके साथ शील भी अनिवार्य है, जो धम्म यह बताए कि प्रज्ञा और शील के साथ-साथ करूणा का होना भी अनिवार्य है, जो धम्म यह बताए कि करूणा से भी अधिक मैत्री की आवश्यकता है।

(3) जब वह सभी प्रकार के सामाजिक भेदभावों को मिटा दे, जब वह आदमी और आदमी के बीच की सभी दीवारों को गिरा दे, जब वह बताए कि आदमी का मूल्यांकन जन्म से नहीं कर्म से किया जाए, जब वह आदमी-आदमी के बीच समानता के भाव की वृद्धि करे।

मनुष्य जिन दुःखों से पीडित है, उनमें बहुत बड़ा हिस्सा ऐसे दुःखों का है, जिन्हें मनुष्य ने अपने अज्ञान, गलत ज्ञान या मिथ्या दृष्टियों से पैदा कर लिया है। उन दुःखों का शमन अपने सही ज्ञान द्वारा ही सम्भव है, किसी के आशीर्वाद या वरदान से उन्हें दूर नहीं किया जा सकता। सत्य या यथार्थता का ज्ञान ही सम्यक ज्ञान है। अतः सत्य किसी शास्त्र, आगम या उपदेशक द्वारा ज्ञात हो गया है तो उसकी खोज नहीं। अतः बुद्ध ने अपने पूर्ववर्ती लोगों द्वारा या परम्परा द्वारा बताए सत्य को नकार दिया और अपने लिए नए सिरे से उसकी खोज की। बुद्ध स्वयं कहीं प्रतिबद्ध नहीं हुए और न तो अपने शिष्यों को

उन्होंने कहीं बांधा। उन्होंने कहा कि मेरी बात को भी इसलिए चुपचाप न मान लो कि उसे बुद्ध ने कही है। उस पर भी सन्देह करो और विविध परीक्षाओं द्वारा उसकी परीक्षा करो। जीवन की कसौटी पर उन्हें परखो, अपने अनुभवों से मिलान करो, यदि तुम्हें सही जान पडे तो स्वीकार करो, अन्यथा छोड़ दो।यही कारण था कि उनका धर्म रहस्याडम्बरों से मुक्त, मानवीय संवेदनाओं से ओतप्रोत एवं हृदय को सीधे स्पर्श करता था।

बुद्ध से जुड़ने के लिए पहनावे, बाल, दाढी, या भाषा आदि किसी भी चीज की बाध्यता नहीं रही है। यह अन्य धर्मों के प्रति इतना उदार रहा है कि जिस किसी भी भू-भाग में इसका प्रवेश हुआ, वहां के स्थानीय धर्मानुयायियों ने इसे कभी भी अपने लिए खतरे के तौर पर महसूस नहीं किया और नतीजे के तौर पर बुद्ध धर्म से तादात्म्य बिढा कर वह तिब्बती बौद्ध धर्म बन गया, शिंतों से आदान-प्रदान कर जापानी बौद्ध धर्म और ताओ और कन्फ्यूशियस धर्मों से संगति बिठाकर चीनी बौद्ध धर्म बन गया। यह स्वभाव बौद्ध धर्म की बुनियाद है जिसमें बुद्ध स्वयं त्रिपिटक कहते हुए दिखायी पडते हैं कि 'बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनमें अन्य मतावलंबी मुझसे सहमत नहीं हो सकते हैं और बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनमें संभवतः मैं उनसे सहमत नहीं होऊ। अतः मैं उनसे आग्रह करता हूं कि आइये जिन बातों में हमएक -दूसरे से सहमत नहीं है उन बातों को किनारे रख दें और जिन बातों में हमएक-दूसरे से सहमत हैं उन पर एक साथ मिल कर विचार करें, 'वार्ता करें,' बुद्ध के इन्हीं विचारों का प्रभाव सम्राट अशोक द्वारा लिखवाये गये शिलालेख संख्या 12 में दिखायी पडता है जिसमें लिखा है, 'व्यक्ति को अपने ही धर्म मात्र का आदर और दूसरे धर्मों की निंदा नहीं करनी चाहिए, बल्कि उसे दूसरे धर्मों को भी इस या उस कारण से सम्मान देना चाहिए।ऐसा करके व्यक्ति अपने ही धर्म की उन्नति नहीं करता, बल्कि दूसरे धर्मों की भी सेवा करता है। जो मात्र अपने धर्म की प्रशंसा और अन्य धर्मों की निंदा करते हैं और सोचते हैं कि ऐसा करके मैं अपनेधर्म की प्रगति कर रहा हूं, वे वास्तव में ऐसा करके अपने ही धर्म की जड़ खोद रहे हैं, उसे नुकसान पहुंचा रहे हैं। इसलिए मित्रता का भाव ही सर्वोत्तम है। सभी को दूसरे के विचारों को भी सुनने की इच्छा रखनी चाहिए।'

बुद्ध का मुख्य आग्रह धर्म के मानव जीवन में व्यावहारिक तौर पर सार्थक भूमिका निभाने की शिक्षा देने पर रहा। बुद्ध अपने धर्म की उपमा एक बेड़े से देते हुए अपने शिष्यों को एक कथा सुनाते हैं, 'एक बार पानी में डूबते हुए एक व्यक्ति को एक बेडे का सहारा मिल गया।बेडे की सहायता से उस पार जाने के बाद उस व्यक्ति के मन में यह भावना आयी की इस बेडे ने उसका बडा उपकार किया है, इसलिए उसे इस बेडे के साथ घर ले जाना चाहिए। घर दूर था, लक़डी का बेडा पानी में भीग कर बेहद भारी हो चुका था, और वह व्यक्ति पसीने से तर-बतर उसे ढोने की हालत में न होते हुए भी कोशिश में लगा हुआ था। उसी समय उसकी मुलाकात बुद्ध से होती है। पूरा वृतांत सुनने के बाद बुद्ध उससे कहते हैं कि मेरे भाई! इस बेडे की जो भूमिका थी वह पूरी हुई। अब उसे ढो कर ले जाने की कोशिश में तो तुम ही मर जाओगे। इसलिए अब ऐसा करने का कोई औचित्य नहीं बैठता । इस कथा को सुनाने के बाद बुद्ध कहते हैं कि मेरा धर्म भी बेडे के समान है, पार पहुंचाने के लिए, ढोने के लिए नहीं। आधुनिक संदर्भ में 'पार पहुंचना' मानवीय मूल्यों के चरण उत्कर्ष के तौर पर लिया जाना चाहिए।

बुद्ध के अनुसार यह किसी भी व्यक्ति या समाज के विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है कि उसमें यह विवेक हो कि उसके लिए प्राथमिक मुद्दे क्या हैं? समाधान कितना ही संतोषजनक क्यों न हो, यदि मुद्दा ही अप्रासंगिक है, तो वह समाज को पीछे की तरफ ही ढकेलेगा। बुद्ध के दर्शन के आईने में यह विचार ज्यादा प्रासंगिक है कि भारतीय समाज के सामने लक्ष्य क्या होना चाहिए?

युद्ध और बुद्ध : बौद्ध धर्म वास्तव में धर्म से ज्यादा जीवन को एक खास लय में जीने का तरीका है। आज के लहूलुहान समय में अहिंसा, करूणा, शांति, सभी के साथ भाईचारे का बुद्ध का संदेश कहीं ज्यादा प्रासंगिक हो गया है। ऐसे समय में जब आतंकवादी बुद्ध की धरती बोधगया तक को अपने निशाने पर लेने से नहीं हिचक रहे, बुद्ध को बचाने का रास्ता 'बुद्ध शरणं गच्छामि' के मंत्र में ही छिपा है।

दुनिया आज जिन समस्याओं का सामना कर रही है, उसकी जड में इन मूल्यों से दूर चला आना है। वह मानवता हमारी नजरों से ओझल हो गयी हैं, जो हम सभी को परिवार में बांधती है। बुद्ध को भले 2600 वर्ष पहले बोधगया में ज्ञान की प्राप्ति हुई हो, लेकिन शिक्षा आज भी मौजूद है। दलाई लामा ने बुद्ध की शिक्षा को सामाजिक मूल्यों से जोड़ा था, जिसके मुताबिक साथी मानव की सेवा करना ही असल धर्म है। बुद्ध का अहिंसा में विश्वास की तुलना संभवतः सिर्फ महात्मा गांधी से की जा सकती है। बुद्ध अपने एक उपदेश में कहते हैं कि दुनिया से घृणा को घृणा से नहीं बल्कि सिर्फ प्रेम से खत्म किया जा सकता है। यह एक पुरातन नियम है।यही कारण है कि इतिहास में कई बौद्धों ने किसी भी परिस्थिति में हिंसा के मार्ग को जायज नहीं माना है।

बौद्ध सिद्धांत हालांकि आत्मरक्षा को जायज मानता है, लेकिन आत्मरक्षा में भी किसी की हत्या को उचित नहीं ठहराता। बौद्ध धर्म को मानने वाले देशों को इस सिद्धांत की वजह से ऐतिहासिक दुविधा का भी सामना करना पडा है।उनके लिए यह निर्णय करना कठिनरहा है कि आखिर ऐसा कैसे किया जा सकता है। लेकिन फिर भी कमोबेश बौद्धों की आस्था अहिंसा पर बनी रही है।हांलांकि ऐसे भी उदाहरण हैं, जब इस सिद्धांत से विचलन दिखायी दिया है।कहा जाता है कि 14वीं सदी में मंगोलों को चीन से बाहर हटाने के लिए बौद्ध लडाकों ने युद्ध का नेतृत्व किया था। जापान में बौद्ध सन्यासी सामुराई लडाकों को प्रशिक्षित किया करते थे। 20वीं सदी में कुछ जैन गुरूओं ने जापान के विस्तारवाद का समर्थन किया था। श्रीलंका में भी सिंहली बौद्ध अहिंसा के इस पथ से विचलित होते दिखे हैं। जाहिर है बौद्ध धर्म का अर्थ सिर्फ मजहब से नहीं है, उन जीवन मूल्यों से है, जिसका संदेश बुद्ध ने दिया था। इन संदेशों को जीवन में उतारने वाला हीअसल बौद्ध है। वही बुद्ध है। फिर वह चाहे वह किसी भी मजहब या जाति का हो। बौद्ध धर्म मन को शुद्ध करने पर बल देता है। इसके अनुसार सभी गलत कार्य मन में ही उपजते हैं। मन परिवर्तित हो जाये, तो गलत कार्य खुद-ब-खुद समाप्त हो जायेंगे। यही बात गांधी भी किया करते थे।

भगवान बुद्ध के आविर्भाव और निर्वाण का काल-निर्धारण निश्चित रूप से नहीं हो सका है। बौद्ध परम्परा एकमत से 544 ई.पू. को बुद्ध-निर्वाण का वर्ष मानती है, किन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार उनका निर्वाण 486 ई.पू. के आसपास होना चाहिये। उनकी आयु लगभग 80 वर्ष रही। अतः उनके जन्म का वर्ष बौद्धपरम्परानुसार लगभग 624 ईस.पू. तथा अन्य विद्वानों के अनुसार 566 ई.पू. के आसपास होना चाहिये। किन्तु यह समुचित रूप से सिद्ध है कि भगवान बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण (गृहत्याग एवं परिव्राजकत्व) से लेकर महापरिनिर्वाण तक का समय छठी शती ईसा पूर्व है। सिद्धार्थ गौतम का जन्म शाक्यगणाधिप सूर्यवंशी क्षत्रिय शुद्धोदन की भार्या महामाया देवी के गर्भ से कपिलवस्तु के पास लुम्बिनी वन में हुआ। उनके जन्म के कुछ दिन बाद उनकी माता का देहावसान हो गया। उनका पालन-पोषण उनकी मौसी, जो उनकी विमाता भी थीं, महाप्रजापति गौतमी ने किया। उनका विवाह अत्यन्त रुपगुणशीलवती राजकुमारी यशोधरा से हुआ, जिससे उन्हे राहुल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वृद्ध, रोगी, मृतक और परिव्राजक- ये चार दृश्य देखकर उन्हें वैराग्य हुआ। संसार की दुःखरूपता औरनश्वरता के चिन्तन से वैराग्य की तीव्रता का अनुभव हुआ। उन्होंने जाना कि विश्व के क्षणिक और दिखावटी सुख का आधार चिरस्थायी वेदना है तथा भोग-विलास की क्रत्रिम स्मितिरेखा के नीचे आधि, व्याधि, जरा और मरण की भीषण व्यथा का उपहास निहित है। दुःख निरोध और अनन्त सुख की प्राप्ति का मार्ग खोजने का दृढ़ निश्चय करके उन्होंने उन्तीस वर्ष की भरी युवावस्था में शाक्य गणराज्य के वैभव और समृद्धि को ठुकरा दिया तथा अपनी अनुपम सुन्दरी, सुशीला और गुणवती गृहणी का अनवद्य प्रेम एवं दम्पत्ति-स्नेह-ग्रन्थि-भूत नवजात शिशु का प्रबल आकर्षण भी उन्हें महाभिनिष्क्रमण से न रोक सके। छः वर्षों की कठिन तपस्या एवं साधना के बाद लगभग पैंतीस वर्ष की आयु में गया के समीप बौधिवृक्ष के नीचे मार-विजय करके अज्ञान के अन्धकार को दूर करने वाले ज्ञान-सूर्य का साक्षात्कार करके वे बोधिसम्पन्न 'सम्यक सम्बुद्ध' बने। फिर वे वाराणसी के पास 'ऋषि-पत्तन मृगदाव' (सारनाथ) गये और वहाँ पाँच भिक्षुओं को उन्होंने अपना शिष्य बनाकर अपने साक्षात्कृत सत्य का सर्वप्रथम उपदेश दिया, जिसे 'धर्मचक्र प्रवर्तन' की संज्ञा दी गई है। यही से बौद्धधर्म का प्रारम्भ हुआ। तदन्तर भगवान् बुद्ध आधुनिक पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार से कुछ भू-भाग में लगभग पैंतालीस वर्षों तक अनवरत चारिका (भ्रमण एवं भिक्षाचर्या) करते रहे तथा बिना किसी भेदभाव के धर्मोपदेश देते रहे एवं भिक्षु-संघ बनाते रहे। अन्त में मल्लगणराज्य की राजधानी कुशीनगर (कसया , जिला देवरिया, उ.प्र.) के पास लगभग अस्सी वर्ष की आयु में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। यह विचित्र संयोग है कि भगवान बुद्ध का जन्म, बोधि-प्राप्ति एवं निर्वाण ये तीनों घटनाएँ एक ही दिन वैशाख पूर्णिमा को हुई। बौद्ध धर्म सारे भारत में फैला और अपनी जन्मभूमि की सीमाएँ लाँघ कर श्रीलंका, बर्मा थाईलैंड, कम्बोडिया, मलय-एशिया, हिन्द-एशिया, मध्य-एशिया, नेपाल, तिब्बत, चीन, मंगोलिया, कोरिया तथा जापान तक गया एवं विश्व-धर्म कहलाने का पात्र बना। भारत में लगभग डेढ़ हजार वर्षों तक व्याप्त रह कर तथा अनेक महान् दार्शनिक एवं सन्त पुरुषों द्वारा संवर्धित होकर अन्त में काल-चक्र से अपनी जन्मभूमि से लुप्त हुआ। आधुनिक समय में फिर उसका पुनर्जन्म भारत में हो रहा है। यद्यपि अब सिद्धार्थ गौतम नहीं रहे, तथापि भगवान बुद्ध अमर है; यद्यपि बौद्ध धर्म अब भारत में व्यापक नहीं रहा, तथापि उसके मूल-सिद्धान्त आज भी हिन्दू धर्म में सुरक्षित है।

भगवान बुद्ध के उपदेश मौखिक थे और उनके शिष्य उन्हें याद रख कर उनका पाठ किया करते थे। बुद्ध-निर्वाण के कुछ सप्ताह बाद ही राजगृह में प्रथम बौद्ध संगीति (सम्मेलन) हुई जिसमें विनयपिटक (आचार-सम्बन्धी ग्रन्थ) और सुत्तपिटक (बुद्ध के उपदेश) के प्राचीनतम अंश संकलित किये गये। लगभग सौ वर्षों के बाद वैशाली में द्वितीय बौद्ध संगीति हुई जिसमें

विनय और सुत्त पिटकों का विस्तार किया गया तथा अभिधम्मपिटक (दार्शनिक ग्रन्थ) के कुछ अंश संकलित हुए। इस संगीति में भिक्षुसंघ थेरवाद और महासांघिक इन दो दलों में विभक्त हो गया जो आगे चल कर हीनयान और महायान कहलाये। लगभग 249 ई.पू. सम्राट अशोक द्वारा पाटलिपुत्र में आहूत तृतीय बौद्ध संगीति में तेररादियों द्वारा विनय, सुत्त (सूत्र) और अभिधम्म (अभिधर्म) नौमक पालि तिपिटक (त्रिपिटक) का संकलन हुआ। पालि के इन तीनों पिटकों के अशोक के पुत्र (या भाई) महेन्द्र सिंहलद्वीप (श्रीलंका) बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ ले गये थे। बाद में वहीं प्रथम शती ई.पू. में सिंहल-नरेश वट्टामिणी के समय में इसे सर्वप्रथम लख-बद्ध किया गया। यही पालि तिपिटक अब उपलब्ध है और भगवान् बुद्ध के दर्शन और धर्म को जानने का उपलब्ध सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ-संग्रह है। यह मानना असंगत नहीं होगा कि विनयपिटक और सुत्तपिटक में भगवान् बुद्ध के उपदेशों का संग्रह उपलब्ध है, यद्यपि वह कहीं-कहीं थेरवादियों की कल्पनाओं में घिरा हुआ है। भारत में तृतीय संगीति के बाद से सर्वास्तिवाद थेरवाद से अलग हो गया तथा थेरवाद का ह्यास और सर्वास्तिवाद का विकास होने लगा। कनिष्क के समय में प्रथम या द्वितीय शती में चतुर्थ बौद्ध संगीति में सर्वास्तिवाद के त्रिपिटक का निर्धारण हुआ। सर्वास्तिवाद का त्रिपिटक संस्कृत में था जो मूल में नष्ट हो गया है। इसके कुछ अंश मिले हैं। चीनी अनुवाद में पूरा प्राप्य है। सर्वास्तिवाद को वैभाषिक भी कहते हैं। बाद में इसी की एक शाका सौत्रान्तिक नाम से, कुछ मतभेदों के कारण अलग हो गई। थेरवाद (स्थविरवाद), वैभाषिक (सर्वास्तिवाद) और सौत्रान्तिक, ये हीनयान के तीन प्रमुख सम्प्रदाय है। हीनयान के विरोध में महायान का उदय हुआ। माध्यमिक (शून्यवाद), योगाचार (विज्ञानवाद) और स्वतंत्र-योगाचार या स्वतन्त्र-विज्ञानवाद, ये महायान के तीन प्रमुख सम्प्रदाय हैं। इस प्रकार बौद्ध दर्शन के छह मुख्य सम्प्रदाय हैं।

चार आर्यसत्य और आर्य अष्टाङ्ग्कि मार्ग

दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध और दुःख-निरोध-मार्ग, ये चार बुद्धोपदिष्ट आर्यसत्य हैं। प्रथम सत्य के अनुसार संसार दुःखमय है। यह लौकिक अनुभव से सिद्ध है। संसार सर्व पदार्थ अनित्य और नश्वर होने के कारण दुःखरूप है। लौकिक सुख भी वस्तुतः दुःख से घिरा है। इस सुख को प्राप्त करने के प्रयास में दुःख है, प्राप्त हो जाने पर, यह नष्ट न हो जाय यह विचार दुःख देता है और नष्ट होने पर तो दुःख है ही। काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, रोग (मानस आधि औरशारीरिक व्याधि), जन्म, जरा और मरण सब दुःख है। अप्रियसंयोग दुःख है; प्रियवियोग दुःख है; इच्छा पूर्ण न होना दुःख है। स्वार्थ, हिंसा, संघर्ष आदि दुःख है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, ये पाँचों स्कन्ध दुःख है। संक्षेप में, जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त सारा जीवन ही दुःख है। और मृत्यु भी दुःख का अन्त नहीं है। क्योंकि मृत्यु के बाद पुनर्जन्म है और जन्म के बाद मृत्यु है, इस प्रकार यह जन्म-मृत्य- चक्र या भवचक्र चलता रहता है तथा व्यक्ति इसमें ँस कर दुःख भोगता रहता है।

द्वितीय सत्य है- दुःख-समुदय। इसका अर्थ है कि दुःख उत्पन्न होता है, इसका उदय या समुदय होता है। जो उत्पन्न होता है उसे कार्य कहते हैं और प्रत्येक कार्य सदा कराण सापेक्ष होता है। 'कारण के होने पर ही कार्य होता है' यह नियम अटल है। कार्य उत्पत्ति के लिये हेतु-प्रत्यय सामग्री आवश्यक है। कारण-कार्य की लम्बी शृंखला है जो द्वादशाङ्ग-चक्र के रूप में घूमती रहती है। यह प्रतीतत्य समुत्पादचक्र ही दुःख-समुदय का कारण है और अविद्या इसकी जननी है। अविद्याजन्य तृष्णा के कारम संसार से आसक्ति होती है और भवचक्र चलता रहता है।

तृतीय आर्यसत्य है- दुःख निरोध। कारण के होने पर ही कार्य उत्पन्न होता है, अतः कारण के न रहने पर कार्य भी नहीं रह सकता और न पुनः उत्पन्न हो सकता है। दुःख कार्य है, अतः उसके कारण को दूर कर देने पर दुःख का निरोध सम्भव है। अविद्या के नाश से उसके चलने वाला द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद-चक्र भी नहीं चलता। यही दुःख-निरोध है। तृष्मा के सर्वथा क्षय होने पर अनासक्ति रूप निर्विकल्पावस्था होती है। अविद्या-निवृत्ति से अपरोक्षानुभूति द्वारा दुःख का आत्यन्तिक निरोध हो जाता है। यही निर्वाण है। यही अमृत पद है।

चतुर्थ आर्यसत्य को 'दुःखनिरधगामिनी प्रतिपद्' अर्थात् दुःखनिरोधमार्ग कहा गया है। यह नैतिक और आध्यात्मिक साधना का मार्ग है जिसे 'आर्य अष्टाग्डि मार्ग' की संज्ञा दी गई है। यह चतुर्थ आर्यसत्य के अन्तर्गत है।

इस आर्य मार्ग के आठ अंग हैं- (1) सम्यक दृष्टि; यह बुद्ध-वचनों में श्रद्धा और आर्यसत्यों का ज्ञान है। (2) सम्यक संकल्प; यह आर्यमार्ग पर चलने का दृढ़ निश्चय है। (3) सम्यक वाक; यह वाणी की पवित्रता और सत्यता है। (4) सम्यक कर्मान्त; यह हिंसा, द्वेष और दुराचरण का त्याग तथा सत्कर्मों का आचरण है। (5) सम्यक आजीव; यह न्यायपूर्ण जीविकोपार्जन है। (6) सम्यक स्मृति; यह शारीरिक तथा मानस भोद्य वस्तुओ एवं काम, मोह लोभ आदि भावों की अनित्यताऔर अशुचिता

की निरन्तर भावना एवं चित्त की एकाग्रता है। (8) सम्यक समाधि; यह चित्त की एकाग्रता द्वारा निर्विकल्प प्रज्ञा की अनुभूति है।

बुद्ध ने इस दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद या अष्टागिक मार्ग को 'मध्यमा प्रतिपद्' या मध्यम मार्ग की संज्ञा दी है। यह भोगविलास और शरीर को अत्यन्त क्षीण करने वाली कठोर तपस्या के बीच का मार्ग है। बुद्ध वचन है - भिक्षुओं ! प्रव्रज्या लेने वाले को दो अन्तों का सेवन नहीं करना चाहिये। कौन से दो अन्त? एक तो कामसुखों में आसक्ति जो हीन है, ग्राम्य है, पृथग्जनोचित है, अनार्य है और अनर्थों की जड़ है और दूसरी आत्मपीड़ा में आसक्ति जो दुःखमय है, अनार्य है और अनर्थों की जड़ है। भिक्षुओं ! इन दोनों अन्तों को छोड़ कर तथागत ने मध्यम मार्ग का साक्षात्कार किया है।

बौद्धों के त्रिरत्न,शील, समाधि और प्रज्ञा को निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग बताया गया है। ये तीनों रत्न आर्य अष्टागिंक मार्ग के अन्तर्गत आ जाते हैं। **शील** का अर्थ है सत्कर्मों का करना और असत्कर्मों से बचना। अहिंसा, अस्तेय, सत्य तथा ब्रह्मचर्य का पालन और मदिरा आदि नशीली वस्तुओं का त्याग, ये बौद्धों के 'पञ्चशील' हैं जो गृहस्थों तथा भिक्षुओं दोनो के लिए विहित है। भिक्षुओं के लिए अन्य पाँच शीलों का भी विधान है; ये हैं, असमय भोजन, माला-धारण, संगीत नृत्य आदि, स्वर्ण-रजत आदि और सुखद शैया का त्याग। **समाधि** के अन्तर्गत चार प्रकार के ध्यान का वर्णन मिलता है प्रथम ध्यान सवितर्क, सविचार और विवेक से उत्पन्न प्रीतिसुख वाला है। द्वितीय ध्यान में वितर्क और विचार के शान्त हो जाने से मनःप्रसाद के कारण चित्तैकाग्रता से युक्त समाधिजन्य प्रीतिसुख होता है। तृतीय ध्यान में साधक प्रीति और विराग की भी उपेक्षा करके स्मृतिवान होकर सुख-विहार को प्राप्त सुख-विहार को प्राप्त करता है। चतुर्थ ध्यान मेंसाधक सुख और दुःख दोनो को छोड़ कर, पहले ही सौमनस्य और दौर्मनस्य के अस्त हो जाने से दुःख-सुख रहित तथा स्मृति और उपेक्षा से शुद्ध होकर विहार करता है। **प्रज्ञा** श्रुतमयी (बुद्धवाक्यजन्य निश्चय), चिन्तामयी (बौद्दिक चिन्तन से उत्पन्न निश्चय) और भावनामयी (समाधिजन्य ज्ञान) मानी गई है। भावनामयी प्रज्ञा चतुर्थ ध्यान में प्रकाशित होती है। इससे कामास्रव, भवास्रव और अविद्यास्रव का आत्यन्तिक नाश हो जाने से साधक मुक्त हो जाता है। वह जन्म-मरण-चक्र से छूट जाता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद

प्रतीत्यसमुत्पाद भगवान बुद्ध के उपदेशों का आधारभूत सिद्धान्त है। बौद्ध दर्शन का यह केन्द्रीय सिद्धान्त है। यह द्वितीय और तृतीय आर्यसत्य के अन्तर्गत है, दुःख की उत्पत्ति का कारण है (दुःख-समुदय) एवं इस कारण का निरोध कर देने पर दुःख भी नहीं रहता (दुःख-निरोध)। प्रतीत्यसमुत्पाद कार्यकारणवाद है। 'प्रतीत्य' का अर्थ है 'अपेक्षा रखकर' या 'निर्भर अथवा आश्रित रहकर' एवं 'समुत्पाद' का अर्थ है उत्पत्ति; अतः प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ हुआ - कारण की अपेक्षा रखकर या कारण पर निर्भर रहकर कार्य की उत्पत्ति। कार्य सदा कारण-सापेक्ष होता है। कारण के होने पर ही कार्य होता है तथा कारण के न रहने पर कार्य भी नहीं रहता है और न उत्पन्न हो सकता है। दुःख संसार है, दुःखनिरोध निर्वाण है। सापेक्ष दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद दुःखसमुदय-रूप संसार है; पारमार्थिक दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद प्रपञ्चोपशम और शिव निर्वाण है। सापेक्ष रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद कारम-कार्य-वाद है। इसका नियम है- 'अस्मिन् (कारणे) सति, इदं (कार्य) भवति' अर्थात् 'कारण के होने पर कार्य होता है।' जो उत्पन्न होता है, वह कार्य होता है; जो कार्य है, वह सापेक्ष है; जो सापेक्ष है, वह वस्तुतः न 'सत्' है, न 'असत्' है, न अस्ति है, न नास्ति है; न शाश्वत है, न उच्छेद-रूप है। पारमार्थिक दृष्टि से यही प्रतीत्यसमुत्पाद प्रपञ्चोपशन, शिव और अमृत निर्वाण है। इसीलिए स्वयं भगवान बुद्ध ने इस प्रतीत्यसमुत्पाद को 'बोधि' कहा है, जिसका साक्षात्कार उन्होंने गया के पास बोधिवृक्ष के नीचे किया था और जिसने मर्त्य सिद्धार्थ गौतम को अमर बुद्ध बना दिया था। इसी प्रतीत्यसमुत्पाद को बुद्ध ने 'धर्म' की संज्ञा दी है, उस धर्म की, जिसमें बोधि अन्तर्निहित है। भगवान बुद्ध ने उरूवेला (बुद्धगया) में बोधिवृक्ष के नीचे मार-विजय के पश्चात् प्रतीत्यसमुत्पाद पर अनुलोम और प्रतिलोम रीति से विचार किया। उन्होंने दुःखसमुदय और दुःखनिरोध का साक्षात्कार किया। तब भगवान को इस प्रकार की अनूभूति हुई- मुझे अमृत प्राप्त हो चुका है; मैं तथागत हूँ, सम्यक सम्बुद्ध हूँ। मैंने इस धर्म का साक्षात्कार कर लिया है। यह धर्म कठिन है, शान्त है, अत्युत्तम है, तर्क से अगम्य है, निपुण (अतिसूक्ष्म) है और प्राज्ञों द्वारा ही साक्षात् किया जा सकता है। तृष्णासक्त, तृष्णारत और तृष्णाप्रमुदि लोगों के लिए कारण-कार्य-श्रृंखला-रूप प्रतीत्यसमुत्पाद को समझना अत्यन्त कठिन है। इन लोगों के लिए निर्वाण पाना भी अत्यंत कठिन है - वह निर्वाण जहाँ सारे संस्कारों का उपशम, समस्त उपादानों का निरोध और सारी तृष्मा का क्षय होकर अमृत प्राप्त होता है। जो प्रतीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार करता है, वह धर्म का साक्षात्कार करता है। आर्य नागार्जुन ने अपनी 'माध्यमिक-कारिका' के मंगलाचरण में कहा है- जिन्होंने प्रपञ्चोपशम और शिव प्रतीत्यसमुत्पाद का

उपदेश दिया है, उन उपदेश-कुशल सम्यक सम्बुद्ध की मैं वन्दना करता हूँ। शान्तरक्षित ने भी 'तत्व संग्रह' में इसी प्रकार वन्दना की है।

कारण कार्य

श्रृंखला रूप प्रतीत्यसमुत्पाद द्वादशांग-चक्र हैं जिसे भवचक्र संसारचक्र, जन्ममरणचक्र और धर्मचक्र भी कहा जाता है। इसके द्वादश अंग या निदान कारण-कार्यरूप से चक्रवत् घूमते रहते हैं। प्रथम अंग द्वितीय अंग का कारण है , द्वितीय अंग तृतीय अंग का और इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है। ये द्वादश अंग है - (1) अविद्या; (2) संस्कार; (3) विज्ञान; (4) नाम-रूप; (5) षडायतन; (6) स्पर्श; (7) वेदना; (8) तृष्णा; (9) उपादान; (10) भव; (11) जाति; और (12) जरा-मरण। मरण इस चक्र का अन्त नहीं है; मरण के बाद भी अविद्या और कर्म संस्कार रहते हैं जो नये जन्म का कारण बनते है और इस प्रकार यह जन्म-मरण-चक्र चलता रहता है। इन बारह अंगों में से प्रथम दो (अविद्या तथा संस्कार) पूर्वजन्म से सम्बद्ध है, अन्तिम दो (जाति तथा जरा-मरण) भविष्य के पुनर्जन्म से सम्बद्ध है, तथा बीच के आठ (विज्ञान से भव तक) वर्तमान जन्म से सम्बद्ध है। इन अंगों में पूर्व अंग उत्तर अंग का कारण है और उत्तर अंग पूर्व अंग का कार्य है। पूर्व अंग है तो उससे उत्तर और अंग अवश्य उत्पन्न होगा और यह चक्र चलता रहेगा। इस चक्र का मूल कारम है अविद्या और जब अविद्या है तब तक यह चक्र चलता रहेगा।

'अविद्या' प्रतीत्यसमुत्पाद-चक्र का प्रथम अंग है, इस चक्र का मूल कारण है। अविद्या अनादि है; इसका कोई कारण नहीं है। अविद्या का नाश केवल विद्या से ही सम्भव है। लौकिक व्यक्तिगत अज्ञान की निवृत्ति लौकिक सविकल्प बौद्धिक ज्ञान से हो जाती है। यदि मैं किसी पूर्व में अज्ञात वस्तु का अब ज्ञान प्राप्त कर लेता हूँ, तो इस ज्ञान से मेरे पूर्व अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। किन्तु यह अविद्या तो व्यक्तिगत अविद्या नहीं है; ह तो इस दुःखरूप समस्त संसार की जननी है, अतः इसका नाश सविकल्प बौद्धिक ज्ञान से नहीं हो सकता क्योंकि सविकल्प बुद्धि स्वयं हीअविद्या का कार्य है। इस मूल अविद्या का नाश केवल मौलिक निर्विकल्प निरपेक्ष अपरोक्षानुभूति द्वारा ही सम्भव है जिसे 'बोधि' या 'प्रज्ञा-पारमिता' कहा जाता है। यह निर्वाण या निरपेक्ष तत्व है जो नित्य शुद्ध चैतन्य या विज्ञानरूप है। जब अविद्या इस निर्विकल्प शुद्ध नित्य विज्ञान को 'आवृत्त' कर लेती है, तो वह विज्ञान अविद्या-कलुषित, अशुद्ध सापेक्ष और सीमित हो जाता है। अविद्या का कार्य है तत्व की उसके असली रूप में न दिखा कर विकृत रूप में दिखाना; तत्र के स्वरूप को आवृत्त करके उसे अन्य आरोपित रूप में दिखाना; असीम निर्विकल्प अद्वैत तत्व को बुद्धि के विकल्पों कोटियों या अन्तों में सीमित करके सापेक्ष रूप में प्रतीत कराना; अद्वैत को द्वैत में और एक को अनेक में प्रतीत कराना। अविद्या यह कार्य कर्म-संस्कारों के द्वारा करती है। अविद्या से 'संस्कार' उत्पन्न होते है। संस्कार का अर्थ है कर्म-संस्कार अर्थात् संस्कारों के रूप में सञ्चित कर्म। संस्कारसे 'विज्ञान' उत्पन्न होता है। यहाँ विज्ञान का अर्थ है सीमिति, सापेक्ष, सविकल्प विज्ञान अर्थात् अविद्या और कर्मसंस्कारों से कलुषित विज्ञान। अविद्या और कर्म-संस्कार कारण-शरीर है जो शुद्ध चैतन्य को आवृत कर उसे सीमित व्यक्तिगत विज्ञान के रूप में प्रतीत कराता है और उसे जन्म-मृत्यु-चक्र में घुमा रहा है। विज्ञान से 'नाम-रूप' उत्पन्न होता है। यहां 'नाम' का अर्थ है मानसिक और 'रूप' का अर्थ है भौतिक; अतः नाम-रूप का अर्थ हुआ मानसिक भावों तता भौतिक पदार्थों के संघात से बना हुआ यह शरीर। अविद्या-संस्कार-निर्मित कारण-शरीर से आवृत्त विज्ञान कर्म-फल भोगने के लिए 'शरीर' (सूक्ष्म और स्थूल) की अपेक्षा रखता है जिसमें इन्द्रिय,मन आदि उपकरण हों। अतः विज्ञान के नामरूपात्मक संघात उत्पन्न होता है जिसमें विज्ञान प्रविष्ट रहता है। इस प्रकार 'नाम-रूप' का अर्थहै विज्ञान से अनुप्रणित मनोभौतिक शरीर। नाम-रूप से 'षडायतन' उत्पन्न होते हैं। ये छह आयतन हैं, पाँच बाह्य इन्द्रियां और एक मन या अन्तःकरण। इन छह इन्द्रियों की संज्ञा षडायतन है। विज्ञानानुप्राणित नामरूपात्मक मनोभौतिक शरीर में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द का ग्रहण करने वाली क्रमशः चक्षु, जिह्वा, घ्राण, काय तथा श्रोत नामक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मनोभावों को ग्रहण करने वाली मन नामक छठी अन्तरिन्द्रिय, ये कुल छह आयतन या इन्द्रियाँ है जो भोग करने के उपकरण या साधन है। षडायतन से 'स्पर्श' उत्पन्न होता है। स्पर्श का अर्थ है विज्ञानानुप्राणित इन्द्रय का विषय से सम्पर्क; और इन्द्रियों की नैसर्गिक प्रवृत्ति इस सम्पर्क की ओर होती है। स्पर्श से 'वेदना' उत्पन्न होती है। वेदना का अर्थ है इन्द्रिय-संवेदन या इन्द्रियानुभव। यह तीन प्रकार की मानी गई है, सुखरूप, दुःखरूप और उदासीन। वेदना से 'तृष्णा उत्पन् होती है। तृष्णा का अर्थ है इन्द्रियसुखोपभोग की तीव्र इच्छा या सांसारिक सुखों के उपभोग के प्रति उत्कट राग। यह विषयानन्दपान की तीव्र पिपासा है। तृष्णा से 'उपादन' उत्पन्न होता है। उपादन का अर्थ है विषय-सुख में अत्युग्र आसक्ति अर्थात् भोगों से बुरी तरह चिपकना, जैसे गुढ़ से चींटा चिपकता है कि

टुकड़े-टुकड़े होकर ही निकलता है। उपादान से 'भव' उत्पन्न होता है। भव का अर्थ है फलोन्मुख कर्मों के फल-भोग हेतु जन्म (और पुनर्जन्म) लेने का संकल्प। भव वे प्रारब्ध कर्म हैं जो फल-भोग के लिए जन्म लेने हेतु प्रेरित कर रहे हैं; ये कर्म, हमारी तीव्र भोगासक्ति के कारण, हममे जन्म (और पुनर्जन्म) लेने की उत्कृष्ट इच्छा या संकल्प भी उप्तपन्न कर रहे हैं। अतः कर्म और तज्जन्य संकल्प दोनों 'भव' के अन्तर्गत आते हैं। भव से 'जाति' उत्पन्न होती है। जाति का अर्थ है जन्म, और उसमें पुनर्जन्म भी समाविष्ट है। जाति से 'जरा-मरण' उत्पन्न होता है जो स्वयं ही दुःखरूप है। अश्वघोष ने जरा को रूप हरने वाली, बल को मिटाने वाली, शोक की जननी, रति की मृत्यु, स्मृति का नाश और इन्द्रियों का शत्रु कहा है। और मृत्यु से बढ़ कर कोई दुःख नहीं है। अतः जरा-मरण पद का प्रयोग दुःख के प्रतीक के रूप में हुआ है, क्योंकि बहुत से लोग बचपन या जवानी में ही मर जाते हैं और जरा को प्राप्त नहीं कर पाते। मरणोपरान्त भी यह चक्र नष्ट नहीं होता क्योंकि अविद्या और संस्कार इस चक्र को चलाते रहते हैं। इस चक्र का नाश इसके मूल कारण अविद्या के नाश से ही सम्भव है और अविद्या का नाश अपरोक्षानुभूति से होता है जिसका अर्थ निर्वाण है।

उपर्युक्त निरूपण प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुलोम (कारण से कार्य का) वर्णन है जिसमें हम अविद्या से जरा-मरण तक आते हैं। इसके प्रतिलोम (कार्य से कारण का) निरूपण में हम जरा-मरण से अविद्या तक पहुँचते हैं। यह इस प्रकार है - हमें अप्रिय- संयोग, प्रिय-वियोग, आधि, व्याधि, शोक, जरा, मरण आदि दुःख क्यों होते हैं? क्योंकि हमने जन्म लिया है। हम जन्म (और पुनर्जन्म भी) क्यों लेते हैं? क्योंकि हमने जन्म लेने के लिए प्रेरित करने वाले कर्म किये हैं और हमें उनका भोग करने के लिए जन्म लेने के लिए प्रेरित करने वाले कर्म किये हैं और हमें उनका भोग करने के लिए जन्म लेने की इच्छा है। ये कर्म और यह इच्छा क्यों होती है? क्योंकि हम भोगों में आसक्त होकर उनसे चिपक रहे हैं। यह आसक्ति क्यों होती है? क्योंकि हमें भोगों की तृष्णा है। यह तृष्णा क्यों होती है? क्योंकि भोगों से इन्द्रिय-संवेदनजन्य सुख मिलता है। यह संवेदन क्यों होता है? क्योंकि इन्द्रिय और विषय का सम्पर्क होता है। यह सम्पर्क क्यों होता है? क्योंकि हमारे पास छह इन्द्रियाँ है (पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन)जिनकी प्रवृत्ति विषयों से सम्पर्क करने की होती है। ये छह इन्द्रियाँ क्यों होती है? क्योंकि नामरूपात्मक मनोभौतिक संघातरूप देह है जिसमें ये उत्पन्न होती है। यह संगात क्यों होता है? क्योंकि पूर्व कर्मों के संस्कार उसे बाध्य करते हैं। ये कर्म-संस्कार क्यों होते हैं? क्योंकि अविद्या कर्मों में प्रवृत्त करती है। अतः अविद्या ही इस संस्कार-चक्र रूपी दुःख का मूल कारण है। अविद्या-निवृत्ति ही निर्वाण है।

अनात्मवाद या नैरात्म्यवाद

प्रायः यह माना जाता है कि बुद्ध ने औपनिषद 'आत्मवाद' के विरूद्ध अपने नये 'आत्मवाद' या 'नैरात्म्यवाद' सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करके एक नई दार्शनिक परम्परा प्रारम्भ की । यह कथन असत्य और भ्रामक है। बुद्ध ने उपनिषद् के शुद्ध चिदानन्दरूप निरपेक्ष तत्व या अपरोक्षानुभूति का कभी खण्डन नहीं किया; खण्डन करना तो दूर, उन्होंने उसे समस्त लोकव्यवहार के अधिष्ठान के रूप में स्वीकार किया। उपनिषद् के अद्वैतवाद का ही बुद्ध ने उपदेश दिाय है। उपनिषद् और बुद्ध में महत्वपूर्ण भेद यह है कि बुद्ध ने उपनिषद् के परम तत्व को 'शुद्ध आत्मतत्व' की संज्ञा नहीं दी; वे तत्व को 'नेति नेति' और अनिर्वचनीय मानकर उसके साक्षात्कार पर ही बल देते रहे। यही 'अनात्मवाद' के विषय में भ्रान्ति का कारण बना। बुद्ध ने अपरोक्षानुभूति के लिये 'शुद्ध आत्मतत्व' के स्थान पर 'निर्वाण' पद का प्रयोग किया। औपनिषद ऋषियों ने परमात्म-तत्व के लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया है उन विसेषणों का प्रयोग बुद्ध ने भी निर्वाण के लिए किया है।

निर्वाण

भगवान बुद्ध प्रायः कहा करते थे- भिक्षुओं ! मैं दो बातों का ही उपदेश देता हूँ- दुःख और दुःखनिरोध। दुःख संसार है और दुःखनिरोध निर्वाण है। दुःख का मार्मिक वर्णन करते हुए बुद्ध ने कहा है- भिक्षुओं ! क्या तुम जानते हो कि इस संसार के सुदीर्घ मार्ग में दौड़ने वाले, इस जन्म-मरण-चक्र में पिसने वाले प्राणियों ने बार-बार जन्म लेकर रो-रोकर जो आँसू बहाये हैं, वे अधिक हैं या इन चारों महासमुद्रों का जल? अविद्या के नाश से ही भवचक्र का नाश सम्भव है। यह अविद्या- निरोध प्रज्ञा या निर्विकल्प अपरोक्षानुभूति से होता है और यह अनुभूति ही निर्वाण है। हम आर्य सत्य और प्रतीत्यसमुत्पाद के अन्तर्गत इसका वर्णन कर चुके हैं। निर्वाण शब्द का अर्थ है 'बुझना'; जैसे तेल के क्षय से दीपक बुझ जाता है, वैसे ही अविद्या और उसके कार्यों का होता है, निर्वाण या मुक्त का नहीं। उपनिषद् के ऋषियों ने शुद्ध आत्मतत्व के लिए जो विशेषण प्रयुक्त किये हैं, बुद्ध ने उनका प्रयोग निर्वाण के लिए किया है। आत्मा 'नेति नेति' है; निर्वाण का वर्णन भी प्रायः निषेधात्मक पदों से

किया गया है। आत्मा और निर्वाण अतीन्द्रिय, बुद्धि-विकल्पातीत और अनिर्वचनीय है। 'नेति नेति' आत्मविषयक वर्णनों का निषेध करता है, आत्मा का नहीं; निषेधात्मक पदों से निर्वाण के वर्णनों का निषेध होता है, निर्वाण का नहीं। आत्मा और निर्वाण दोनो ही 'उपशान्त' है। आत्मा और निर्वाण दोनो में अविद्या की आत्यन्तिक निवृत्ति है। दोनो ही अपरोक्षानुभूति है। आत्मज्ञान का साधन श्रवण-मनन-निदिध्यासन है; निर्वाण का साधन श्रुतमयी, चिन्तामयी और भावनामयी प्रज्ञा है। निर्वाण गम्भीर, शान्त, तर्कागम्य, निपुण और पण्डितों द्वारा ही साक्षात् करने योग्य है। निर्वाण, मोक्ष के समान, सर्वदृष्टिप्रहाण और सर्वकल्पनाक्षय है। बुद्ध ने सब संस्कृत धर्मों को अनित्य, दुःखरूप और अनात्म बताया है। निर्वाण 'संस्कृत धर्म' नहीं है; निर्वाण 'धर्म' (विषय, वस्तु, पदार्थ, ज्ञेय) भी नहीं है। निर्वाण को 'असंस्कृत धर्म' मानकर सब संस्कृत धर्मों से भिन्न और असंस्कृत धर्मों के ऊपर 'सर्वोच्च धर्म' स्वीकार करना भी निर्वाण का उपहास करना है। निर्वाण 'धर्मों की धर्मता' है; निर्वाण सब धर्मों में व्याप्त है और सब धर्मों से परे है; वह निरपेक्ष परम तत्व है। जिस प्रकार आत्मतत्व के लिये उपनिषदों में प्रपञ्चोपशम, शिव, अद्वैत, अमृत, अभय, चिन्मात्र, आनन्द आदि विशेषणों का प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार बुद्ध ने भी निर्वाण को अच्युत, अमृत, अकुतोभय, परमसुख आदि पदों से विशिष्ट किया है। बुद्ध वचन है - भिक्षुओं ! यह अजात, अमृत, असंस्कृत तत्व है, इसीलिए यह जात, नश्वर, कृत और संस्कृत धर्मों का आधार है। निर्वाण को क्षेम, नैष्ठिक, अच्युत पद एवं शान्त और शिव तथा दुर्लभ, शान्त, अजर, अमृत और पर पद बताया गया है। भगवान बुद्ध के अन्तिम शब्द यही थे- भिक्षुओं ! सब संस्कृत धर्म नश्वर है, अप्रमाद के साथ (अमृत निर्वाण) प्राप्त करो।

हीनयान और महायान

बुद्ध-निर्वाण के लगभग सौ वर्ष बाद वैशाली में सम्पन्न द्वितीय बौद्ध संगीति में थेर (स्थविर) भिक्षुओं ने मतभेद रखने वाले कुछ भिक्षुओं को 'पाप भिक्खु' कह कर संघ से बाहर निकाल दिया था। उन भिक्षुओं ने उसी समय अपना अलग संघ बना कर स्वयं को 'महासांधिक' और थेरवादियों (स्थविरवादियों) को 'हीनसांघिक' नाम दिया जिसने कालान्तर में महायान और हीनयान का रूप धारण किया।

हीनयान में बुद्ध के उपदेशों का मर्म न समझने के कारण क्षणिक धर्मों को ही सत्य मान कर बहुत्ववादी वस्तुवाद का विकास हुआ जिसके अनुसार पुद्गलनैरात्म्य द्वारा क्लेशावरण के क्षय पर बल दिया गया; महायान में, बुद्धि के उपदेशों के तात्तिवक अर्थ के आधार पर, पुद्गल या जीवात्मा के साथ-साथ भौतिक धर्मों की भी प्रौतीतिक सत्ता और तात्तिवक असत्ता को स्वीकार करके पुद्गलनैरात्म्य के साथ धर्मनैरात्म्य का भी प्रतिपादन किया गया एवं क्लेशावरण-क्षय के साथ-साथ ज्ञेयावरण-क्षय पर भी बल दिया गया तथा बुद्ध के आध्यात्मिक अद्वैतवाद को पल्लवित और विकसित किया गया।

हीनयान अनीश्वरवादी और कर्मप्रधान दर्शन है। इसमें व्यक्तिगत साधना द्वारा व्यक्ति का निर्वाण प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य है। इसका आदर्श 'अर्हंत्' है जो अपने प्रयत्नों से अपने लिए निर्वाण प्राप्त करता है। इसके विपरीत महायामन में सर्वमुक्ति की कल्पना है। इसका आदर्श 'बोधिसत्व' है जो अन्य आर्त पुरुषों के निर्वाण के लिए प्रयत्नशील रहता है। बोधिसत्व बोधिचित्त के उत्पाद तथा प्रज्ञा आदि पारमिताओं के अनुशीलन द्वारा करूणावश लोक-कल्याण के लिए उद्यत रहता है। महायान एक विशाल यान (जलपोत) है जिसमें बैठ कर कई लोग संसार-सागर को पार कर सकते हैं।

हीनयान के अनुसार बुद्ध एक महापुरुष थे जिन्होंने अपने प्रयत्न से निर्वाण प्राप्त किया और निर्वाण प्राप्ति के मार्ग का उपदेश दिया। महायान में बुद्ध को 'लोकोत्तर' तथा ईश्वर-स्थानापन्न बना दिया गया। बुद्ध के 'अवतारों' की कल्पना की गई। त्रिकाय (धर्मकाय, निर्माणकाय और सम्भोगकाय) के सिद्धान्त को विकसित किया गया। बुद्ध-भक्ति की प्रतिष्ठा हुई। लोककल्याण की भावना और 'महाकरूणा' का विकास हुआ। 'लोक के सारे कलि-कलुओं को मैं अपने ऊपर लेता हूँ, इसलिए कि लोक 'मुक्त' हो सके।

हीनयान के दार्शनिक सिद्धान्त

हीनयान कई मतों में विभाजित था। वसुमित्र ने हीनयान के अठ्ठारह मतों का उल्लेख किया है। किन्तु हीनयान के प्रमुख मत तीन थे- थेरवाद (स्थिविरवाद), सर्वास्तिवाद (वैभाषिक) और सौत्रान्तिक। थेरवाद और सर्वास्तिवाद में कुछ महत्वपूर्म भेदों के होते हुए भी उनके दर्शनों में विशेष अन्तर नहीं है। वैभाषिक और सौत्रान्तिक सम्प्रदायों में भी कुछ महत्वपूर्ण भेद हैं। इन भेदों के होते हुए भी, कई प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों में दोनो एकमत हैं।अतः हीनयान के प्रमुख सम्प्रदाय के रूप में सर्वास्तिवाद का निरूपण उचित होगा।

हम बता चुके हैं कि बुद्ध के दार्शनिक सिद्धान्त पालि के विनयपिटक और सुत्तपिटक से संकलित किये जा सकते हैं। पालि अभिधम्मपटिक, यद्यपि बुद्ध-वचन कहा जाता है , तथापि वह वस्तुतः बुद्ध-वचनों की स्थविरवादियों द्वारा की गई व्याख्या है जिसमें बुद्ध के सिद्धान्त दब गये हैं। श्रीमती रीज डेविड्स के इस कथन में सत्यता है कि ये 'बुद्ध-वचनों के ऊपर भिक्षुओं द्वारा किये गये ऊपरी-निर्माण हैं, जिनकों बुद्ध-वचनों के रूप में प्रचारित किया गया है। सर्वास्तिवादियों के संस्कृत अभिधर्मपिटक के अन्तर्गत सात ग्रन्थ हैं जिन्हें स्पष्टरूप में विभिन्न लेखकों की रचना माना गया है। इनमें प्रमुख ग्रन्थ कात्यायनीपुत्र-रचित 'अभिधर्मज्ञानप्रस्थान' है और शेष छह ग्रन्थ उसके पाद है। ज्ञानप्रस्थान पर 'महाविभाषा' और 'विभाषा' नामक भाष्य हैं, जिनके कारम सर्वास्तिवादियों को 'वैभाषिक' कहा जाने लगा। ये ग्रन्थ मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। वसुबन्धु के 'अभिधर्मकोश' नामक ग्रन्थ में, जिस पर यशोमित्र की व्याख्या है, मूलसर्वास्तिवाद या काश्मीरवैभाषिक मत का विशद निरूपण है।

बुद्ध का केन्द्रीय दार्शनिक सिद्धान्त **प्रतीत्यसमुत्पाद** है जो व्यवहार में सापेक्ष कारणकार्यवाद और परमार्थ में बोधि या निर्वाण है। जो बुद्धि-ग्राह्य है, जो संस्कृत अर्थात् कर्म-संस्कार-जन्य है, जो कार्य है, वह प्रतीत्यसमुत्पन्न है, सापेक्ष है, दुःख है, अनित्य है। उसकी सत्ता केवल प्रातीतिक है; वस्तुतः वह अनुत्पन्न है। अतः बुद्ध के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद सापेक्ष कारणकार्यवाद है, वास्तविक कारणकार्यवाद नहीं है। 'प्रतीत्य' का अर्थ है 'हेतु प्रत्यापेक्ष' और 'समुत्पाद' का अर्थ है 'कार्य की उत्पत्ति' अर्थात् कारण-कार्य-भाव को कार्य की वास्तविक उत्पत्ति माना। उसके अनुसार 'सापेक्ष' पद का यह अर्थ है कि कार्य की उत्पत्ति के पूर्व कारण का होना आवश्यक है; 'सापेक्ष' पद का यह अर्थ नहीं है कि कार्य की सत्ता सापेक्ष या प्रातीतिक है। कार्य वस्तुतः उत्पन्न होता है और उसकी सत्ता वास्तविक है। हीनयान के अनुसार 'प्रतीत्य' का अर्थ है 'प्रतिक्षण-विनाशशील या क्षणिक धर्म (पदार्थ)' और 'समुत्पाद' का अर्थ है वास्तविक उत्पत्ति अर्थात् प्रतिक्षण विनाशी भावों की उत्पत्ति। इसका अर्थ है क्षणिक धर्मों का निरन्तर प्रवाह जिसमें पूर्व अंग कारण और उत्तर अंग कार्य है। बुद्ध ने 'अनित्यवाद' का उपदेश दिया था जिसके अनुसार समस्त संस्कृत या प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म (पदार्थ) अनित्य हैं, नश्वर हैं, व्यधर्म है, परिवर्तनशील हैं, दुःखरूप हैं, मृषा हैं। हीनयान ने बुद्ध के इस 'अनित्यवाद' को, जिसका लोक में प्रत्यक्ष अनुभव होता है, 'क्षणभंगवाद' नामक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में परिणित कर दिया। बुद्ध के लिए जो पदार्थ सामान्य रूप से नश्वर है, हीनयान के लिये वह पदार्थ दार्शनिक रूप से क्षणिक है और प्रतिक्षण उत्पत्ति विनाशशील इन क्षणिक पदार्थों का निरन्तर प्रवाह चल रहा है। बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद को अपना लिया। उसके अनुसार जीव और जगत् के पदार्थ असत् हैं, किन्तु क्षणिक धर्मों का प्रवाह, जिनमें चेतन विज्ञान और जड़ परमाणु सम्मिलित हैं, सत्य हैं। जो संस्कृत धर्म को ही सत् मान लिया और उन्हें स्कन्ध, आयतन और धातु के तानों-बानों में बुनता रहा। सर्वास्तिवाद के अनुसार 75 धर्म है जिनमें 72 धर्म संस्कृत हैं तथा तीन धर्म (निर्वाण को मिलाकर) असंस्कृत हैं।

अब हम हीनयान के प्रमुख सिद्धान्त क्षणभग्वाद का विवेचन करें। इसका उद्घोष है - सर्व क्षणिकम अर्थात् सब कुछ क्षणिक है। परिवर्तन की धारा बह रही है। कोई 'एक' वस्तु या 'वहीं' पदार्थ नहीं है क्योंकि यदि किसी धर्म को 'एक' या 'वहीं' माना जायेगा तो वह क्षणिक नहीं होगा। अतः कोई प्रवाह-नित्य वस्तु नहीं है जो परिवर्तन में भी अपनी 'एकता' और अपना 'तादात्म्य' स्थायी रूप में बनाये रहे। केवल क्षणिक धर्मों की धारा बह रही है। ये धर्म दो प्रकार के हैं, चैतन और अचेतन। दोनो परस्पर स्वतन्त्र हैं और दोनो सत् हैं। चेतन धर्म विज्ञान है और अचेतन धर्म भौतिक परमाणु हैं। इन क्षणिक विज्ञानों की और परमाणु प्रतीत्य समुत्पन्न हैं, संस्कृत हैं, कारण-कार्यनियम से बँधे हैं क्योंकि क्षणिक धर्मों के निरन्तर प्रवाह में पूर्व भावी क्षणिक धर्म कारण है और उत्तरभावी क्षणिक धर्म उसका कार्य है। कारण-क्षण उत्पन्न होते ही कार्य-क्षण को जन्म देकर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार प्रतिक्षण इन क्षणिक धर्मों का उत्पाद विनाश होता रहता है। सत् का लक्षण है कार्योत्पादकक्षमतावान; प्रतीत्यसमुत्पाद के कारम-कार्य-प्रवाह में प्रवाहमान क्षणिक धर्म ही सत् है - यत् क्षणिक तत् सत्। इस अर्थ में क्षणिक विज्ञान और क्षणिक परमाणु सत् है।

क्षणभंगवाद का दूसरा उद्घोष है -सर्वम् अनात्म अर्थात् कोई नित्य द्रव्य नहीं हैं, न चेतन और न जड़, कूटस्थ-नित्य और न परिणामि-नित्य। न तो कोई 'आत्मा' या पुद्गल नामक चेतन द्रव्य है और न कोई 'भोतिक पदार्थ' नामक जड़ द्रव्य। द्रव्यता, एकता, तादात्म्य, नित्यता आदि कल्पना मात्र हैं; सत् केवल क्षणिक धर्म है। क्षणिक विज्ञानों के प्रवाह पर पुद्गल या जीवात्मा का आरोप या उपचार कर दिया जाता है और क्षणिक परमाणुओं के प्रवाह पर भौतिक पदार्थ का। वस्तुतः न चेतन आत्मा है और न भौतिक पदार्थ। क्षणिक विज्ञानों और क्षणिक परमाणुओं के प्रवाह या सन्तान को 'सन्तानवाद' की संज्ञा दी गई है। किन्तु ये विज्ञान और परमाणु मिल कर अपने संघात या समुच्चय भी बनाते रहते हैं जो परिणाम के कारण

बनते बदलते हैं; इसे 'संघातवाद' का नाम दिया गया है। सन्तानवाद और संघातवाद क्षणभंग्वाद के ही दो रूप हैं।

बौद्ध दर्शन में पाँच स्कन्ध माने गये हैं- रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। इनमें से प्रथम रूप-स्कन्ध भौतिक है जो पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणुओं से बनता है और हमारा शरीर इसी के अन्तर्गत आता है। शेष चारों स्कन्ध मानस हैं, विभिन्न मानसिक भावों या प्रवृत्तियों के संघात हैं। इस क्षणिक पञ्चस्कन्धसंघात को 'भौतिक पदार्थ'। किन्तु दोनो उपचार मात्र हैं। दोनो की कोई वास्तव सत्ता नहीं है; वास्तव सत्ता केवल क्षणिक विज्ञानों और क्षणिक परमाणुओं की है।

हीनयान ने क्षणिक-प्रवाह को समझाने के लिये नदी की जलधारा और दीपशिखा के दृष्टान्त दिये हैं। हम उसी जल में दुबारा नहीं नहा सकते क्योंकि नदीके जिस जल में हमने पहली डुबकी लगाई थी वह तो बह कर आगे चला गया और दूसरी डुबकी दूसरे जल में ही लगेगी। नदी जल-समूहों का निरन्तर प्रवाह है जिसमें एक जल-समूह के बहने के बाद तुरन्त दूसरा जल-समूह उसका स्थान ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। इसी प्रकार जलते हुए दीपक को देख कर यह नहीं कहा जा सकता है कि यह वही दीपक जल रहा है या एक दीप-शिखा जल रही है। वस्तुतः दीपक कई क्षणिक शिखाओं का निरन्तर प्रवाह है जिसमें एकक्षणिक लौ के जाते ही उसका स्थान तुरन्त दूसरी लौ ले लेती है और यह क्रम दीपक के जलने तक निरन्तर चलता रहता है। एक जल-समूह दूसरे जल-समूह के 'समान' है, किन्तु 'वहीं' नहीं है, एक दीपशिखा दूसरी दीपशिखा के 'समान' है, किन्तु वही नहीं है। इसी प्रकार एक क्षणिक विज्ञान या परमाणु दूसरे क्षणिक विज्ञान या परमाणु के 'समान' है, किन्तु 'एक' ही नहीं है। प्रवाह के तीव्र वेग और निरन्तरता के कारण 'समानता' पर 'एकता' का आरोप और प्रवाह की 'अनवच्छिन्नता' पर 'नित्यता' का आरोप कर दिया जाता है, किन्तु यह आरोप उपचार मात्र है, तथा वस्तुतः भ्रान्ति है।

18 वीं शती के पाश्चात्य दार्शनिक ह्यूम का मत इस बौद्ध मत से पर्याप्त समानता रखता है। ह्यूम ने भी आत्मा नामक चेतन द्रव्य और बाह्य पदार्थ नामक जड़ द्रव्य का इसी प्रकार खण्डन किया है। उनका कथन है कि हमें प्रत्यक्ष से विज्ञान-धारा और इन्द्रिय-सम्वेदनधारा के अतिरिक्त किसी चेतन या जड़ द्रव्य का अनुभव नहीं होता। तथाकथित आत्म-द्रव्य और जड़ द्रव्य उन विभिन्न क्षणिक विज्ञानों और इन्द्रिय-सम्वेदनों के पुंज के अतिरिक्त कुछ नहीं है जो अकल्पनीय वेग से एक दूसरे के बाद आते रहते हैं और जिनके परिवर्तन तथा गति की अक्षुण्ण दारा निरन्तर बह रही है। इनमें सादृश्य, आनन्तर्य और नैरन्तर्य तो है, किन्तु एकत्व, द्रव्यतत्व और नित्यत्व नहीं है। ह्यूम ने तो कारणकार्यभाव का भी खण्डन किया है। ह्यूम के अनुसार विज्ञानों और सम्वेदनों के अस्त्र प्रवाह में इन पृथक-पृथक विज्ञानों और सम्वेदनों में आनन्तर्य सम्बन्ध का अनुभव तो होता है, किन्तु इस आनन्तर्य की अनिवार्यता का अनुभव नहीं होता। पूर्व विज्ञान और उत्तर विज्ञान में पूर्वापर या आनन्तर्य सम्बन्ध तो है क्योंकि प्रथम विज्ञान द्वितीय का पूर्ववृत्ति है, किन्तु इस पूर्ववृत्तित्व के नियतत्व का ज्ञान हमें नहीं होता, अथः इनमें कारणकार्य-सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। हीनयान-दर्शन इस बात में ह्यूम-दर्शन से श्रेष्ठ है, क्योंकि वह कारणकार्यसम्बन्ध को मानता है। कोई भी बौद्ध मत प्रतीत्यसमुत्पाद को स्वीकार किए बिना 'बौद्ध' नहीं हो सकता क्योंकि यह बुद्ध-प्रतिपादित केन्द्रीय सिद्धान्त है। सर्वास्तिवाद ने भले ही कारण-कार्य-शृंखला के अंगों को क्षणिक धर्मों के स्तर पर उतार दिया है, तथापि कारण एवं कार्य क्षणों में वह अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकार करता है तथा कारण-क्षण में कार्य-क्षण को उत्पन्न करने की शक्ति का प्रतिपादन करता है। ह्यूम के समान वह इन्द्रियानुभववादी नहीं है क्योंकि वह समस्त ज्ञान को इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तक ही सीमित नहीं करता। वह, कान्ट के समान, बुद्धि-विकल्पों की अनिवार्यता स्वीकार करता है। वह समाधि में प्रकाशित निर्विकल्प प्रज्ञा को भी स्वीकार करता है क्योंकि इसके बिना निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता।

'मिलिन्द-पञ्हों' (मिलिन्द-प्रश्न) नामक ग्रन्थ में भदन्त नागसेन और यवन-राजा मिलिन्द (सम्भवतः ग्रीक राजा मेनेण्डर) के सम्वाद द्वार पुद्गल-नैतात्म्य का सुन्दर निरूपण किया गया है। यवनों के राजा मिलिन्द ने भदन्त नागसेन के पास जाकर पूछा-भन्ते! आपका शुभ नाम क्या है?

महाराज ! लोग मुझे 'नागसेन' के नाम से पुकारते हैं; वास्तव में इस नाम का कोई पुद्गल या जीवात्मा नहीं है।

भन्ते ! यदि नागसेन नाम का कोई पुद्गल नहीं है, तो शील का पालन कौन करता है? ध्यान-भावना का अभ्यास कौन करता है? आर्य मार्ग के फल रूप निर्वाण का साक्षात्कार कौन करता है? फिर तो कुशल और अकुशल कर्म भी नहीं होने चाहिये। भन्ते ! तब तो आप के कोई आचार्य भी नहीं है। फिर तो आपकी उपसम्पदा भी नहीं हुई। तो फिर नागसेन कौन है? भन्ते ! क्या आपके केश नागसेन हैं?

नहीं महाराज।

क्या ये रोयें नागसेन हैं?

नहीं महाराज।

क्या ये नख, दाँत, चर्म, मांस, स्यायु, अस्थि, मज्जा, रक्त, मेद नागसेन हैं?

नहीं महाराज।

क्या रूप या वेदना या संज्ञा या संस्कार या विज्ञान नागसेन हैं?

नहीं महाराज।

क्या ये पञ्चस्कन्ध मिलकर नागसेन हैं?

नहीं महाराज।

क्या इन पञ्चस्कन्धों से भिन्न कोई नागसेन है ?

नहीं महाराज।

भन्ते ! मैं पूछता-पूछता थक गया, किन्तु 'नागसेन' का पता नहीं चला।

तब भदन्त नागसेन ने राजा मिलिन्द से पूछा -

महाराज ! क्या आप यहाँ पैदल आये हैं या किसी सवारी पर?

भन्ते ! मैं रथ पर आया हूँ।

महाराज ! आप मुझे बतायें कि आपका 'रथ' कौन सा है?

क्या रथ-दण्ड रथ है? क्या रथ-चक्र (पहिये) रथ हैं?

नहीं भन्ते।

क्या अक्ष, रथ-पञ्जर, युग, रश्मियाँ रथ हैं?

नहीं भन्ते।

क्ये ये सब मिला कर रथ हैं?

नहीं भन्ते।

क्या इन सबसे भिन्न कोई रथ है?

नहीं भन्ते।

महाराज ! मैं पूछते-पूछते थक गया, किन्तु 'रथ' का पता नहीं चला। महाराज ! आप झूठ बोलते हैं कि रथ नहीं हैं। भन्ते ! मैं झूठ नहीं बोलता। दण्ड, चक्र, अक्ष आदि की अपेक्षा से 'रथ' यह नाम, संज्ञा, प्रज्ञप्ति, व्यवहार किया जाता है।

महाराज ! बहुत ठीक, अब आपने जान लिया कि रथ क्या है। महाराज ! इसी प्रकार केश, लोम, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान की आपेक्षा रख कर 'नागसेन' यह नाम संज्ञा प्रज्ञप्ति, व्यवहार किया जाता है। वास्तव में कोई नागसेन नामक पुद्गल (जीवात्मा) नहीं है।

उपर्युक्त सम्वाद से यह स्पष्ट होता है कि कोई नित्य या परिणामि-नित्य पुद्गल या जीवात्मा नामक चेतन द्रव्य (नागसेन) तथा भौतिक पदार्थ नामक जड़ द्रव्य (रथ) नहीं है। ये केवल नाम या प्रज्ञप्ति हैं जो क्षणिक धर्मों के सन्तान (प्रवाह) और संघात के कारण आरोपित या उपचरित कर दिये जाते हैं।

हीनयान ने कर्ता के बिना कर्म को स्वीकार किया है। जीव या पुद्गल नहीं है, किन्तु पुनर्जन्म होता है। इस जन्म का अन्तिम विज्ञान अगले जन्म के प्रथम विज्ञान को उत्पन्न करता है। कर्म-सिद्धान्त निर्वैयक्तिक नियम है जो स्वतः प्रभावशील है; यह किसी ईश्वर या जीवात्मा पर निर्भर नहीं रहता। कर्म सूक्ष्म परमाणुरूप भी नहीं है। हीनयान में कर्म का स्वरूप श्रौत और जैन दोनो मतों से भिन्न है।

अब हम हीनयान के अनुसार निर्वाण का निरूपण करते हैं। हीनयान के ग्रनथों में निर्वाण को अविद्या, तृष्णा, उपादान एवं तज्जन्य क्लेशों के निरोध के रूप में वर्णित किया गया है। पुद्गल-नैतात्म्य के ज्ञान से क्लेशावरण हटा जाता है। अविद्या एवं तज्जन्य तृष्णा, उपादान आदि के क्षय से क्लेशक्षय होकर निर्वाण प्राप्त होता है। जैसे तेल के क्षय से दीपक बुझ जाता है, वैसे ही क्लेश के क्षय से निर्वाण रूपी शान्ति मिलती है। किन्तु निर्वाण के विषय में बुद्ध के उपदेश इतने प्रबल थे और बारम्बार दिये गये थे कि हीनयान में भी बुद्ध-वर्णित पदों का निर्वाण के लिये प्रयोग कई स्थानों में किया गया है।

स्थविरवाद और सर्वास्तिवाद में निर्वाण को अच्युत, अभय, परम सुख, शान्त, अजर, अमृत, पर, अजात, असंस्कृत, क्षेम, शिव आदि पदों से विभूषित किया गया है। मिलिन्द-प्रश्न में नागसेन ने निर्वाण का जो वर्णन किया है वह पठनीय है-

महाराज ! निर्वाण आत्यान्तिक (एकान्त) सुख है, वह दुःख से सर्वथा अमिश्रित है। यद्यपि स्वरूपतः निर्वाण का वर्णन नहीं हो सकता क्योंकि वह अनिर्वचनीय है, तथापि गुणतः उसका किंचित् वर्णन किया जाता है। महाराज ! जिस प्रकार कमल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार निर्वाण स्स्त क्लेशों से अलिप्त है। जिस प्रकार महासमुद्र में बड़े-बड़े जीव रहते हैं, वैसे ही निर्वाण में बड़े-बड़े क्षीणास्त्रव विशुद्ध अर्हत् रहते हैं। यह निर्वाण न उत्पन्न है, न अनुत्पन्न और न उत्पादनीय। यह निर्वाणधातु परम शान्ति है, परमानन्द है, अत्युत्तम है, अद्वितीय है। समस्त संस्कारों को अनित्य, दुःख और अनात्म देखते हुए, विमल प्रज्ञा से निर्वाण का साक्षात्कार होता है। प्रज्ञा का लक्षण बताते हुए नागसेन कहते हैं- महाराज ! स्वप्रकाशता प्रज्ञा का लक्षण है। प्रज्ञा होते ही अविद्यारूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है और विद्यारूपी प्रकाश फैल जाता है। ऊहापोह की पकड़ बुद्धि का लक्षण है और अविद्या-क्लेश-कृन्तन प्रज्ञा का। जैसे जौ काटने वाले बायें हाथ से जौं की बालों को पकड़ कर प्रज्ञा से क्लेशों को काट देता है। स्थविरवाद और सर्वास्तिवाद दोनो ही निर्वाण असंस्कृत हैं, अतः वह नित्य, सुख और भावरूप अनास्रव एवं अमृत तत्व है। निर्वाण को 'निरोध' इसलिये कहा जाता है कि उसमें अविद्या का, तृष्णा का, उपादान का, भव का, क्लेशों का, कामास्त्रव, भवास्त्रव और अविद्यास्त्रव का, समस्त संस्कृत धर्मों का, समस्त दुःखों का एवं जन्म-मरण चक्र का निरोध हो जाता है। किन्तु निर्वाण स्वयं अभावात्मक नहीं है। वह भावात्मक, नित्य और असंस्कृत धर्म है जिसमें समस्त दुःखों का निरोध होता है। सर्वास्तिवाद ने 72 संस्कृत धर्म और तीन असंस्कृत धर्म माने हैं। ये तीन असंस्कृत धर्म हैं- आकाश, अप्रतिसंख्यानिरोध और प्रतिसंख्यानिरोध या निर्वाण। तीनों ही असंस्कृत होने से नित्य है; किन्तु प्रथम दो अभावात्मक है और निर्वाण भावात्मक। आकाश आवरणाभाव है। अप्रतिसंख्यानिरोध का अर्थ है क्षणिकधर्मों के प्रवाह या सन्तान में प्रत्येक धर्म का उत्पत्ति के तुरन्द बाद विनाश हो जाना; क्षणिक धर्म का स्वभाव ही है कि वह उत्पत्ति के तुरन्त बाद निरूद्ध हो जाता है; यह निरोध 'प्रतिसंख्या' अर्थात् 'ज्ञान' पूर्वक नहीं किया जाता, अतः इसकी संज्ञा अप्रतिसंख्यानिरोध है। यह वस्तुतः क्षणभंगवाद है जिसमें प्रत्येक क्षणिक धर्मो का प्रवाह सदा चलता रहता है, और 'निरोध' इसलिये कि प्रतिक्षण क्षणिक धर्म का निरोध होता रहता है। केवल निर्वाण को ही नित्य और भावात्मक माना गया है। इसमें अविद्या और उसके सारे अंगों का प्रज्ञा द्वारा अर्थात् 'प्रतिसंख्या' या ज्ञानपूर्वक पृथक-पृथक निरोध किया जाता है। अतः निर्वाण को प्रतिसंख्या-निरोध कहते हैं, किन्तु यह मात्र निरोधात्मक नहीं है। स्थविरवाद और सर्वास्तिवाद को बुद्ध के उपदेशों के आधार पर निर्वाण को असंस्कृत, नित्य, सुखरूरप, शिव, अमृत तत्व स्वीकार करना पड़ा, किन्तु उनकी बहुत्ववादी और वस्तुवादी दृष्टि ने निर्वाण को सही रूप में नहीं समझा। निर्वाण 'संस्कृत' नहीं है, किन्तु निर्वाण 'धर्म' भी नहीं है, क्योंकि धर्म का अर्थ है द्रव्य, विषय, ज्ञेय, पदार्थ, वस्तु और निर्वाण पदार्थ नहीं है। निर्वाण को अन्य धर्मों से भिन्न किन्तु उनके साथ एक 'धर्म' मान लेना और उसे सर्वोच्च धर्म के रूप में मान्यता देना, वस्तुतः निर्वाण को धर्म के स्तर पर गिराना है। उसे ज्ञेय और पदार्थ मानना उसका उपहास करना है। निर्वाण 'धर्म' नहीं है; वह सब धर्मों की 'धर्मता' है। वह सब धर्मों में व्याप्त रह कर भी सबके पार है। वह धर्मान्तर्यामी और धर्मातीत है। वह निरपेक्ष परम तत्व है।

अब सर्वास्तिवाद और सौत्रान्तिक सम्प्रदायों के कुछ प्रमुख भेदों पर भी दृष्टिपात कर लें। अभिधर्मज्ञानप्रस्थान नामक ग्रन्थ की 'विभाषा' व्याख्याओं को सर्वाधिक महत्व देने के कारम सर्वास्तिवादी को 'वैभाषिक' कहा जाने लगा। सूत्रपिटक के सूत्रान्तों पर विशेष आग्रह देने के कारण 'सौत्रौन्तिक' नामकरण हुआ। वैभाषिक बाह्यप्रत्यक्षवादी है। उनके अनुसार प्रत्यक्ष में बाह्य पदार्थों का साक्षात् ज्ञान होता है। सौत्रान्तिक बाह्यानुमेयवादी है। उनके अनुसार बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्षज्ञान नहीं होता, अपितु उनका अनुमान किया जाता है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर बाह्य पदार्थ इन्द्रियसम्वेदन द्वारा हमारे मानस पर अपनी छाप या चित्र छोड़ते हैं; हमें प्रत्यक्ष इन्ही चित्रों का होता है जिनके आधार पर हम मूल पदार्थों का अनुमान करते हैं। वैभाषिक का आक्षेप है कि जब हमें 'बिम्ब' या मूल पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं होता, तो हम 'प्रतिबिम्ब' या चित्र को देखकर यह कैसे जान सकते हैं कि यह प्रतिबिम्ब अमुक बिम्ब का ही है? वैभाषिक 75 धर्मों को स्वीकार करता है; सौत्रान्तिक ने उनकी संख्या 43 तक सीमित कर दी है। सौत्रान्तिक वैभाषिक से अधिक आलोचनात्मक दृष्टि रखते हैं। वे बुद्धि की 'कल्पना' शक्ति को, उसकी विकल्पीकरण की क्रिया को महत्व देते हैं और उसे अनुभव निरपेक्ष मानते हैं। इस अर्थ में सौत्रान्तिक, वैभाषिक और विज्ञानवादी के बीच की श्रृंखला है, तथा उनके द्वारा विज्ञानवाद के लिये मार्ग प्रशस्त करने का कार्य किया गया है। वैभाषिक और सौत्रान्तिक में एक महत्वपूर्ण भेद निर्वाण के स्वरूप के विषय में है। वैभाषिक निर्वाण को भावात्मक धर्म या वस्तु मानते हैं जहाँ अविद्या और उसके समस्त कार्यों का निषेध होता है। सौत्रान्तिक की आपत्ति है कि इस मान्यता से निर्वाण एक जड़ द्रव्य के समान हो जायेगा क्योंकि पञ्चस्कन्धों का निषेध होने से उसमें विज्ञान या चैतन्य का निषेध भी मानना पड़ेगा। सौत्रान्तिक के अनुसार निर्वाण 'धर्म या वस्तु' नहीं है, अपितु संसार में ही व्याप्त बुद्धकाय है। इस अर्थ में भी

सौत्रान्तिक वैभाषिक और विज्ञानवाद के बीच की शृंखला है; यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि सौत्रान्तिक निर्वाण को असत् नहीं मानता, जैसा कि कुछ विद्वानों ने कहा है, क्योंकि निर्वाण को असत् मानना बुद्ध को और बौद्ध धर्म को नकारना होगा जो कोई भी बौद्ध सम्प्रदाय नहीं कर सकता। सौत्रान्तिक ने केवल निर्वाण के भावात्मक द्रव्य के रूप में जड़ीकरण का, उसके विषयीकरण का, निषेध किया है।

हीनयान समीक्षा

क्षणभंगवाद के अनुसार स्वयं क्षणभंगवाद ही सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि सिद्ध-असिद्धि, विधि-निषेध, स्वीकरण-निराकरण आदि के लिये एक नित्य निरपेक्ष साक्षि-चैतन्य या आत्मा की आवश्यकता है जो समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है और जिसके बिना कोई ज्ञान या अनुभव नहीं हो सकता। क्षणिक विज्ञान स्वयं अपना ज्ञान नहीं कर सकता; वह ज्ञाता की अपेक्षा रखता है। जिसके लिये क्षणिक विज्ञान स्वयं ज्ञेय है। क्षणिक धर्मों के प्रवाह में आनन्तर्य, निरन्तरता और अनिवार्य कारण-कार्य-भाव के लिये भी नित्य ज्ञाता की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है। क्षणिक विज्ञान या क्षणिक परमाणु न तो प्रवाहापन्न हो सकते हैं और न संघात बना सकते हैं। प्रवाह की निरन्तरता के लिये भी विज्ञान या परमाणु को कम से कम तीन क्षण तक रहना आवश्यक है- प्रथम क्षण में वह उत्पन्न होगा, द्वितीय क्षण में कार्योत्पादशक्ति प्रकट करेगा और तृतीय क्षण में कार्य को उत्पन्न होगा, द्वितीय क्षण में कार्योत्पादशिक्ति प्रकट करेगा और तृतीय क्षण में कार्य को उत्पन्न करके नष्ट होगा। यदि क्षणिक धर्म की उत्पत्ति और कार्योत्पादसमार्थ्य एक ही क्षण में मान लिये जावें तो भी कम से कम दो क्षण तक तो उसे टिकना होगा अन्यथा उत्पाद और विनाश एक ही हो जावेंगे। पुनश्च, यदि क्षणिक धर्मों का प्रवाह चल रहा है और प्रतिक्षण उनका उत्पाद-विनाश हो रहा है तो उनके संघात कैसे बन सकते हैं? अतः क्षणिक धर्मों का न सन्तान या प्रवाह सिद्ध होता है और न संघात। क्षणभंगवाद कर्मवाद का, समस्त लोक-व्यवहार का, नैतिक आचरणका, आध्यात्मिक साधना का और निर्वाण-प्राप्ति का निषेध करता है। बिना कर्ता के कर्म नहीं हो सकता। यदि क्षणिक विज्ञान ही कर्ता है तो कर्मवाद ध्वस्त हो जाता है। जो कर्म करता है वह विज्ञान नष्ट हो गया और जो उस कर्म का फल भोगेगा वह विज्ञान दूसरा ही होगा। जिसने कर्म किया उसके लिये उसका फल नष्ट हो गया (कृतप्रणाश); जिसने फल भोगा उसने कर्म नहीं किया (अकृताभ्यागम)। यदि प्रत्येक व्यक्ति यह सोचने लगे कि वह प्रतिक्षण परिवर्तित होकर अन्य व्यक्ति बनता जाता है तो लोकव्यवहार सम्भव नहीं है। नैतिक कर्म और आध्यात्मिक साधना भी व्यर्थ जायेगी क्योंकि कर्म करेगा कोई और तता फल भोगेगा कोई और। इसी प्रकार जिसने निर्वाण के लिये साधना की, उसे निर्वाण नहीं मिला; और जिसने साधना नहीं ही, उसे निर्वाण प्राप्त हो गया। पुनश्च, क्षणभंगवाद के आधार पर न ज्ञान सम्भव है, न स्मृति और न प्रत्यभिज्ञा, क्योंकि इनके लिये ज्ञाता की सत्ता कम से कम दो या तीन क्षण के लिये आवश्यक है। ज्ञान; स्मृति के लिये, प्रथम क्षण में अनुभूत व्यक्ति, पदार्थ या घटना का द्वितीय क्षण में स्मरण; प्रत्यभिज्ञा के लिये, प्रथम क्षण में किसी व्यक्ति को देखना, द्वितीय क्षण में उसी व्यक्ति को पुनः देखना और तृतीय क्षण में प्रथम और द्वितीय क्षणों के अनुभवों की तुलना करके यह कहना कि 'यह वही व्यक्ति है।' जैनाचार्य हेमचन्द्र ने एक पद्य में ही क्षणभंगवाद के दोष गिना दिये हैं कि इसके अनुसार कर्म-सिद्धान्त, बन्धन, मोक्ष, मोक्ष साधन, लोकव्यवहार, ज्ञान, स्मृति और प्रत्यभिज्ञा आदि सब असम्भव हो जाते हैं। पुनश्च, यदि सब क्षणिक हैं और जो क्षणिक है वही सत् है, तो निर्वाण भी क्षणिक होना चाहिये। तब निर्वाण को असंस्कृत और नित्य द्रव्य तथा सुखरूप अमृत पद मानना असंगत होगा। और यदि निर्वाण ऐसा है, तो क्षणभंगवाद का क्षेत्र केवल प्रज्ञप्ति और व्यवहार तक होगा। पुनश्च, निर्वाण का 'धर्म' या वस्तु मानना उसको जड़ पदार्थ के स्तर पर उतार देना है। ये सब दोष और अन्तर्विरोध हीनयान दर्शन में भरे पड़े हैं।

****

स्वामी महावीर

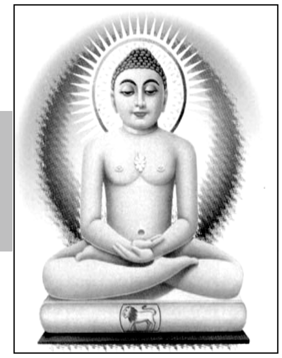

छठी शताब्दी ई. पू. में प्रचलित धर्मों में जैन धर्म काफी लोकप्रिय हुआ था। जैन परम्परा के अनुसार इस धर्म में 24 तीर्थंकर हुए है। इनमें प्रथम ऋषभदेव हैं, किन्तु 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ को छोड़कर पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता संदिग्ध है।

वर्द्धमान महावीर का जन्म प्राचीन वज्जि गणतन्त्र की राजधानी वैशाली के निकट कुण्डग्राम के ज्ञातृक कुल के प्रधान सिद्धार्थ के यहाँ 540 ई. पू. में हुआ था। इनकी माता का नाम त्रिशला था, जो लिच्छवि राजकुमारी थी, तथा उनकी पत्नी का नाम यशोदा था।

12 वर्ष तक लगातार कठोर तपस्या एवं साधना के बाद 42 वर्ष की अवस्था में महावीर को जुम्भिकग्राम के समीप जुपालिका नदी के किनारे एक साल वृक्ष के नीचे कैवल्य(सर्वोच्च ज्ञान) प्राप्त हुआ। उनकी मृत्यु पावा में 72 वर्ष की उम्र में 468 ई.पू. में हुई।

अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर की ऐतिहासिकता में कोई सन्देह नहीं है। ये छठी सती ई.पू. में हुए और ये महात्मा बुद्ध के समकालीन थे तथा आयु में उनसे काफी बड़े थे। जैन धर्म बुद्ध धर्म से बहुत प्राचीन है। जैन दर्शन और धर्म का जो रूप चला आ रहा है उसके प्रवर्तन का प्रमुख श्रेय अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी को है। बौद्ध निकाय में वर्धमान महावीर का उल्लेख 'निगण्ठ नातपुत्त' (निर्ग्रन्थ ज्ञातृ-पुत्र) के नाम से हुआ है क्योंकि ज्ञातृ नामक क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुए थे। दिम्बर रहने के कारण और कर्मबन्धन की ग्रन्थि खोल देने के कारण उन्हें 'निर्ग्रन्थ' कहा जाता है। रागद्वेषादिविजय के कारण वे 'महावीर' और 'वीतराग' हैं। सर्वज्ञ सिद्धपूरुषों को 'अर्हत्' भी कहते हैं। जैन धर्म दो सम्प्रदायों 'महावीर' और 'वीतराग' है। सर्वज्ञ सिद्धपुरुषों को 'अर्हत्' भी कहते हैं। जैन धर्म दो सम्प्रदायों में विभक्ता है- श्वेताम्बर और दिगम्बर। दोनो प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों के विषय में मतभेद साधारण हैं और अधिकतर चरित्र से सम्बद्ध है। दिगम्बर आचार-पालन में अधिक कठोर हैं; श्वेताम्बर कुछ उदार हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनि निर्वस्त्र रहते हैं; श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मुनि श्वेत वस्त्र धारण करते हैं।

ज्ञान

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का है, अपरोक्ष तथा परोक्ष। अपरोक्ष ज्ञान के तीन भेद है- अवधि, मनः पर्याय और केवल; परोक्ष ज्ञान के दो भेद हैं- मति और श्रुत जैन दर्शन में अपरोक्ष या प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान का भेद जैनेत्तर दर्शनों से भिन्न है। अन्य दर्शनों में यह भेद निर्विकल्प और सविकल्प के आधार पर किया गया है; अपरोक्ष ज्ञान को निर्विकल्प और परोक्ष ज्ञान को सविकल्प माना गया है। साधारणतया इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं, किन्तु इसमें निर्विकल्पता केवल इन्द्रिय-संवेदनाश में ही रहती है और इन्द्रिय-सम्वेदन को 'ज्ञान' के रूप में परिणत होने के लिये बुद्धि-विकल्पों द्वारा नियमित होना पड़ता है। अतः समस्त लौकिक ज्ञान, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष-ज्ञान सहित सविकल्प ही होता है।

परोक्ष ज्ञान के दो भेद हैं, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। मतिज्ञान के अन्तर्गत बाह्य इन्द्रियजन्य ज्ञान (बाह्य प्रत्यक्ष), मानस ज्ञान (मानस प्रत्यक्ष) और अनुमान आते हैं। श्रुतज्ञान (शब्द) मतिपूर्वक होता है। इसमें शब्दोल्लेख रहता है। जैनागमों का ज्ञान श्रुतज्ञान हैं। जैन दर्शन द्वारा स्वीकृत प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, ये तीनों प्रमाण परोक्ष ज्ञान के अन्तर्गत आते हैं और इन्द्रिय-मनःसापेक्ष है।

अपरोक्ष या प्रत्यक्ष ज्ञान ये तीन हैं - अवधि, मनःपर्याय और केवल ज्ञान। इन्द्रिय द्वारा अदृष्ट दूरस्थित पदार्थों का ज्ञान 'अवधिज्ञान' कहलाता है। यह अतीन्द्रिय है। दिक-काल से सीमित होने के कारण यह 'अवधि' कहलाता है। अन्य व्यक्तियों

के मन के भावों और विचारों का ज्ञान 'मनःपर्यायज्ञान' कहलाता है, किन्तु यह मनःसापेक्ष नहीं है। यह ज्ञान भी सीमित है। अवधि और मनःपर्याय दोनों ज्ञान सीमित होने पर भी अपरोक्ष कहे गये हैं क्योंकि इनका अनुभव आत्मा स्वयं इन्द्रिय और मन के माध्यम के बिना ही करता है। तीसरा अपरोक्ष ज्ञान 'केवलज्ञान' है जिसका अर्थ है शुद्ध सर्वज्ञता। जब आत्मा के समस्त आवरणीय कर्मों का आत्यन्तिक नाश कर दिया जाता है तब आत्मा अपने शुद्ध सर्वज्ञरूप में प्रकाशित होता है। इसे 'केवलज्ञान' कहते हैं। वस्तुतः यही शुद्ध अपरोक्ष ज्ञान है जिसे हेमचन्द्राचार्य ने आत्मा के 'स्वरूपाविर्भाव' की संज्ञा दी है' और जिसे आचार्य गुणरत्न ने 'पारमार्थिक प्रत्यक्ष' कहा है।

अनेकान्तवाद

जैन तत्वमीमांसा वास्तववादी और सापेक्षतावादी बहुतत्ववाद है। इसे अनेकान्तवाद कहते हैं। इस शब्द में 'अन्त' पद का अर्थ वस्तु और धर्म दोनो हैं अर्थात् इस लोक में अनेक वस्तुयें हैं और उनमें से प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म हैं। तत्व को अन्तधर्मात्मक माना गया है क्योंकि प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं। प्रत्येक वस्तु में दो अंश होते हैं, नित्यांश और अनित्यांश। नित्यांश के कारण प्रत्येक वस्तु नित्य है और अन्त्यिांश के कारण उत्पत्ति-विनाशशील है। वस्तु के एक अंश को ही उसका सम्पूर्ण स्वरूप मान लेना 'एकान्तवाद' है जो असत्य और भ्रामक है। जैनमत वस्तु के अनन्त गुण-पर्याय स्वीकार करता है, अतः वह स्वयं को 'अनेकान्तवादी' कहता है।

सामान्य मानव के लिये सारी वस्तुओं को जानना या एक वस्तु के ही सारे धर्मों को जानना असम्भव है। हम कुछ वस्तुओं को और उनके कुछ धर्मों को ही जान सकते हैं। लोक में अनन्त वस्तुएँ है और इनमें से प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म हैं, इस तत्वमीमांसीय सिद्धान्त का नाम 'अनेकान्तवाद' है।

स्याद्वाद ज्ञान की सापेक्षता का सिद्धान्त है। 'स्यात' पद का सामान्य अर्थ 'सम्भवतः' या 'शायद' है, जिसमें संशय झलता है।किन्तु जैनदर्शन में 'स्यात' पद का अर्थ संशय नहीं है। यदि 'स्यात' पद का अनुवाद 'किसी न किसी प्रकार' या 'पता नहीं कैसे' किया जाय तो इसमें अज्ञेयवाद की गन्ध आती है और जैनदर्शन को अज्ञेयवाद स्वीकार नहीं है। यह जान लेना आवश्यक है कि जैनदर्शन में 'स्यात' पद का प्रयोग विशेष अर्थ में किया गया है, जो ज्ञान की सापेक्षता का सूचक है। हमारे ज्ञान के आंशिक और सापेक्ष होने के कारम हमारे सारे प्रकथन और परामर्श-वाक्य भी आशिंक और सापेक्ष होते हैं। इस तथ्य के प्रकाशन के लिये प्रत्येक प्रकथन और परामर्श-वाक्य के पूर्व 'स्यात' पद का प्रयोग अवश्य करना चाहिये। 'स्यात' इसी सापेक्ष सत्य का सूचक है।

जैन मतानुसार साधारणतया ज्ञान और तद्विषयक वाक्य तीन प्रकार के होते हैं। इन्हें दुर्नीति या दुर्णय, नय और प्रमाण कहते हैं। किसी वस्तु के विषय में यह कथन कि 'यह सत् ही है' दुर्नीति या दुर्णय अर्थात् दोषयुक्त नय है, क्योंकि इसमें आंशिक और सापेक्ष सत्य को उस वस्तु को त्रैकालिक अपरिवर्तनशील नित्य तत्व बताकर उसके परिणाम, उत्पाद, व्ययादि धर्मों का निषेध करता है। अतः यह दोषयुक्त नय है। किसी वस्तु के लिये यह कथन कि 'यह सत् है', 'नय' कहलाता है, क्योकि यह वस्तु के एक धर्म का विधान करात है, उसके अन्य धर्मों का निषेध नहीं करता। वस्तु के अनन्त धर्मों में धर्म के ज्ञान को और उस ज्ञान की न्याय-वाक्य में अभिव्यक्ति को 'नय' कहा जाता है। आंशिक ज्ञान होने से यह दुर्णय तो नहीं है, किन्तु प्रमाण को कोटि में नहीं आता, क्योंकि इसमें ज्ञान की आंशिकता दुर्णय तो नहीं है, किन्तु प्रणाण की कोटि में नहीं आता, क्योंकि इसमें ज्ञान की आंशिकता को स्पष्ट रूप से प्रकाशित नहीं किया गया है। किसी वस्तु के लिये यह कथन कि 'यह स्यात् सत् है', 'प्रमाण' है, क्योंकि इसमें ज्ञान की आंशिकता और सापेक्षता प्रकाशित है। अतः न्याय-वाक्यों के पूर्व 'स्यात' पद का प्रयोग न करना लौकिक ज्ञान की निरपेक्षता तथा ऐकान्तिकता का विधान करना है, जो असत्य और भ्रामक है। जैन दर्शन के अनुसार धार्मिक संघर्ष और दार्शनिक विरोध इस निरपेक्ष एकान्तवाद के परिणाम हैं।

स्याद्वाद को सप्त-भङ्गी-नय भी कहते हैं। साधारणतया न्याय-वाक्य दो प्रकार के माने जाते हैं- अन्वयी (विधानात्मक) और व्यतिरेकी (निषेधात्मक)। किन्तु जैनमत नय के सात प्रकार का भङ्ग स्वीकार करता है, अतः इसे सप्त-भङ्गी-नय कहते हैं। ये सात भङ्ग इस प्रकार है-

1. स्यात अस्ति : सापेक्षतया वस्तु है।
2. स्यात नास्ति छ सापेक्षतया वस्तु नहीं है।
3. स्यात् अस्ति नास्ति : सापेक्षतया वस्तु है और नहीं है।
4. स्यात् अवक्तव्यम् : सापेक्षतया वस्तु अवक्तव्य है।

5. स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् : सापेक्षतया वस्तु है और अवक्तव्य है।

6. स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् : सापेक्षतया वस्तु नहीं है और अवक्तव्य है।

7. स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् : सापेक्षतया वस्तु है, नहीं है और अवक्तव्य भी है।

जैन दर्शन के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान उसके द्रव्य रूप, देश और काल की दृष्टि के किया जाता है। वस्तु की अपने द्रव्य, रूप, देश और काल की दृष्टि से सत्ता है, किन्तु अन्य द्रव्य रूप, देश और काल की दृष्टि से सत्ता नहीं है। ज्ञान की इस सापेक्षता के प्रकाशन के लिये प्रत्येक न्याय-वाक्य के पूर्व 'स्यात्' पद का प्रयोग किया जाता है।

तत्वमीमांसा

जैन तत्वमीमांसा वस्तुवादी और सापेक्षतावादी बहुतत्ववाद है जिसे अनेकान्तवाद कहते हैं। हम ऊपर इसका विवेचन कर चुके हैं। तत्व,द्रव्य अनेक हैं और प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म होते हैं- अनन्तधर्मात्मकमेव तत्वम् । सत् वस्तु में ध्रौव्य (नित्यता) तथा उत्पाद और व्यय (अनित्यता) ये तीनों धर्म होते हैं- उत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्तं सत् । द्रव्य वह है जिसके गुण और पर्याय नामक धर्म हों- गुणपर्यायवत् द्रव्यम् । चेतन जीवन और अचेतन अजीव दो प्रमुख और स्वतन्त्र तत्व हैं। इन सबका विवेचन हम ऊपर अनेकान्तवाद के अन्तर्गत कर चुके हैं। यहाँ हम द्रव्य-विभाग का निरूपण कर रहे हैं।

द्रव्य के सर्वप्रथम दो भेद हैं- अस्तिकाय और अनस्तिकाय। अस्तिकाय का अर्थ है विस्तार-युक्त; सत्तायुक्त होने से 'अस्ति' और शरीर के समान विस्तार-युक्त होने से 'काय'। अस्तिकाय द्रव्य पाँच हैं- जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म और अधर्म। ये सब बहुप्रदेशव्यापी द्रव्य हैं। इनमें जीव के अतिरिक्त शेष चार द्रव्य अजीव हैं। काल को एकमात्र अनस्तिकाय तथा एक-प्रदेशव्यापी द्रव्य माना गया है। जीवों के दो भेद हैं, बद्ध और मुक्त। बद्ध जीव भी दो प्रकार के हैं, त्रस अर्थात् जंगम और स्थावर। त्रस जीवों के चार प्रकार हैं- पाँच इन्द्रिय वाले, चार इन्द्रिय वाले, तीन इन्द्रिय वाले और दो इन्द्रिय वाले जीव। स्थावर जीव एक इन्द्रिय वाले हैं। अजीव के चार भेद हैं - पुद्गल, आकाश, धर्म और अधर्म। पुद्गल के दो प्रकार हैं - अणु और संघात। पुद्गल जड़ भौतिक तत्व है। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण इसके गुण हैं; शब्द मूलगुण नहीं है, अपितु उत्पन्न होने वाला परिणाम हैं। यह ध्यान में रखने योग्य है कि जैन मत 'कर्म' को भी पौद्गलिक मानता है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के समान कर्म भी भौतिक तत्व है जो जीव के चारो ओर चिपक कर उसे बद्ध बना देता है। नित्य और अनन्त आकाश दो प्रकार का है - इसमें द्रव्यों की स्थिति होती है वह लोकाकाश है, तथा इसके ऊपर अलोकाकाश है जहाँ द्रव्य नहीं है। आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता। द्रव्यों के विस्तार की सिद्धि के लिये आकाश का अनुमान किया जाता है। धर्म और अधर्म की कल्पना जैन मत में विशिष्ट अर्थ में पाई जाती है जो अन्य दर्शनों से सर्वथा भिन्न हैं। यहाँ धर्म और अधर्म का अर्थ न तो शुभ और अशुभ कर्म है, न पुण्य और पाप है, न गुण और पर्याय रूप धर्म है। यहाँ धर्म और अधर्म की कल्पना जीव तथा पुद्गल द्रव्यों की क्रमशः गति और स्थिति में सहायक द्रव्यों के रूप में की गई है। धर्म स्वयं गति नहीं है और न वह जीवादि द्रव्यों को गति प्रदान करता है; वह केवल स्थिति में सहायक होता है। काल को एकमात्र अनस्तिकाय द्रव्य माना गया है। काल की सत्ता अनुमान के आधार पर स्वीकार की जाती है। वर्तना (स्थिति की निरन्तरता), परिणाम (परिवर्तन), क्रिया तथा परतत्व और अपरतत्व अर्थात् पूर्व और अपर तब और अब प्राचीन और नवीन, जयेष्ठ और कनिष्ठ आदि व्यवहार काल की सत्ता के कारण सम्भव है। काल के दो भेद माने गये हैं- व्यावहारिक काल जो घटी, पल, दिन, मास, वर्ष आदि अवयवों की कल्पना से युक्त है तथा द्रव्यों के परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व का कारण है; तथा परमार्थिक काल को नित्य, निरवयव और अखण्ड है तथा जो वर्तना अर्थात् स्थिति की निरन्तरता का कारण है।

जीव चेतन द्रव्य है। चैतन्य जीव का स्वरूपलक्षण है- चैतन्यलक्षणों जीवः। प्रत्येक जीव स्वरूप से अनन्तचतुष्टयसम्पन्न अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य़ से सम्पन्न माना गया है। कर्ममल से सम्पृक्त होने के कारण बद्ध जीवों पर कर्म का आवरण पड़ जाता है जिससे उनमें उपर्युक्त स्वरूप-धर्मों का प्रकाशन नहीं होता। इन गुणों के तारतम्य के कारण जीवो के अनन्त भेद हैं। सम्पूर्णलोक जीवों से भरा पड़ा है। किन्तु जीवों में, लाइबनित्ज के चिद्णुओं के समान, गुणात्मक भेद नहीं है, केवल मात्रा-भेद है। सबसे निकृष्ट जीव एकेन्द्रिय है जो भौतिक जड़ तत्व में रहते हैं तथा निष्प्राण और अचेतन प्रतीत होते है, किन्तु इनमें भी प्राण तथा चैतन्य सुप्तावस्था में विद्यमान है। वनस्पति-जगत् के जीवों में चैतन्य तन्द्रिल अवस्था में है। मर्त्यलोक के क्षुद्र कीटों, चींटियों, मक्खियों, मधुमक्खियों, पक्षियों, पशुओं और मानवों में जीवों के चैतन्य की उत्तरोत्तर उत्कर्ष से प्रतीति होती है। इनके अतिरिक्त नरक के जीव और स्वर्ग के देवगण भी हैं। किन्तु सर्वोत्कृष्ट जीव मुक्त जीव है जिनमें आवरणीय कर्मों के क्षय के कारण अपना स्वरूप शुद्ध रूप में प्रकाशित होता है और जो अनन्त

दर्शन, अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्द सम्पन्न है।

जैन दर्शन जीव को ज्ञाता, कर्ता और भौक्ता मानता है। ज्ञान जीव का स्वरूप गुण है, अतः वह स्वाभाविक रूप से ज्ञाता है। जीव कर्मों का वास्तविक कर्ता है और इसीलिये कर्मफलों का वास्तविक भोक्ता भी है। जीव अस्तिकाय द्रव्य है, किन्तु उसका आकाश में पुद्गल के समान विस्तार नहीं होता। जीव भौतिक शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से भिन्न है। आकाश में जीव का विस्तार दीपक के प्रकाश के समान है। जिस प्रकार कई दीपों का प्रकाश एक साथ रहता है, उसी प्रकार कई जीव बिना टकराये आकाश में स्थित रहते हैं। स्वयं अरूपी होते हुये भी जीव अपने शरीर के रूप और परिमाण को धारण कर लेता है। वह न विभु है और न अणु। वह शरीरपरिमामी है। चींटी का जीव चींटी के शरीर के बराबर और हाथी का जीव हाथी के शरीर के बराबर होता है। संसारी जीवों के शरीर, इन्द्रिय और मन होते हैं जिनसे उन्हें लौकिक ज्ञान में सहायता मिलती है, किन्तु वस्तुतः शरीर, इन्द्रिय मन आदि पौद्गलिक हैं, कर्म द्वारा स्थापित आवरण हैं जो जीव के नैसर्गिक ज्ञान को अवरूद्ध करते हैं और उसके अपरोक्ष ज्ञान के बाधक हैं। कर्ममल का आत्यन्तिक क्षय ही सर्वज्ञता और मोक्ष है।

बन्ध और मोक्ष

कर्म भौतिक और पौद्गलिक है। कर्म-पुद्गलों का जीव को जकड़ लेना बन्ध है और जीव का कर्म-पुद्गलों से सर्वथा छूट जाना मोक्ष है। कर्म के आठ प्रमुख प्रकार हैं- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय, आयुष्य, मान, गोत्र, और अन्तराय। ये भोग्य जगत और भोगायतन शरीर के साथ जीव का सम्बन्ध कराने के कारण है। जीव स्वभाव से मुक्त है, किन्तु अनादि अविद्या या वासना के कारण कर्म-बन्धन में फंस जाता है। बन्धन के पाँच कारण बताये गये हैं- मिथ्यात्व (सदसदविवेक), अविरति (वैराग्य का अभाव अर्थात् रागादि), प्रमाद, कषाय (क्रोध, लोभ, मान और माया) और योग (मानसिक, वाचिक, कायिक क्रिया)। कषायों के कारण जीव कर्म-पुद्गलों को ग्रहण कर लेता है, जो उसमें घुसकर उसे जकड़ लेते हैं। यही बन्ध है। सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय मोक्ष है।

जैन दर्शन के त्रिरत्न

सम्यक दर्शन आर्थात श्रद्धा, सम्यक ज्ञान और सम्यक चारित्र- मोक्षप्राप्ति के मार्ग माने गये हैं। जैन अध्यात्म मार्ग के पथिक ले लिए सर्वप्रथम जैन शास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धान्तों और तत्वों के गहन एवं यथार्थ ज्ञान को सम्यक ज्ञान कहा गया है। इस ज्ञान को अपने आचरण में चरितार्थ करना सम्यक चारित्र है। ये जैन दर्शन के त्रिरत्न साथ-साथ रहते हैं और तीनों सम्मिलित रूप में मोक्षमार्ग माने गये हैं। श्रद्धा से ज्ञान और चारित्र प्राप्त होते हैं तथा ज्ञान से चारित्र एवं चारित्र से ज्ञान पुष्ट होता है। ज्ञान के अविद्या दूर होती है, चारित्र से कर्म-मल हटाया जाता है। तीनों एक साथ कार्य करते हैं और साधना पथ को आलोकित करके सिद्धि तक पहुँचाते हैं।

सम्यक चारित्र के लिए जैन दर्शन में 'पञ्चव्रत' का पालन आवश्यक है। ये हैं- अहिंसा (मन,वचन और कर्म से किसी को हानि न पहुँचाना), सत्य (मन, वचन और कर्म से सत्य), अस्तेय (मन, वचन और कर्म से किसी की वस्तु नहीं चुराना और किसी को उसके अधिकार या प्राप्तव्य से वञ्चित न करना), ब्रह्मचर्य (मन, वचन और कर्म से नैष्ठिक जीवन) और अपरिग्रह (मन,वचन और कर्म से भोग-विलास का त्याग और भोग्य पदार्थों के संग्रह का त्याग)। मुनियों के लिए इन व्रतों का अत्यन्त कठोरता से पालन करने का विधान है, अतः उनके लिये ये 'महाव्रत' कहे जाते हैं। गृहस्थों के लिये परिस्थिति के अनुकूल इनकों उदार बना दिया गया है और इन्हें 'अणुव्रत' की संज्ञा दी गयी है। यथा गृहस्थों के लिये ब्रह्मचर्य को धर्मानुकूल कामसेवन में सीमित कर दिया है और अपरग्रिह को सन्तोष में।

मुमुक्षु के मोक्ष तक पहुँचने के साधना-पथ के कई सोपान है, जैन दर्शन में इन्हें 'गुण-स्थान' कहा गया है। ये संख्या में चौदह हैं। इनमें प्रथम सोपान को मिथ्यात्व (अविवेक) तथा दूसरे को ग्रन्थिभेद (सदसद्विवेकोदय) कहा गया है और क्रमशः आगे के सोपानों को पार करते हुए तेरहवें सोपान को 'सयोग-केवल' (जीवन्मुक्ति सदृश) तथा अन्तिम चौदहवें सोपान को 'अयोग-केवल' (विदेहमुक्ति सदृश) कहा गया है। सयोग केवली आवरणीय कर्मों के क्षय से अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकाशित होकर अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख सम्पन्न होता है। तीर्थंकर एवं अन्य सिद्ध पुरुष अपने जीवन काल में सयोगकेवली थे। यह जीवन्मुक्ति की स्थिति है और लोकाकाश के ऊपर 'सिद्धशिला' नामक पवित्र स्थान पर आत्मस्वरूप में स्थित होकर अनन्तचतुष्टय का अनुभव करता है।

समीक्षा

स्याद्वाद की समीक्षा में हमें सविस्तार बता चुके हैं कि बहुत्ववादी तथा सापेक्षवादी वस्तुवाद को दृढ़ता से अपनाकर निरपेक्ष तत्व की उपेक्षा करना जैन दर्शन की सबसे बड़ी भूल है जिसके कारण उसमें कई दोष आ गये हैं। निरपेक्ष को स्वीकार किये बिना सापेक्ष की भी सिद्धि नहीं हो सकती। परमार्थ को माने बिना व्यवहार भी नहीं टिक सकता। जैन दर्शन और जैन-न्याय की अन्तःप्रेरणा निरपेक्ष आत्मतत्व की ओर इंङ्गित कर रही है, किन्तु जैन दर्शन उसकी ऊपर से उपेक्षा कर देता है। निरपेक्ष तत्व की यह उपेक्षा जैन दर्शन को बहुत्ववादी वस्तुवाद से ऊपर उठने नहीं देती। जीव और पुद्गल को परस्पर स्वतंत्र तथा नितान्त सत्य मानना एवं जीवों तथा परमाणुओं की अनेकता स्वीकार करना आदि इसी के परिणाम है। जब जैन दर्शन जीवों तथा परमाणुओं की अनेकता स्वीकार करना आदि इसी के परिणाम है। जब जैन दर्शन जीवों को स्वरूपतः सर्वज्ञ और शुद्ध तथा मुक्त मानता है, तब उनमें तात्विक भेद कैसे हो सकता है? जब जीवों में गुणात्मक भेद नहीं है, जब परमाणुओं में भी गुणात्मक भेद नहीं है; तब उनकी तात्विक अनेकता का प्रतिपादन सङ्गत नहीं है। जैन दर्शन जीव और पुद्गल का तात्विक सम्बन्ध स्वीकार करता है। कर्म-पुद्गल जीव को वस्तुतः मलिन एवं दूषित करके बद्ध बना देते हैं। किन्तु बन्धन वास्तविक नहीं हो सकता। कर्म अविद्या, वासना एवं कषायादि दोषों के कारण होता है। किन्तु शुद्ध जीव में अविद्या, वासना एवं दोषों को अवकाश कहाँ है? और उनके बिना कर्म-बन्धन कैसा? यदि अविद्या और कर्म जीव को वस्तुतः दूषित नहीं करते, तो जीव का बन्धन वास्तविक नहीं हो सकता। जैन मत का उत्तर है कि लोक में हम जीवों को कर्म-बद्ध ही पाते हैं यह बन्धन अनादि है, किन्तु सान्त है, मोक्ष आदि है, किन्तु अनन्त है। अतः जीव बन्धन में कब, क्यों और कैसे फंसा, इन प्रश्नों में समय तथा बुद्धि का अपव्यय किये बिना, हमारा परम कर्तव्य इस दुःख और बन्धन को सम्यक दर्शन ज्ञान और चारित्र से दूर करना है। भगवान बुद्ध ने भी इसी प्रकार अव्याकृत प्रश्नों की अपेक्षा दुःख निरोध पर बल दिया था। किन्तु भगवान बुद्ध ने समस्त बुद्धि-विकल्पों के ऊपर उठकर स्वानुभूति द्वारा निर्वाण प्राप्त कनरे का उपदेश दिया था। उन्होंने बहुत्ववादी वस्तुवाद को ठुकरा दिया था। जैन दर्शन इसी से चिपक रहा है। अतः वह विरोधों में फंस रहा है। अनेकान्तवाद, बहुत्ववाद, वस्तुवाद, स्याद्वाद् ये सब व्यवहारिक सत्य हैं; व्यवहार में इनका अपलाप नहीं किया जा सकता। किन्तु परमार्थ में निरपेक्ष परमतत्व या केवलज्ञान अर्थात् अनन्त-ज्ञानान्द रूप आत्मा का साक्षादनुभव ही एक मात्र सत्य है। इसे स्वीकार किये बिना जैन दर्शन के विरोध दूर नहीं हो सकते। प्रो. राधाकृष्णन का यह कथन सत्य है कि 'जैन दर्शन और न्याय निरपेक्ष विज्ञानवाद की ओर प्रेरित कर रहे हैं..... सापेक्षवाद निरपेक्षवाद के बिना सिद्ध नहीं होता..... जैनों का बहुत्ववाद तर्कसंगत नहीं है।''

****

श्री अरविन्द

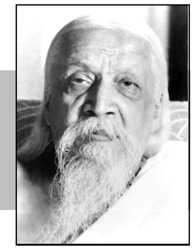

अरविन्द एक महान विद्वान, साहित्यकार, दार्शनिक,समाज सुधारक और भविष्यदर्शी थे। उनका जन्म कोलकाता में 1872 में हुआ था। उनके पिता डॉ. के.डी. घोष एक एंग्लोफाइल (anglophile) (अर्थात् अंग्रेजीसभ्यता के महान समर्थक) थे। जब अरविन्द पाँच वर्ष के थे तब उनका दाखिला दार्जिलिंग के लौरेटे कान्वेण्ट स्कूल में करा दिया गया था। सात वर्ष की आयु में उन्हें लन्दन में सेंट पॉल्स स्कूल में भेज दिया गया और उसके बाद किंग्ज कॉलेज में। उन्होंने अंग्रेजी, ग्रीक, लैटिन तथा फ्रांसीसी भाषाएं भली प्रकार सीख लीं और वे प्रमुख यूरापियन भाषाओं के जानकार हो गए। कुशाग्र विद्वान- विद्यार्थी होने के कारण उन्होंने क्लासिकलट्रिपोस परीक्षा रिकार्ड अंकों के साथ उत्तीर्ण की। उन्होंने भारतीय सिविल सेवा के लिए अर्हता प्राप्त कर ली। तथापि, उन्हें इस सेवा से निकाल दिया गया क्योंकि वे परीक्षा के अंत में घुड़सवारी की परीक्षा के लिए उपस्थित नहीं हुए थे।

जब वे 21 वर्ष के थे तब अरविन्द घोष ने महाराजा बड़ौदा के अधीन काम करना शुरु किया। वे बड़ौदा कॉलेज में फ्रांसीसी भाषा के अंशकालिक लैक्चरर नियुक्त हो गए। बाद में वे अंग्रेजी भाषा के प्रोफेसर हो गए और फिर कॉलेज के वाइज-प्रिंसीपल। वे संस्कृत भारतीय इतिहास एवं अनेक भारतीय भाषाओं में भी प्रवीण हो गए।

महान देशभक्त

सन् 1906 में अरविन्द ने सक्रिय राजनीति में भाग लेने के लिए भारत के पहले राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, कोलकाता के प्रिंसीपल के पद से त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने स्वतन्तत्रता आन्दोलन में भाग लिया और 'वन्दे मातरम् में अपने देशभक्ति भरे सम्पादकियों के लिए प्रसिद्ध हो गए। वे राष्ट्रीय नेताओं में से पहले थे जिन्होंने भारत की पूर्ण स्वतंत्रता को ही आन्दोलन का लक्ष्य बनाया। उन्होंने अपनी महन योग्यता व ऊर्जा स्वतन्त्रता संघर्ष में लगा दी। सी.आर.दास ने उन्हें - एक देशभक्ति के कवि, राष्ट्रीयता के पैगम्बर और मानवता के प्रेमी बताया है।' नेताजी सुभाष चन्द्र बोस केलिए वे 'ऐसे व्यक्ति थे जिन्के नाम की सौगन्ध खाई जा सकती है।' भारत के वायसरॉय लार्ड मिण्टो ने उन्हें 'सर्वाधिक खतरनाक व्यक्ति..... कहते हुए क़हा कि इनके साथ ध्यान से रहना होगा।'

अरविन्द ने वामपन्थी विचारकों के आदर्शवाद का समर्थन किया (अपनाया) तथा भारतीय स्वतन्त्रता के लिए निडर होकर वकालत की। उन्होंने स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्र की आशाओं को जगाया एवं लोगों से अपनी उदासीनता व निष्क्रियता त्यागने के लिए कहा। उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हें 1908 से 1909तक कैद में रखा। अपने इस एकाकी वर्ष के दौरौन अरविन्द ने आध्यात्मिक बदलाव का अनुभव किया। उन्होंने अनुभव किया कि मानव को एक नई हस्ती (New being) की कोशिश करनी और उसे प्राप्त करना चाहिए एवं धरती पर दैवी (दिव्य) जीवन का सूत्रपात करना चाहिए। अपने आध्यात्मिक अनुभव के कारण उनको विश्वास हो गयाकि इसके लिए मार्ग केवल सनातम धर्म है जो भारत का प्राचीन आध्यात्मिक ज्ञान और अनुष्ठान है।

पाँच स्वप्न

स्वतन्त्रता के अवसर पर लोग उनका संदेश चाहते थे। अरविन्द ने अपने संदेश में निम्मलिखित पाँच सपनों का उल्लेख किया :

1. "एक क्रांतिकारी आन्दोलन जिससे एक स्वतन्त्र एवं संयुक्त भारत का निर्माण होगा।"

2. "....एशिया के लोगों के पुनरूत्थान और स्वतन्त्रता तथा मानव सभ्यता की प्रगति में उसकी महान भूमिका के लिए उसकी वापसी।"

3. "...समस्त मानव जाति हेतु एक निर्मल, पवित्र एवं उदात्त जीवन का बाह्य आधार बनाते हुए एक विश्व-संघ।"

4. "....भारत का विश्व को आध्यात्मिक उपहार।"

5. ''......विकास की ओर एक कदम जो मानव को उच्चतर व बृहद्त्तर चेतना देगा और उन समस्याओं के हल शुरु करेगा जो उसे तब से परेशान और व्याकुल करती रही हैं जबसे उसने पहली बार सोचना (विचार करना) शुरू किया और व्यक्तिगत सम्पूर्णता और सम्पूर्ण समाज के सपने देखने शुरू किए।''

अरविन्द उन चन्द लेखकों में से हैं जिन्हें पढ़ना कठिन है। ऐसा संभवतः इसलिए है कि अपने लम्बे एवं कठिन (कठोर) ध्यान-योगों द्वारा उन्होंने जो अन्तर्दृष्टि प्राप्त की थी, उसे शब्दों में व्यक्त करना कठिन है।वे एक तत्वमीमांसक भी हैं जिसके विचारों की थाह पाना मुश्किल है। उनके दार्शनिक लेखन में से गुजरना धुँध में छिपी दूर-दराज चोटियों पर चढने की कोशिश जैसा है। स्पष्ट तौर पर, उनकी रचनाएँ आमआदमी के बस की बात नहीं हैं।

किन्तु उनके प्रशंसकों द्वारा संग्रहित उक्तियों पर सरसरी निगाह हमें अपनी प्राचीन संस्कृति का अन्तर दर्शन कराती है। इसमें उल्लेखनीय तीन बातें हैं। पहला तो वह गहरी श्रद्धा और प्रेम है जिसके साथ अरविन्द प्राचीन हिन्दु धर्म, संस्कृति व धर्म-ग्रंथों के बारे में बोलते हैं। दूसरी बात उनकी भाषा का साहित्यिक लालित्य है। तीसरी बात अवसाद का बोझ है जो एक संवेदनशील व्यक्ति खोखली,कमजोर संस्थाओं एवं परम्पराओं को धीरे-धीरे समाप्ति (विनाश) की ओर जाते हुए देखकर अनुभव करता है। इस प्रक्रिया में, एक अनुभूति अचानक ही हम पर हावी हो जाती है कि हम पर ही हावी हो जाती है कि हम अपनी महान संस्कृति को बीच की अवस्था में जाने दे रहे हैं।

हिन्दू धर्म के बारे में अरविन्द कहते हैं- ''मुझे हिन्दू धर्म...एक ऐसा मन्दिर (मठ) लगता है जो आधा खण्डरहर है, लोगों के लिए उदार है, बनावट में अक्सर शानदार है किन्तु महत्व की दृष्टि से सदैव ही शानदार है...झड़ता हुआ या जगह-जगह से बुरी तरह गल गया-सा, लेकिन ऐसा मंदिर जहाँ अदृश्य (unseen) की आज भी पूजा होती है और इसकी वास्तविक उपस्थितिउनके द्वारा अनुभव की जा सकती है जो सही इच्छा के साथ (सदि्च्छा) के साथ इसमें प्रवेश करते हैं...यह है जिसे हम हिन्दु धर्म कहते हैं, वह शाश्वत् धर्म है (सनातन धर्म) क्योंकि यह अन्य सभी को अपने में मिला लेता है।''

(अरविन्द के पत्र, खण्ड-11)

इसके अतिरिक्त ''हिन्दू धर्म ने.... स्वयं को कोई नाम नहीं दिया, क्योंकि इसने अपने लिए मतवादों की कोई सीमाएं नहीं बनाई हैं; यह किसी सार्वभौमिक निष्ठा का दावा नहीं करता, एकल भ्रमातीत धर्म सिद्धान्त का आग्रह नहीं किया, मुक्ति के लिए कोई तंग मार्ग या द्वार नहीं बनाया, यह मानव मन (भावना) के ईश्वर की ओर प्रयास की लगातार बढ़ती परम्परा की बजाय एक धर्ममत या सम्प्रदाय है।आध्यात्मिक आत्म-विकास एवं आत्म-अन्वेषण हेतु बड़ा-सा अनेक पहलुओं व अनेक अवस्थाओं वाला प्रावधान है, इसे अपने लिए केवल एक नाम से, जिसे यह जानना है, कहने का अधिकार है, जो शाश्वत धर्म, सनातन धर्म है।''**(इण्डियाज रिबर्थ)**

अरविन्द ने भारतीय संस्कृति पर निम्नलिखित रोचक टिप्पणी की हैः ''यह अधिक उन्नत,सूक्ष्म,अनेक-पक्षी, ग्रीक से अधिक रहस्यमय एवं गहन, रोमन से अधिक उदार और मानवीय, प्राचीन मिस्री (Egyption) से अधिक बड़ा व आध्यात्मिक, किसी अन्य एशियाई सभ्यता से अधिक व्यापक एवं भौतिक, 18वीं शताब्दी के पूर्व के यूरोप से अधिक बुद्धिवादी, इन सब के पास जो कुछ है, उतना तथा अधिक रखते हुए यह यह सभी विगत मानव संस्कृतियों के प्रभाव में सर्वाधिक शक्तिशाली, आत्म-लीन, उत्साहदायक और व्यापक है।''

यहाँ अरविन्द ने भारतीय संस्कृति को प्राचीन यूनान, रोम तथा 18वीं शताब्दी से पूर्व के यूरोप की संस्कृतियों से महान माना है। उन्होंने गीता पर भी बात की है जिसे वे ऐसा समयातीत दस्तावेज मानते हैं जो बाद की सभ्याताओं व बाद की पीढ़ियों द्वारा नए-नए भाष्य किए जाने योग्य रहा हैः 'भगवत् गीता मानव जाति का एक सच्चा ग्रन्थ है जो पुस्तक से अधिक एक जीवन्त रचना है,जिसमें हर आयु के लिए नयासंदेश तथा हर सभ्यता के लिए नए अर्थ हैं।''

(द मैसेज ऑफ भगवत् गीता)

आन्तरिक शक्ति सम्बन्धी एक उद्धरण के साथ हम अपनी बात समाप्त करते हैंः ''महान (लोग) सर्वाधिक शक्तिशाली हैं जब वे एक होकर खडे होते हैं, अपने होने (अस्तित्व) की ईश्वर-प्रदत्त शक्ति ही उनका बल है।'' (सावित्री)

अरविन्द की रचनाओं ने दासता में बँधे राष्ट्र के मनोबल को बढ़ाया होगा। उन्होंने एक विदेशी ताकत की दासता में रह रहे लोगों के दिमाग से दूसरों पर निर्भरता, अवसाद और हीनता के भावों को हटा दिया होगा। राष्ट्र के शानदार विगत के बोध ने उनके दिल और दिमाग को झकझोर दिया होगा। अरविन्द की सोच (दर्शन) में कुछ भी तंग या उग्र देश-भक्ति नहीं है। उनका गहन आन्तरिक ध्यान-योग पर आधारित आध्यात्मिक आत्म-बोध का संदेश सारी मानवता के लिए है।

दार्शनिक पृष्ठभूमि : श्री अरविंद के विचारों पर उनके विस्तृत अध्ययन तथा विभिन्न संस्कृति की जानकारी का प्रभाव तो है ही। उन्होंने कम ही उम्र में पाश्चात्य दर्शन तथा साहित्य का अध्ययन किया था। वे प्लेटो तथा अरस्तू जैसे महान ग्रीक विचारकों के विचार से भलीभांति परिचित थे। वे आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के कुछ आदर्शवादी तथा प्रत्ययवादी विचारों से भी पूर्णतया परिचित थे। उनके वैचारिक लेखों में स्पष्ट संकेत मिलता है कि उन्हें हेरोल, व्हाइटहेड तथा बर्गसां आदि के तत्वामीमांसीय विचारों की पूर्ण जानकारी थी। साथ ही साथ उन्होंने भारतीय दर्शनों का गहन अध्ययन किया था। विशेषतः 'अद्वैत वेदान्त' तथा 'योग' दर्शनों का तो उनके विचारों पर स्पष्ट प्रभाव है। किंतु उनकी रचनाओं को पढ़कर ऐसा लगता है कि उन्होंने अपने चिंतन में इन सभी विचारों को सर्वथा अपने ढंग से सजाते हुए एक सर्वथा व्यापक तथा नवीन सत-दृष्टि स्थापित करने की चेष्टा की है।

उनकी इस मूल दृष्टि का पूर्णतया निश्चित विवरण देना सरल नहीं है, कम से कम प्रचलित दर्शनशास्त्रीय 'लेबलों' में हम किसी को भी उनके विचार पर चिपका नहीं सकते। बड़े ही विस्तृत अर्थ में उनके दर्शन को 'आध्यात्मवाद' (Idealism) का एक उदाहरण कहा जा सकता है। इसे आध्यात्मवादी इस आधार पर कहा जा सकता है कि एक ओर तो यह 'सत्' के स्वरूप को आध्यात्मिक मानता है, तथा साथ यह एक 'चरम आदर्श' की भी कल्पना करता है, जिसकी ओर पूर्ण मानव शक्ति के प्रवृत्त होने की अनुशंसा की गई है। किंतु उनका यह आदर्शवाद या आध्यात्मवाद न तो 'अमूर्त एकवाद' (Abstract Monism) के समान है और न 'एकेश्वरवाद' (Theism) के समान है।

वस्तुतः हरिदास चौधरी ने श्री अरविंद के दर्शन के लिए एक नाम का चयन किया है जो इस कारण उपयुक्त प्रतीत होता है कि उस नाम से श्री अरविंद का मूल अभिप्राय अवश्य व्यक्त होता है। वस्तुतः उन्होंने तीन शब्दों का प्रयोग किया है, जो तीन समानार्थक हैं। वे कहते हैं, the Philosophy of Sri Aurobindo may aptly be described as Integral Non-dualism (पूर्ण अद्वैत), or internal Idialism (पूर्ण विज्ञान) or just integralism (पूर्णवाद)। अंग्रेजी के 'Integral' शब्द का अर्थ है, 'जिसमें सभी विभिन्नताएं अपनी विभिन्नताओं को खोकर एकरूप हो जाएं।' इस दृष्ट से श्री अरविंद का अद्वैत-विचार बौद्धिक एकवाद से भिन्न है। सामान्यतः दार्शनिक परम्परा के एकवादी विचार बौद्धिक रूप से, एक वैचारिक एकरूपता की स्थापना करते हैं। इस दृष्टि से वहां यह दावा निहित हो जाता है कि बौद्धिकता की दृष्टि सत् की एकरूपता को पकड़ पाती है, सत् के विषय में कुछ निश्चित रूप में कह पाती है। श्री अरविंद के विचारों में बौद्धिकता का यह दावा उपयुक्त नहीं है। बौद्धिकता की दृष्टि से सत् को अनिवर्चनीय होना ही है, वस्तुतः उसे 'एक' भी कहने की कोई बौद्धिक प्रणाली नहीं है। यह विचार केवल संकेत मात्र दे सकता है कि सत् की अनुभूति किसी अतिबौद्धिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि में ही संभव है। अतः 'integral' शब्द अथवा 'पूर्णवाद' से यहां तात्पर्य यह है कि इस विचार में 'सत्' का चित्रण कुछ इस रूप में है कि सत् में 'द्रव्य' तथा 'आत्मा' - अथवा 'निम्नतर रूप' तथा 'उच्चतर रूप' आदि के भेद पूर्णतया समन्वयित रहते हैं - समाप्त रहते हैं। हम देखेंगे कि अतिचेतन सर्जनात्मक शक्ति - जिसे श्री अरविंद के विचारों में 'मां' (The mother) कहा गया है कि उसकी गतिरूपता सत् में निम्नतर जगत तथा उच्चतर जगत का विरोध लुप्त हो जाता है। इसी कारण सत् को पूर्ण कहा जा रहा है - 'पूर्ण अद्वैत' कहा जा रहा है।

निषेधों के दो रूप (The two Negations)

Integralism (पूर्ण अद्वैत) के निहितार्थों को समझने के लिए श्री अरविंद के द्वारा जो 'दो निषेधों' की बात की गई है, उसे समझना अनिवार्य है। एक को वे 'जड़वादी निषेध' (Materialistic Denial) तथा दूसरे को 'वैराग्यमूलक अस्वीकृति' (The Refusal of the ascetic) कहते हैं। श्री अरविंद यह समझते हैं कि जिन वैचारिक सिद्धांतों से जगत की व्याख्या का प्रयत्न होता रहा है, उनमें दो ही प्रमुख रहे हैं - जड़वाद (Materialism) तथा आध्यात्मवाद (Spiritualism) उनकी अपनी चेष्टा है कि वे इन दोनों को पूर्णतया समन्वयित कर दें। वे स्पष्ट कहते हैं कि मात्र 'आत्म' पर बल देना यथेष्ठ नहीं है, उसके साथ-साथ 'जड़त्व', 'द्रव्य' आदि के महत्व को भी समझना उतना ही आवश्यक है।

उनका कहना है कि जड़वादी मार्ग अपेक्षाकृत अधिक सरल है, उसके लिए यह बड़ा सरल है कि वह आध्यात्मिकता को न स्वीकारे, उसे नकार दे, तथा जड़त्व या भौतिक शक्ति के रूप में किसी एक तत्व को परम मान लें। किंतु वे कहते हैं कि इस प्रकार का जड़वादी एकवाद अधिक दिनों तक मान्य नहीं बना रह सकता।जड़वादी स्थापनाएं इंद्रियों के साक्ष्यों पर आधृत होती हैं, किंतु इंद्रियां तो अनिवार्यतः अपनी उपयोग तथा कार्यक्षमता में सीमित होती हैं। जिन्हें इंद्रियां पकड़ सकती हैं, उनसे बहुत ही अधिक ऐसी वस्तुएं हैं जो इंद्रियों की पकड़ से बाहर हैं। आधुनिक जड़वादी विचारक यह भी दावा करता

है कि विज्ञान उसके पक्ष में है। कहा जाता है कि जड़वादी दृष्टि वैज्ञानिक दृष्टि है, यह भी दावा किया जाता है कि जड़वाद जिन तत्वों की बात करता है, वे वैज्ञानिक अविष्कारों पर आधृत हैं।

किंतु, श्री अरविंद का कहना है कि वैज्ञानिक समर्थन का आधार बना लेने पर भी 'जड़वादी निषेधों' को मान्यता नहीं दी जा सकती। जड़ तत्वों के अनुरूप जगत संबंधों समस्याओं की व्याख्या की कोई चेष्टा अन्ततः संतोषप्रद सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार के अधिकतर सिद्धांत कुछ अणुतत्वों की कल्पना कर लेते हैं, जो 'सैद्धांतिक संरचना' मात्र बन कर रह जाते हैं, क्योंकि उनकी जानकारी का कोई माध्यम उपलब्ध नहीं होता। श्री अरविंद कहते हैं कि जड़वादी विज्ञान पर बल तो अत्यधिक देते हैं, किंतु विज्ञान के संबंध में एक मूल बात को सर्वथा भूल जाते हैं - वह मूल बात है - 'वैज्ञानिक दृष्टि' - 'वैज्ञानिक वृत्ति'। यह दृष्टि क्या है? यह एक ऐसे प्रयत्न का सूचक है जो सतत निरंतर क्रियाशील रहता है, जो किसी एक लक्ष्य को अपना अंतिम पड़ाव नहीं मानता। शायद इस वैज्ञानिक वृत्ति को बुद्धि की सीमितता की अवगति है, अतः वह इस समझ के साथ ही अग्रसर होता है कि हर वैज्ञानिक समाधान वस्तुतः पग-पग की प्रगति पर है - यह मात्र एक ऐसी परिस्थिति प्रस्तुत करता है जिसमें पुनः-पुनः नई-नई समस्याएं तथा नए-नए प्रश्न उभरे। अतः श्री अरविंद की मान्यता है कि विज्ञान भी सदा 'परे' की ओर उन्मुख है। वैज्ञानिक निष्कर्षों में कभी भी अंतिम निश्चयता नहीं होती, वे सदा सामयिक, तात्कालिक तथा अनंतिम होती है। अतः जड़वादी निषेध भी - अभौतिक तत्वों का उनके द्वारा नकारना भी अंततः अंतिम तथा निश्चित बात हो ही नहीं सकती। इस दृष्टि से इस प्रकार का निषेध करने वाले विज्ञान की दुहाई तो देते हैं, किंतु वैज्ञानिक वृत्ति का खंडन ही करते हैं।

उसी प्रकार वैराग्यमूलक अस्वीकृति भी एकांगी एवं आंशिक है। श्री अरविंद कहते हैं कि आध्यात्मवादी भौतिक तत्वों का निषेध उसी तीव्रता से करते हैं जिस प्रकार जड़वादी आध्यात्मिकता का निषेध करते हैं। एक पक्ष अपने समर्थन में एक प्रकार का तर्क देता है तो दूसरा पक्ष भी अपनी ओर से उसी प्रकार का तर्क देता है। श्री अरविंद आध्यात्मवादी प्रमाण्य का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट कहते हैं कि जिस ढंग से भौतिकवादी अपनी बात स्थापित करते हैं, उसी ढंग से आध्यात्मवादी के निष्कर्ष भी स्थापित हो सकते हैं। श्री अरविंद कहते हैं - ''If the materialist is justified from is point of view in insisting on Matter as reality to the relative world as the sole thing of which we can in some sort be sure and the Beyond as wholly unknowable, if not indeed non-existent, a dream of the mind, awn abstraction of thought divorcing itself from reality.... so also is the Sanyasin, enamoured by that Beyond, justified from his point of view in insisting on pure spirit as the reality, the one thing free from change, birth, death and the relative as the creation of the mind and the senses, a dream, an abstraction in the contrary sense of Mentality withdrawing from the pure and eternal knowledge."

इन संन्यासी वर्ग के लोगों का दावा है कि अतेन्द्रिय सत् का साक्षात ज्ञान संभव है। उनका कहना है कि हमारी उच्चतर चेतना स्वरूपतः विकर्षणों से तथा सामान्य चेतना क्रिया के अवरोधों से मुक्त है, अतः सिके द्वारा प्राप्त ज्ञान इंद्रिय ज्ञान से अधिक विश्वसनीय तथा निश्चित है। इसी आधार पर ये लोग भौतिक जगत को 'सत्' नहीं मानते क्योंकि भौतिक जगत का ज्ञान पूर्णतया इंद्रियों पर आश्रित है। इसी प्रकार इस प्रकार के भारतीय विचारकों ने 'जगत रूपी भ्रम' तथा 'ईश्वर' की अवधारणाओं की स्थापना की है। किंतु श्री अरविंद कहते हैं कि इस प्रकार के वैराग्य विचार के समर्थक, अपनी एकांगी दृष्टि में एक सरल तथ्य की सर्वथा उपेक्षा कर रहे हैं। वे यह स्मरण नहीं रखते कि यदि 'सत्' का स्वरूप आध्यात्मिक है, जो जड़तत्व का भी तो मूल स्वरूप आध्यात्मिक ही रहेगा, अतः जड़तत्व में आध्यात्मिकता को पकड़ने का प्रयत्न होना चाहिए, जड़तत्व का बहिष्कार इसका समाधान नहीं है। श्री अरविंद के अनुसार एक ही सत् के 'जड़' तथा 'आत्म' भिन्न -भिन्न पक्ष हैं। अतः यदि जड़तत्व को आत्म रूप में विकसित होना है, तो उसके लिए आत्म का जड़तत्व में स्थित होना भी आवश्यक है। अतः श्री अरविंद का कहना है कि वैराग्य विचार वालों के द्वारा जड़तत्व की अस्वीकृति भी उपयुक्त नहीं, क्योंकि यदि इस तत्व के आध्यात्मिक रूप को उजागर करना है, तो पहले उसे भी सत्ता तथा एक स्तर देना आवश्यक है। प्राचीन भारतीय परम्परा, विशेषतः वेदान्त ने तो यही भूल की है, कि वे जड़-तत्व अथवा भौतिक जगत को नकार देते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री अरविंद ने दोनों प्रकार के निषेधों को एकांगी तथा अनुपयुक्त कहा है। अतः इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि श्री अरविंद के दर्शन में 'सत्' का एक ऐसा व्यापक तथा पूर्णतया समन्वयित विचार उभरना है, जिसमें 'भौतिक' तथा 'आध्यात्मिक' दोनों को समुचित स्थान प्राप्त रहे।

सृष्टि का स्वरूप : विश्व प्रक्रिया

'परम सत्' की चर्चा में ही 'सृष्टि' का उल्लेख प्रशंसानुसार हो गया है। परमसत् की आल्हादपूर्ण अभिव्यक्ति 'सृष्टि' है। परमसत् पूर्णतया पूर्ण है, फिर भी अपने को 'व्यक्त' करती है। अतः इस पर कुछ विशद विचार करना आवश्यक हो जाता है कि ऐसा 'क्यों' और 'कैसे' होता है। इन्हीं प्रश्नों की विवेचना में श्री अरविंद का सृष्टि-संबंधी विचार तथा विश्व-प्रक्रिया विचार स्पष्ट होता है।

श्री अरविंद सृष्टि का विचार द्विगुणात्मक-प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करते हैं। एक ओर तो यह परात्म का जगत के रूपों में 'अवतरण' (Descent) है तथा दूसरी ओर यह जगत के रूपों का उच्चर रूपों में 'आरोहण' है, 'उत्थान' है (Ascent)। इन दोनों प्रक्रियाओं के स्वरूप को समझने के लिए हम इनके पीछे जो श्री अरविंद का मूल विचार है, उसे समझने की चेष्टा करें।

श्री अरविंद का कहना है कि आध्यात्मिक उत्थान या उत्कर्ष के संबंध में जितनी भी बातें होती हैं, उनकी दो मूल मान्यता रहती ही हैं - (1) उससे यह स्वीकार कर ही चलना पड़ता है कि आदर्श की प्राप्ति सम्भव है। इसके साथ-साथ यह भी मान लेना आवश्यक है कि इस 'आदर्श' तथा हमारे 'स्वरूप' में कोई विसंगति नहीं है, क्योंकि यदि दोनों एक दूसरे से स्वरूपतः असंगत हों, तो हमारे लिए आदर्श की प्राप्ति सम्भव नहीं रहेगी। अतः इससे यह संकेत मिलता है कि यह आदर्श वस्तुतः हमारे स्वरूप जैसा ही है, हम अपने स्वरूप को ही भूल गए हैं, इसी कारण वह आदर्श हमसे दूर प्रतीत होता है।

(2) पुनः विचार में यह भी आपदित है कि हमारा उत्थान इसी कारण संभव है कि उच्चतर रूपों का निम्नतर रूपों में अवतरण होता है। हर उत्थान का दूसरा पक्ष-अवतरण है। उत्थान में हम ऊपर उठते हैं, यह तभी संभव होता है, जब जिस ओर हम उठ रहे हैं, वह हमारी ओर आए। एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है, 'ज्ञान' का उदाहरण लें। हम जब 'ज्ञान' प्राप्त करते हैं तो इसका अर्थ है कि हम ऊपर उठे हैं - जो ऊपर था उसकी ओर बढ़े हैं। किंतु इसका यह भी अर्थ है कि 'ज्ञान' जो हमसे दूर था, उच्चतर था, अब हम तक उतर आया। अतः यहां हमारे उत्थान के अनुरूप ज्ञान का अवतरण हुआ। उसी प्रकार श्री अरविंद के अनुसार, हर आध्यात्मिक परिवर्तन में 'परात्म' का अवतरण होता है, अन्यथा हमारा आध्यात्मिक उत्थान संभव ही नहीं होता। परात्म का यह अवतरण ही सृष्टि का उद्भव है - सृष्टि है।

अतः श्री अरविंद के अनुसार सृष्टि 'अवतरण' तथा 'उत्थान' की प्रक्रिया है। इस उत्थान प्रक्रिया की ही श्री अरविंद विकास प्रक्रिया कहते हैं, तथा अवतरण की प्रक्रिया को अन्तवर्लन-प्रक्रिया (Involution) कहते हैं। हम इन दोनों की व्याख्या अलग-अलग करें -

(i) अवतरण या अन्तर्वलन (Descent or Involution) : श्री अरविंद के द्वारा दिया गया अवतरण-प्रक्रिया का विवेचन कुछ अर्थों में वेदान्त में चर्चित सृष्टि-विवरण के समान ही है, अंतर यही है कि उनके विवरण में उनकी अपनी दृष्टि तथा उस दृष्टि के अनुरूप चर्चित अवधारणाओं का उपयोग हुआ है। वेदान्त में सामान्यतः सृष्टि का संबंध 'अविद्या' से दिखाया है, जिसके परिणामस्वरूप सृष्टि की वास्तविकता का बोध होता है। अज्ञान अथवा अविद्या के कारण ही हम जगत को वास्तविक समझ लेते हैं। इसका अर्थ है कि यह दृष्टि एक प्रकार के विस्मरण पर आधृत है - जहां सत् के वास्तविक स्वरूप का विस्मरण हो गया है। अद्वैत वेदान्त में तो यहां तक कहा गया है कि वस्तुतः 'सृष्टि' का प्रश्न ही नहीं उठता। उसके अनुसार तो वास्तविक दृष्टि से 'सृष्टि' की प्रतीति एक प्रकार से ब्रह्माण्डमूलक भ्रम है (Cosmic Delusion)। जब यह प्रश्न उठता है कि इस 'भ्रम' की उत्पत्ति क्यों होती है, तो समाधान प्रस्तुत किया जाता है कि यह एक आनंद का खेल है - वेदान्त की भाषा में 'लीला' है।

कुछ उसी प्रकार श्री अरविंद भी सृष्टि का विवरण देते हुए इसे 'आत्म का अज्ञान में निमंजन', 'आत्म का अज्ञान में प्रविष्ट हो जाना' (Plunge of the Spirit into Ignorance) कहते हैं। श्री अरविंद के अनुसार अज्ञान ईश्वरीय चेतना की अपने को आंशिक रूप में रोक रखने की शक्ति है। अज्ञान कोई पृथक विधा नहीं है, यह ईश्वरीय चेतना का ही अंश है। यह ईश्वरीयज्ञान किसी भी रूप में निषेध नहीं, न उसके साथ इसकी किसी प्रकार की असंगति का प्रश्न ही उठता है। वस्तुतः एक छोर पर पूर्ण ईश्वरीय चेतना है, तो दूसरा छोर - दूसरी ओर की परिणति पूर्ण ज्ञान शून्यता (Nescience) है। अज्ञान (Ignorance) इन दोनों के बीच है- इसी कारण इसका फैलाव भी अत्यधिक है। यह ज्ञान नहीं है, क्योंकि ईश्वरीय चेतना जैसा नहीं है, किंतु यह ज्ञान-शून्यता (Nescience) भी नहीं है। सृष्टि इसी क्षेत्र में आती है। अतः कहा जा सकता है कि 'सत्' की अपने को आंशिक रूप में रोक रखने की शक्ति जब कार्यरत होती है, तो इसका अर्थ है कि सत्त अव 'अज्ञान' के

क्षेत्र में उतर आया है - और यही सृष्टि है। किंतु, यह प्रश्न तो उठ ही जाता है कि क्या निरपेक्ष सत्त अज्ञान के क्षेत्र में उतरने का निर्णय लेता है? क्या 'ज्ञान' के क्षेत्र में रह कर सृष्टि नहीं हो सकती? और यदि उसे सृष्टि के लिए अज्ञान के क्षेत्र में उतरना आवश्यक है, तो क्या यह उस पर एक बंधन - एक सीमा नहीं है? श्री अरविंद को यह अवगति है कि ऐसे संशय के बिंदु इस स्थान पर उभरते हैं। वे इन प्रश्नों को इन संशयों का निराकरण अपने ढंग से करते हैं। उनका कहना कि ज्ञान में रहकर भी सृष्टि हो सकती है, किंतु यह एक उच्चतर सृष्टि ही हो सकती है- जिसे केवल ज्ञान तथा द्रष्टा ही देख सकते हैं। अभी हम उस जगत की विवेचना कर रहे हैं जिसमें हम सभी सामान्य जीव रह रहे हैं। यह निम्नतर जगत है, अज्ञान के क्षेत्र में उजागर सृष्टि है। यह हमारी सृष्टि अज्ञान के ही क्षेत्र में है।

सृष्टि का इस प्रकार के विचार की विशिष्टता यह हो जाती है कि इस दृष्टि से सृष्टि को भ्रामक नहीं कहा जाता। यह भी ईश्वरीय चेतना की ही सीमित अभिव्यक्ति है - उस चेतना, उस ज्ञान की निषेध नहीं। अतः वह भ्रामक नहीं हो सकता। इस स्थल पर अद्वैत वेदान्त तथा श्री अरविंद के विचारों का अंतर स्पष्ट होता है। श्री अरविंद के अनुसार सृष्टि अनिवार्यतः भ्रमरूप नहीं है। इसकी अपनी सत्ता है - इसका अपना स्थान है, जो सत्त के साथ पूर्णतया संगत है।

फिर भी, अभी तक हमारे संशय का पूर्ण निराकरण नहीं हो पाया - इस निम्नतर सृष्टि में, अज्ञान के क्षेत्र में सत्त को उतरने की क्या आवश्यकता है? क्यों यह सृष्टि होती है? इस संशय के पूर्ण निराकरण के लिए श्री अरविंद का 'माया' तथा 'लीला' विचार को देखना आवश्यक है।

(ii) माया तथा लीला : वस्तुतः इन दो अवधारणाओं के उपयोग के द्वारा सृष्टि संबंधी 'क्यों' तथा 'कैसे' प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। 'क्यों सृष्टि हुई'? इस प्रश्न का उत्तर है, लीला, तथा 'कैसे सृष्टि हुई? - इस प्रश्न का उत्तर है - माया। वैसे ये दोनों उत्तर वेदान्त के उत्तर के समान ही हैं, किंतु हम देखेंगे कि श्री अरविंद के द्वारा प्रस्तुत समाधान सर्वथा वेदान्त जैसा नहीं है। वेदान्त के समान श्री अरविंद भी कहते हैं कि सृष्टि आनंद की अभिव्यक्ति है। आह्लाद सृष्टि का रहस्य है, आल्हाद में सृष्टि का उद्भव है। अस्तित्व में रहने का कारण आह्लाद है, सृष्टि की समाप्ति का रूप भी आह्लाद है। श्री अरविंद कहते हैं कि उपनिषदों में बताया गया है कि आनंद से ही हम अस्तित्ववान होते हैं, तथा आनंद में ही हमारी परिणति है। अतः यह कहा जा सकता है कि सृष्टि आनंद का खेल है और यही 'लीला' का अर्थ है।

यह जगत रूपी सृष्टि - जिसके हम भी एक अंश हैं स्पष्टतः हर क्षण प्रवाहशील प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई शक्ति है जो इसमें सतत कार्यरत है, जिसके फलस्वरूप इसमें सतत नए-नए रूप व्यक्त होते रहते हैं। किंतु यदि हम यह विचारें कि इस सर्जनात्मक क्रियात्मकता शक्ति के इस प्रवाह का कारण क्या है, प्रयोजन क्या है, तो मात्र एक ही उत्तर ऐसा संभव है जो हर प्रकार के संशय का निराकरण कर सके - और यह उत्तर है कि ये सभी क्रियाएं आह्लादपूर्ण क्रियाएं हैं - सृष्टि का हर ताल- हर लय - हर गति आनंद की ही अभिव्यक्ति है। यदि हम इस मूल सत्य को समझ सकें - इसे अनुभूत कर लें तो हम भी उस आनंद के अंश बन जाते हैं। इस अर्थ में जगत-प्रक्रिया सच्चिदानंद का ही अंश है - तथा इस प्रक्रिया में निहित यह व्यापक आनंद ही 'लीला' है। यही लीला बच्चों के अबोध आह्लाद में कवि की आनंदपूर्ण अभिव्यक्तियों में परिलक्षित होती है - क्योंकि वे इस आनंद को इसके मूल स्रोत से संबंधित रखने की एक विधा है। इसी कारण श्री अरविंद कहते हैं कि सृष्टि उसी का खेल है - वही खेल है, वही खिलाड़ी है, वही क्रीड़ास्थल है। ये सारी अभिव्यक्तियां उसके आनंद रूप की अभिव्यक्तियां हैं। "....if we look at the world existence rather in its relation to the self-delight of eternally existing being, we may regard, describe and realise it as Lila, the play, the child's joy, the poet's joy, the actor's joy, the mechanician's joy of the soul of things eternally young, perpetually inexhaustible creating and re-creating himself in himself for the sheer bliss of that self-creation, of that self-sepresentation - Himself the play, Himself the player, Himself the playground."

अब श्री अरविंद इस बात पर भी विचार करते हैं कि वह प्रक्रिया क्या है - वह ढंग क्या हो सकता है - जिससे सच्चिदानंद अपने को जगत में व्यक्त कर देता है। वे यह भी समझते हैं कि सच्चिदानंद की कल्पना वैसे जादूगर के रूप में भी नहीं की जा सकती जो अपनी जादुई छड़ी घुमाकर सारे खेल-खेल दे। श्री अरविंद इस प्रक्रिया में एक 'नियम' देखते हैं - एक निश्चित ढंग देखते हैं। उसी नियम तथा उसी ढंग को वे 'माया' कह कर सूचित करते हैं।

भारतीय परम्परा में माया-विचार की अपनी विशिष्टता है। सामान्यतः 'माया' का विचार दो रूपों में होता रहा है। इन दोनों धारणाओं का विवरण श्री अरविंद निम्नलिखित ढंग से करते हैं, "Maya in its original sense meant a compre-

hending and containing consciousness capable of embracing, measuring and limiting, and therefore formative, it is that which outlines, measures out, moulds forms in the formless, psychologises and seems to make knowable the unknowable geometrises and seems to make measurable the limitless. Later the word came from its original sense of knowledge, skill, intelligence to acquire a pejorative sense of cunning, fraud, or illustion, and it is in the figure of an enchantment or illusion that it is used by the philosophical systems." इस प्रकार हम देखते हैं कि श्री अरविंद के अनुसार 'माया' का प्रारंभिक अर्थ - इसका मूल अर्थ एक प्रकार का था - तथा काल क्रम में यह अर्थ विकृत हो गया तथा एक दूसरे प्रकार का अर्थ स्पष्ट हो गया - जो अधिक प्रचलित हो गया। अपने मूलार्थ में 'माया' 'सच्चिदानंद' के अनुरूप ही है, यह एक क्रियात्मक सर्जनात्मक शक्ति के रूप में समझी गई है, जो असीम को भी सीमित रूपों में व्यक्त कर सकने की शक्ति है - अज्ञात को इस रूप में प्रस्तुत करने की शक्ति है कि वह भी 'ज्ञेय' प्रतीत हो। किंतु माया का यह मूलार्थ कालक्रम में उपेक्षित होता गया तथा अपने विकृत अर्थ में यह मात्र भ्रम उत्पन्न करने की शक्ति बन कर रह गया - भ्रामकता तथा छलावा का दूसरा नाम बन गया। यह दूसरा अर्थ इतना प्रचलित हो गया कि दार्शनिक विचारों में भी 'माया' का यही अर्थ व्यवहार में आ गया।

स्पष्ट है, श्री अरविंद 'माया' के इस दूसरे विकृत अर्थ को महत्व नहीं देते। ऐसा करने का एक कारण यह भी है कि उस अर्थ को स्वीकारने से तो जगत ही 'भ्रामक' हो जाता है। वे स्पष्ट कहते हैं कि जगत 'भ्रम' नहीं है, यदि यह स्वप्न जैसी अवस्था हो भी, फिर भी उस रूप में वास्तविक है जिस रूप में स्वप्न वास्तविक है। स्वप्न अपने में वास्तविक ही होता है, उसकी अवास्तविकता का प्रश्न तो स्वप्न टूटने के बाद उठता है। इसे अवास्तविक इस आधार पर भी नहीं कहा जा सकता कि यह 'सत्' के समान वास्तविक नहीं है, क्योंकि उस दृष्टि से भी विभिन्न जगत बनते-मिटते रहे - 'जगत' तो निरपेक्ष सत् के साथ जुड़ा ही है - कोई जगत तो सदा व्यक्त होता रहता है। हम ऐसे 'काल' की कल्पना भी नहीं कर सकते जहां केवल 'निरपेक्ष चेतना' रहे - और कोई जगत न हो। तो जगत अपने में वास्तविक है ही, तथा 'माया' का विचार तो जगत के इस वास्तविक रूप से सम्बंधित है।

अतः श्री अरविंद 'माया' शब्द के पहले अर्थ को ही स्वीकारते हैं। 'माया' वह शक्ति है जो सृष्टि का रूप देती है। यह सच्चिदानंद की ही शक्ति है - ऐसी शक्ति जो अनंत सत् को सीमित रूपों में व्यक्त करने की शक्ति है। यह वह शक्ति है जो पूर्ण पूर्णता को - पृथक-पृथक तत्वों में व्यक्त कर देती है - सत् को सीमित सत् में चेतना को सीमित चेतना में, अनंत आनंद को सीमित आनंद में। इस अभिव्यक्ति से उसका पूर्ण रूप खंडित नहीं होता तथा आनंद के खेल का एक नया आयाम स्पष्ट होता है। अपनी निहितार्थ भाषा में श्री अरविंद कहते हैं -

"[It is by Maya that] out of the Supreme Being in which all is all without barrier of separative consciousness, emerges the phenomenal being in which all is in each and each is in all for the play of existence with existence, consciousness with consciousness, force with force, delight with delight."

किंतु, कहा जा सकता है कि एक अर्थ में श्री अरविंद ने 'माया' शब्द के दूसरे अर्थ का भी उपयोग किया है। यदि 'माया' को 'पूर्ण सत्त' की ओर से देखा जाए तो यह ब्रह्मांडमूलक भ्रम (Cosmic illusion) भी प्रतीत होता है। जगत को इस अर्थ में भी 'माया' कहा जा सकता है कि जगत 'परम सत्' नहीं है - 'अंतिम सत्' नहीं है। फिर भी श्री अरविंद कहते हैं कि 'माया' के इस स्वरूप को पहले स्वीकारना - अनुभूत करना आवश्यक है, तभी इससे ऊपर उठा जा सकता है। भ्रम से ऊपर उठने के लिए भ्रम के भ्रम कूप का समझना आवश्यक है। इस दृष्टि से भी इस भ्रम-रूप में इस जगत में, एक प्रकार की वास्तविकता है। इसी कारण हम अपनी भाषा में, अपने मानसिक ढंगों से सीमित भाषा में जगत को ब्रह्मांडसंबंधी भ्रम कह लेते हैं। वस्तुतः ऐसा कह कर हम मात्र अपनी सीमित वैचारिक कोटियों को असीम पर लगा रहे हैं, और इसके अतिरिक्त इस अवस्था में हम कुछ कर भी नहीं सकते। तो 'मानस' की अवस्था में स्थित हम, अपनी मानसिक कोटियों के अनुरूप जगत को ब्रह्मांडमूलक भ्रम (Cosmic illusion) भी कह सकते हैं।

(iii) उत्थान अथवा विकास (Ascent or Evolution) : अब हम श्री अरविंद के अनुसार विकास-प्रक्रिया का विवरण कर सकते हैं। प्रारंभ में ही यह स्पष्ट हो चुका है कि 'विकास' 'अवतरण' को यान कर अग्रसर होता है। 'विकास' का अर्थ है 'निम्नतर का उच्चतर में विकसित होना', और यह तभी संभव होता है जब उच्चतर का निम्नतर में अवतरण हो। सत्ता के 'आठों' स्तरों के क्रम में ये दोनों प्रक्रियाएं चलती हैं। उच्चतर रूपों के जड़तत्व, प्राणतत्व, मन आदि में अवतरण से ही इन

तत्वों का उच्चतर रूपों में विकास हो पाता है। इतना ही नहीं - जड़तत्व से प्राणतत्व का विकास इसी कारण संभव होता है कि प्राणतत्व जड़तत्व में उतर आता है। निम्नतर गोलार्द्ध के तत्व उच्चतर रूपों में विकसित इसी कारण हो सकते हैं कि उच्चतर रूपों का इनमें अवतरण हो जाता है। श्री अरविंद स्पष्ट रूप में कहते हैं कि कोई तत्व उच्चतर रूपों में तब तक विकसित नहीं हो सकता जब तक वह उच्चतर रूप में उसमें न उतर आए। 'शून्य' से 'शून्य' ही प्राप्त हो सकता है। यदि ये उच्चतर रूप सूक्ष्म ढंग से उन तत्वों में विद्यमान न रहें, तो उनमें इन रूपों का विकास हो ही नहीं सकता। इसी कारण श्री अरविंद 'विकास' या 'उत्थान-प्रक्रिया' को अवतरण (Involution) की विपरीत-प्रक्रिया कहते हैं। यहां 'विपरीत' का अर्थ निषेधात्मक नहीं तात्पर्य है कि विकास तथा अवतरण एकता ही मार्ग में दोनों ओर से अग्रसर होने वाली प्रक्रिया है। फलतः एक रोचक तथ्य प्रकाश में आता है, इस पूरी प्रक्रिया में जो अन्त में जो स्थापित होता है, वह इस प्रक्रिया के प्रारंभिक बिंदु पर ही अवतरित है। उच्चतर गोलार्द्ध का चरम बिंदु 'परम सत्' और वह अवतरित है निम्नतर गोलार्द्ध के प्रथम बिंदु 'जड़तत्व' में। श्री अरविंद स्पष्ट कहते हैं, ".... Spirit is a final evolutionary emergence because it is the original involutionary element and factor. Evolution is an inverse action of the involution : What is an ultimate and last derivation in the involution is the first to appear in the evolution. What was original and primal in the involution is the last and supreme emergence."

कहा जा सकता है कि श्री अरविंद के विकास सिद्धांत की विशिष्टता यह है कि यह अपने ढंग से अपने अंतर्गत अन्य सभी प्रकार के विकास सिद्धांतों को समाविष्ट कर लेता है। विकास की प्रक्रिया को एक दृष्टि से 'पुनरावृत्तिमूलक' (Repetitive) तथा 'उद्‌गमनात्मक' (Emergent) कहा जाता है, तो दूसरी दृष्टि से 'यंत्रवादी' (Mechanical) तथा 'प्रयोजनवादी' (Teleological) कहा जाता है। पुनरावृत्तिमूलक विकास सिद्धांत मानता है कि काल-प्रगति में विकास-प्रक्रिया प्रायः एक ही जैसे रूपों को प्रगट करती रहती है। इसके विपरीत उद्‌गमनात्मक विकास सिद्धांत (Theory of Emergent Evolution) मानता है कि विकास प्रक्रिया में हर स्तर में नवीन रूपों का प्रादुर्भाव होता रहता है। यंत्रवादी विकास-सिद्धांतों में विकास की हर विधा की व्याख्या पूर्वगामी उपकरणों के अनुरूप की जाती है, जबकि प्रयोजनवादी विकास-सिद्धांतों की व्याख्या का आधार वे लक्ष्य तथा उद्देश्य हैं, जिन्हें प्राप्त करना विकास का लक्ष्य है। श्री अरविंद के 'विकास के पूर्ण अद्वैत सिद्धांत' (Integral Theory of Evolution) की विशिष्टता यह है कि यह इन सभी सिद्धांतों के प्रासंगिक अंशों को अपने में समाविष्ट करता है, जिसके फलस्वरूप इनका सिद्धांत अधिक व्यापक तथा बौद्धिक दृष्टि से भी संतोषप्रद प्रतीत होता है।

श्री अरविंद का कहना है कि विकास प्रक्रिया में तीन प्रक्रियाएं समाविष्ट हैं - 'विस्तारण' (Widening), 'उच्चतत्व की ओर उन्मुखता (Heightening), तथा 'पूर्णीकरण' (Integration)। साधारण भाषा में इसका तात्पर्य यही बताया जा सकता है कि प्रथमतः विकास-प्रक्रिया विस्तारण की प्रक्रिया है, अर्थात इसमें किसी स्तर के अस्तित्ववान रूपों को समेटना है, उसे अपने पूर्णतया विस्तृत रूप में व्यक्त होना है। उसके बाद विकास प्रक्रिया उच्चतर रूपों की ओर उन्मुख होती है, ऊपर उठती है। किंतु इस उच्चतत्व की ओर उठने में किसी रूप के निषेध का या निरसन का प्रश्न नहीं उठता। और तब अंत में पूरी प्रक्रिया के पूर्णीकरण (Integration) की प्रक्रिया आती है। इस प्रकार 'विस्तारण' का अर्थ है कि हर नए विकसित रूप को पूर्णतया विस्तृत रूप में विकसित होने का अवसर मिलता रहे। 'उच्चतर की ओर उन्मुखता' का अर्थ है कि एक स्तर से उच्चतर स्तर की ओर विकास हो। किंतु विकास प्रक्रिया की सबसे महत्वपूर्ण प्रक्रिया है - पूर्णीकरण की प्रक्रिया। इसका अर्थ है कि विकास का अर्थ निम्नतर रूपों का निषेध करते हुए अग्रसर होना नहीं है, बल्कि निम्नतर रूपों को भी ऊपर उठाना तथा उन्हें पूर्णतया संगठित करना है। श्री अरविंद के दर्शन में पूर्णीकरण की प्रक्रिया विकास की सबसे महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। विकास का अर्थ निम्नतर का क्रमिक निषेध या निरसन नहीं है, इसके विपरीत विकास का अर्थ है कि निम्नतर रूपों को विकास प्रक्रिया समेटती है, तथा उन्हें उच्चतर बनाती है। श्री अरविंद के अनुसार पूर्णीकरण (Integration) का अर्थ है - अवतरण के द्वारा उत्थान (Ascent through Descent)। उच्चतर रूप निम्नतर रूपों में अवतरित को उसके स्वरूप में ही परिवर्तन कर देता है, और इस प्रकार उसे भी ऊपर उठा लेता है।

इसे स्पष्ट करने के लिए इस प्रक्रिया को एक उदाहरण में स्पष्ट करें। हम 'जड़तत्व' के स्वरूप पर विचार करें, उसके अपने प्राथमिक स्वरूप के विषय में सोचें तथा उस स्तर में जड़तत्व के विषय में सोचें जब मानस (Mind) का आविर्भाव हो चुका है, और मानसिक ढंगों से हम जड़तत्व पर विचार करते हैं। हम स्पष्ट देखते हैं कि जब 'मन' 'जड़तत्व' में प्रविष्ट कर

जाता है, तो जड़तत्व के स्वरूप में स्पष्ट परिवर्तन हो जाता है। अब 'जड़तत्व' में अपने में पृथक, सबों से भिन्न अलग जड़तत्व नहीं रह जाता, अब वह मानसिकता का अंश बन जाता है, मानसिक ढंगों में घिर नए रूप में प्रतिष्ठित होता है। इसकी पृथकता समाप्त हो जाती है - अब यह मानसिकता के सामान्य स्तर का अवयव बन जाता है। श्री एस.के. मोइत्रा ने इस बात को एक बड़े सुंदर उपमा के द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है। वे कहते हैं कि सामान्य विकास सिद्धांत विकास की दिशा निम्नतर से उच्चतर की ओर मानते हैं। वे कहते हैं कि इस विवरण की तुलना सेना के उस प्रकार आगे बढ़ने से की जा सकती है, जहां उसका संपर्क प्रारंभिक स्थल (base) से टूट जाता है, हर क्षण वह एक स्थल को 'छोड़' आगे निकल जाता है। किंतु श्री अरविंद की विकास प्रक्रिया की तुलना सेना के उस प्रकार की प्रगति से की जा सकती है, जो आगे बढ़ते हुए हर पीछे छूटते स्थलों से अपना संपर्क बनाए रखता है।

विकास प्रक्रिया के इस प्रकार के 'पूर्णीकरण' के रूप में चित्रित करने का एक ओर तो यह लाभ है कि विकास प्रक्रिया का पूर्ण सर्वांगी चित्र उभर आता है, वह विकास क्रम के किसी बिंदु पर टूट कर पृथक नहीं होता। इस रूप में इसे चित्रित करने का एक आधार यह भी है कि इसी रूप में विचार करने पर सर्वमुक्ति तथा दिव्य जीवन की संभावना की बात की जा सकती है। एक व्यक्ति अपने प्रयत्नों से अपने उत्थान तथा अपनी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है, किंतु 'सर्वमुक्ति' की बात तो तभी हो सकती है जब विकास-प्रक्रिया एक ऐसी सर्वांगी हो जिसमें सब कुछ समाविष्ट हो जिससे विकास का कोई अंश टूटा हुआ तथा पृथक न हो।

यह तो विकास प्रक्रिया का सामान्य स्वरूप हुआ, अब हम इस प्रक्रिया में विकास क्रम में - व्यक्त होने वाले कुछ प्रमुख बिंदुओं का विवरण करें। हमने पहले ही देखा है कि सृष्टि सत् का अज्ञान में प्रविष्टि होना है : अतः विकास प्रक्रिया, जो सृष्टि के क्रमिक विकास की प्रक्रिया है, उसका प्रारंभिक बिंदु 'पूर्णज्ञान शून्यता' है, तथा उसकी परिणति 'पूर्ण ज्ञान' है। ये दोनों दो छोर हैं - विकास प्रक्रिया की कल्पना में उन दोनों छोरों के मध्य ही है। इन दोनों छोरों का मध्य ही अज्ञान (Ignorance) का क्षेत्र है। विकास प्रक्रिया अज्ञान के क्षेत्र में ही कार्यरत है। प्रश्न है कि इसमें प्रकट होने वाले प्रमुख तत्व क्या हैं?

श्री अरविंद कहते हैं कि विकास प्रक्रिया अब तक जड़तत्व (matter), प्राणतत्व (life), मन (Psyche) से होती हुई मानस (Mind) के स्तर तक पहुंच चुकी है। प्राणतत्व जड़तत्व में विकसित होता है, अतः जड़ से टूटा हुआ नहीं है। मानस अपने पहले के तीनों स्तरों को समेटे है, क्योंकि वह उन्हीं में विकसित हुआ है। अब मानस के स्तर पर प्रतीक्षा है और उच्चतर रूपों में अतिमानस के स्तर में उठने की। यह विकास अभी रूप नहीं ले पाया है, श्री अरविंद कहते हैं कि एक प्रकार से वह उत्थान विकास प्रक्रिया का अंतिम पग होगा, क्योंकि (जैसा हम आगे देखेंगे) अतिमानस के स्तर पर पहुंचते ही निरपेक्ष सत् की चेतना स्पष्ट हो जाएंगी।

श्री अरविंद के विकास-प्रक्रिया विवरण का यह बड़ा ही संक्षिप्त तथा विस्तृत विवरण है, किंतु, यहां भी यह स्मरण रखना है कि श्री अरविंद के अनुसार विकास प्रक्रिया का विवरण पूर्णतया तटस्थ रूप में - एक तटस्थ वैज्ञानिक के समान नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, क्योंकि प्रथमतः तो हम स्वयं भी इस प्रक्रिया के अंग है, तथा इस प्रक्रिया की आगे जो प्रगति होनी है, वह आध्यात्मिक क्षेत्र की प्रगति होने के कारण हमी से संबंधित है। श्री अरविंद का कहना है कि हम अपने आध्यात्मिक प्रयत्नों से विकास प्रक्रिया की आगे की गति को तीव्र कर सकते हैं। जीव अपने प्रयत्न से 'मानस' के स्तर तक पहुंच चुका है, अतः ऊपर उठने के लिए, 'अतिमानस' की ओर अग्रसर होने के लिए भी हम सतत प्रयत्न कर सकते हैं। इस प्रकार श्री अरविंद के विकास सिद्धांत में विकास प्रक्रिया का विवरण दो स्तरों पर होता है - एक तो विकास प्रक्रिया के सामान्यत स्वरूप का स्तर है, तथा दूसरा विकास-प्रक्रिया का व्यक्ति केंद्रित स्तर है। उनके अनुसार विकास 'जगत' से संबंधित है, तथा व्यक्ति से भी। श्री अरविंद व्यक्ति के महत्व को प्रमुखता देते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि आध्यात्मिक शक्तियां व्यक्ति के माध्यम से स्पष्टरूप में व्यक्त होती हैं। व्यक्ति का उत्थान, व्यक्ति का विकास जगत के विकास से भिन्न नहीं है, बल्कि उसमें एक विशेषता यह भी है कि वैयक्तिक विकास से जगत के सर्वांगीण विकास की गति तीव्र होती है। यह श्री अरविंद के पूर्णतावादी विकास सिद्धांत (Integral Theory of Evolution) की अपनी विशिष्टता है। श्री अरविंद ने विकास के इस पक्ष का विचारोत्पादक विवरण 'अतिमानसिक परिवर्तन' तथा 'योग सिद्धांतों' के अंतर्गत किया है।

अस्तित्व के चार सिद्धांत : इस स्थल पर हम श्री अरविंद के विचार की मूल धारा से अलग हट उनके द्वारा प्रस्तुत अस्तित्व संबंधी चार सिद्धांतों का उल्लेख करेंगे, क्योंकि इस चर्चा के आलोक में श्री अरविंद की अपनी तत्व-मीमांसा को समझने में अधिक सुगमता होगी। श्री अरविंद कहते हैं कि तत्व-दर्शन मूल सत्ताओं के स्वरूप निर्धारण का प्रयत्न है,

जिसके आधार पर दृश्य जगत, जो सत्ताओं की ही अभिव्यक्ति है, तथा सत्ता जगत का भेद स्पष्ट हो सके। फिर भी श्री अरविंद तत्वमीमांसीय चिंतन के लिए एक अनिवार्य शर्त निर्धारित करते हैं - उनका कहना है कि तत्वमीमांसा का लक्ष्य तथा उसकी विधि दोनों को जो हमें दिखाई देता है, उससे सर्वथा असंगत नहीं होना चाहिए। वस्तुतः तत्वीमीमांसी सिद्धांतों का लक्ष्य 'दृश्य जगत' की व्याख्या ही है। अतः यदि हमारे सिद्धांत अनुभव में प्राप्त तत्वों की पूर्ण उपेक्षा कर दें, उनसे सर्वथा असंगत हो जाएं, तो वे सभी पूर्णतया रिक्त तथा यथार्थ हो जाएंगे।

तत्वमीमांसा पर इस रूप में विचार करते हुए श्री अरविंद सत्ता संबंधी चार सिद्धांतों का उल्लेख करते हैं। वे हैं -

(क) परात्म मूलक सिद्धांत (The Super-cosmic theory)

(ख) ब्रह्मांडमूलक अथवा इहलौकिक सिद्धांत (The Cosmic or the Terrestria)

(ग) पारलौकिक सिद्धांत (The Supraterrestrial or the other-worldly)

(घ) पूर्ण अद्वैतवादी अथवा सांश्लेषिक सिद्धांत (The Integral or the Synthetic)

(क) परात्म-मूलक सिद्धांत

श्री अरविंद के अनुसार यह सिद्धांत पूर्णतः 'परात्म' को ही महत्व देता है। यह एक निरपेक्ष सत्ता की स्थापना करता है, वह भी इस प्रकार कि उसके समझ हर तत्व से मानव का भी स्थान नगण्य हो जाता है। इस सिद्धांत के जो प्रबल रूप हैं, उनके अनुसार तो मानव अस्तित्व का भी कोई अर्थ नहीं है। मानव अस्तित्व भी एक प्रकार से एक भ्रामक स्थिति जैसी है, जो जीने की इच्छा के फलस्वरूप या अज्ञान के कारण सत् के स्वरूप पर पर्दा डाल देती है। श्री अरविंद अद्वैत वेदान्त को इसी कोटि में रखते हैं। हम स्पीनोजा तथा ब्रैडले के तत्वमीमांसा विचार को भी इसी के अंतर्गत रख सकते हैं, क्योंकि उनके अनुसार भी सत् पूर्णतया 'परमात्म-मूलक' है।

श्री अरविंद इस सिद्धांत की आलोचना करते हैं। उनकी आलोचना का मुख्य बिंदु यही है कि यह सिद्धांत इतना एकांगी हो जाता है कि यह जगत को एक भ्रम या छलावा के रूप में परिणत कर देता है। यह अस्तित्वमान मानव को भी 'सत्ता' नहीं देता। साथ-साथ यह किसी भी प्रकार के परिवर्तन, विकास गति के लिए स्थान भी नहीं छोड़ता, क्योंकि जगत की वास्तविकता का ही निषेध करता है। इस प्रकार श्री अरविंद कहते हैं कि इस सिद्धांत में तत्वमीमांसीय चिंतन की मूल शर्त का ही उल्लंघन हो जाता है, जिस अनुभव की व्याख्या के लिए यह सिद्धांत दिया गया है, उसकी व्याख्या के स्थान पर यह मात्र उसका निषेध कर देता है। किंतु यह तो अनुभव के साथ असंगत होना है। इस प्रकार यह सिद्धांत एकपक्षीय आंशिक तथा एकांगी सिद्ध होता है।

(ख) ब्रह्मांड-मूलक अथवा इहलौकिक सिद्धांत : यह परमात्म-मूलक सिद्धांत का सर्वथा विपरीत सिद्धांत है। यह ब्रह्मांड के सत् को वास्तविक मानता है। अपितु यह सिद्धांत तो इतना ही नहीं मानता, इससे एक पग और आगे जाता है और मात्र इस जगत को - इस ब्रह्मांड को ही सत् मानता है। साधारणतः इसके विचार भौतिक तत्वों के क्षेत्र तक ही सीमित रहते हैं। यदि 'ईश्वर' की बात भी होती है, तो ईश्वर भी एक परिवर्तनशील तत्व के रूप में ही कल्पित होता है। सामान्यतः ईश्वर की बात नहीं होती, तथा जगत एवं प्रकृति को शाश्वत रूप में गतिशील, परिवर्तन-मूलक तथा वास्तविक माना जाता है, तथा जीवन को एक मात्र कार्यस्थल के रूप में समझा जाता है। मानव को परिवर्तन प्रक्रिया की सर्वश्रेष्ठ देन के रूप में चित्रांकित किया जाता है। इस बात पर कहा जाता है कि ब्रह्मांड की वास्तविकता गयात्मकता तथा परिवर्तन है। श्री अरविंद कहते हैं कि इस प्रकार का मत सामान्यतः पाश्चात्य परम्परा में ही प्रतिपादित हुआ है। सभी प्रकार के प्रकृतिवादी दर्शन, जैसे जड़वाद, भाववाद आदि इस प्रकार के इहलौकिक सिद्धांत के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। भारतीय दर्शन में चार्वाक को इसी सिद्धांत के अंतर्गत रखा जा सकता है।

श्री अरविंद इस सिद्धांत में निहित दोषों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यह भी अपने ढंग से एकांगी सिद्धांत है। यदि परमात्म-मूलक सिद्धांत एक छोर पर रहने के कारण एकांगी है, तो यह सिद्धांत दूसरी सीमा पर रहने के फलस्वरूप एकांगी है। इसका मूल दोष इस तथ्य में है कि यह 'परे' की संभावना को देख ही नहीं पाता। यह देख ही नहीं पाता कि भौतिकता का क्षेत्र अत्यंत ही सीमित एवं अयथेष्ट है। फलतः इस प्रकार के सिद्धांत अंततः न बौद्धिक जिज्ञासा को शांत कर पाते हैं, और न भावनात्मक संतुष्टि प्रदान कर पाते हैं। यह सिद्धांत तो इस तथ्य से भी आंख मूंदे है कि हर व्यक्ति कभी न कभी भौतिकता के स्तर से ऊपर उठ जाता है। यही इसके अबौद्धिकता तथा एकपक्षीयता की पहचान है।

(ग) पारलौकिक सिद्धांत : परमात्म-मूलक सिद्धांत में केवल परात्म तत्वों की ही यथार्थता स्वीकारी जाती है। किंतु पारलौकिक सिद्धांत में इस प्रकार की एकपक्षीयता नहीं है, क्योंकि 'पारलौकिक' कहने से ही 'लौकिक' का भी बोध होता है, तथा लौकिक से 'परे' का भी। अतः कहा जा सकता है कि यह सिद्धांत 'जगत' तथा 'जगत' से परे के उच्चतर रूपों - दोनों की वास्तविकता स्वीकार करता है। एक प्रकार से यह सिद्धांत पहले दोनों सिद्धांतों का एक प्रकार का समन्वय बन जाता है, क्योंकि यह 'भौतिक जगत' तथा 'अनुभवातीत जगत' - दोनों की सत्ता को स्वीकारता है। यह मानता है कि 'आत्म' एक पारलौकिक सत्ता है, जिसका कुछ सामयिक निवास इस धरती पर भी होता है। शरीर में स्थित आत्म - अर्थात 'अस्तित्ववान मानव' की वास्तविकता को स्वीकारता हुआ यह सिद्धांत यह भी स्वीकारता है कि शरीर के नष्ट होने के बाद भी आत्म की अमरता खंडित नहीं होती। श्री अरविंद कहते हैं कि सामान्यरूप में ईश्वरवादी दर्शन तथा ईश्वरवादी धर्म इसके अंतर्गत आ जाते हैं, क्योंकि वे सभी इस जगत को कर्मस्थल मानते हुए यह भी मानते हैं कि आत्म का अमरत्व संभव है।

इस सिद्धांत की विशेषता है कि यह तीनों तत्वमीमांसीय सत्ताओं - जगत, व्यक्ति तथा अनुभवातीत जगत - के लिए स्थान बनाता है, तथा विरोधी सिद्धांतों का एक प्रकार का समन्वय प्रस्तुत करता है। किंतु श्री अरविंद का कहना है कि इस सिद्धांत में भी कुछ उसी प्रकार का दोष निहित है जो परात्म-मूलक सिद्धांत में दिखाई देता है। यह स्वीकारता है कि अनुभवातीत क्षेत्र है - स्वर्ग अथवा ईश्वरीय स्थान जैसा कुछ है - जिसमें प्रवेश पाना ही मानव की मुक्ति है। किंतु यह सिद्धांत मानव की वर्तमान स्थिति को एक पतन की स्थिति समझता है, एक प्रकार का बंधन मानता है, तथा कहता है कि जीवन की सार्थकता इस स्थिति के निषेध के द्वारा ऊपर उठने में है। इस प्रकार यह सिद्धांत भी जगत तथा मानवीय स्थिति के निषेध की बात करता है, उसे वास्तविक नहीं मानता। श्री अरविंद के अनुसार इस सिद्धांत का एक अन्य दोष यह भी है कि यह इस जीवन या इस जगत में उच्चतर चेतनाओं के जाग्रत होने की संभावना को ही नकार देता है, क्योंकि यह मानता है कि वह संभावना अनुभवातीत क्षेत्रों में ही कार्यरत हो सकती है। श्री अरविंद का अपना विश्वास है कि इस जगत में ही 'दिव्य जीवन' संभव है।

(घ) पूर्ण अद्वैथवादी अथवा साश्लैषिक सिद्धांत : इस प्रकार तीनों सिद्धांतों में निहित दोषों को देख श्री अरविंद अपने तत्वमीमांसीय सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं, जो, उनके मत में, पूर्णतया अद्वैतवादी (Integral) तथा सांश्लिक सिद्धांत है। वे भी स्वीकारते हैं कि पूर्णतावादी तथा संश्लेषात्मक सिद्धांत के लिए यह तो आवश्यक है। वे भी स्वीकारते हैं कि पूर्णतावादी तथा संश्लेषात्मक सिद्धांत के लिए यह तो आवश्यक है ही कि वह 'ब्रह्मांड' तथा 'परात्म' दोनों की वास्तविकता को समुचित महत्व दे। जड़तत्वों को भी 'ईश्वरीय' समझना अनिवार्य है, और यह अनुभूति भी आवश्यक है कि जड़, प्राण तथा मानस के आमूल परिवर्तन तथा ऊपर उठने में ही उच्चतर रूपों की प्राप्ति संभव है।

श्री अरविंद इसी प्रकार की तत्वमीमांसा का प्रतिपादन करते हैं। उनका कहना है कि धरती पर का जीवन ईश्वरीय जीवन का विपरीत जीवन नहीं। ऐसा नहीं है कि किसी शक्ति ने मानव को शरीर के बंधन में डाल कष्ट भोगने का दंड दिया है, तथा जीवन उस दंड से अधिक कुछ नहीं है। नहीं, श्री अरविंद का कहना है कि जीवन और जगत तो वह स्थल है, जहां ईश्वरीय शक्तियां व्यक्त हो मुखरित हो सकती है, तथा सर्वोच्च आध्यात्मिक शक्ति, प्रकाश, एकत्व तथा आनंद की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। यह जीवन 'आत्म' की सभी विधाओं को समेटे है, इसे बांधकर सीमित कर देना उपयुक्त नहीं है। यह सभी प्रकार की विधाओं को समेटे है, इसी कारण पूर्णतावादी भी है तथा सांश्लैषिक भी।

अतिमानस (The Supermind) : हमने देखा है कि श्री अरविंद के दर्शन में सत् के क्षेत्र को दो गोलार्द्धों में बांटा गया है - उच्चतर तथा निम्नतर। सच्चिदानंद रूपी विविध सत् उच्चतर गोलार्द्ध के हैं तथा जड़तत्व प्राणतत्व, मन तथा मानस निम्नतर गोलार्द्ध की सत्ताएं हैं। हम लोगों ने यह भी देखा है कि श्री अरविंद के अनुसार विकास-प्रक्रिया मानस के स्तर तक पहुंच चुकी है, तथा उच्चतर गोलार्द्ध में प्रवेश के लिए तत्पर हो रही है। अब एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि उच्चतर क्षेत्र में प्रवेश कैसे संभव होगा? उसकी क्या प्रक्रिया हो सकती है? इस प्रश्न में निहित विचारणीय बात यह है कि जो प्रक्रिया निम्नतर गोलार्द्ध की प्रक्रिया है वह एकाएक उच्चतर गोलार्द्ध में प्रवेश भी कैसे कर सकती है? इस प्रकार का परिवर्तन एकाएक कैसे संभव हो सकता है? श्री अरविंद का कहना है कि इस प्रकार का परिवर्तन तभी संभव हो सकता है जब इन दोनों क्षेत्रों के मध्य में एक ऐसा माध्यम हो जो इन दोनों क्षेत्रों को संबंधित कर पाए। इस माध्यम के लिए यह आवश्यक है कि एक ओर तो वह अपने स्वरूप में सच्चिदानंद के समान ही हो, अन्यथा वह उच्चतर गोलार्द्ध से सम्पर्क रख ही नहीं सकता, दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि यह निम्नतर गोलार्द्ध के श्रेष्ठतम विकसित रूप - मानव के सर्वथा विपरीत या उसका विरोधी नहीं है।

श्री अरविंद के अनुसार इसी प्रकार का माध्यम अतिमानस (Supermind) है। अतिमानस भी श्रेष्ठतर गोलार्द्ध का ही सत् है, और उसके साथ यह वह चरमलक्ष्य भी है जिसे प्राप्त करने में ही मानस की परिणति है। यह उच्चतर गोलार्द्ध का सत् है, अतः इसे सच्चिदानंद की पूर्ण चेतना है। यह सच्चिदानंद नहीं है, किंतु सच्चिदानंद की पूर्ण चेतना है, और इस अर्थ में सच्चिदानंद के ही स्वरूप का है। इसी प्रकार यह मानस (Mind) से भिन्न है किंतु मानस के विकास का चरम लक्ष्य तो है ही।

इस विवरण के स्पष्ट हो जाता है कि अतिमानस के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इन भावों को स्पष्ट करना आवश्यक है। वे दो भाव हैं (क) सत् की चेतना के रूप में अतिमानस - वह आध्यात्मिक तत्व जिसे सच्चिदानंद की पूर्म चेतना है, तथा (ख) मानस (Mind) के चरम लक्ष्य के रूप में अतिमानस। हम इन्हीं दो भावों की व्याख्या के आधार पर अतिमानस के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

इनमें जो प्रथम भाव है उसकी व्याख्या करने के क्रम में श्री अरविंद कुछ विशिष्ट विचारों का उपयोग करते हैं, जिन्हें वे अपने अर्थ में कुछ भाषीय प्रयोगों के द्वारा व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस भाव के विवरण में वे 'सृष्टा' (Creator), 'सत्भाव' (Real Idea), 'चरम सत्य चेतना' (Superem Truth consciousness) आदि शब्दों का उपयोग करते हैं। इन सभी अर्थपूर्ण उक्तियों को समझने के लिए पहले उस पृष्ठभूमि को स्पष्ट करना आवश्यक है, जिसके आलोक में श्री अरविंद ने इन अवधारणाओं को विकसित किया है।

पहले हम इस स्थल पर एक संभावित संशय की संभावना के विचार से प्रारंभ करें। श्री अरविंद सत् को 'सच्चिदानंद' कहते हैं। इस विवरण से ही एक कठिनाई उत्पन्न होती है। 'सच्चिदानंद' कहने में ही यह निहित है कि हम तीन तत्वों की कल्पना करते हैं, और तब तीनों को एक संगठित करते हैं। "We say Existence, Consciousness, Bliss, and then we say 'they are one'." अब संशय का बिंदु इस प्रकार उत्पन्न होता है। हम पहले तीन भावों में भेद करते हैं और तब उन्हें संगठित कर उनका एकात्म स्थापित करते हैं। इस प्रकार का चिंतन 'मानस' के स्तर के लिए मान्य हो सकता है, किंतु परमसत् जो पूर्ण अद्वैत है, उसमें यह विभाजन तथा पुनः संगठन आदि की प्रक्रिया कैसे चल सकती है? इसी के साथ एक दूसरी कठिनाई भी उत्पन्न होती है। हमें सृष्टि की भी व्याख्या करनी है, तथा वह व्याख्या 'सत्' के आधार पर ही करनी है। इसका अर्थ है कि हमें सत् में किसी न किसी प्रकार के 'विभेदन' की संभावना को मानना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसा माने बिना सत् से सृष्टि की व्याख्या संभव प्रतीत नहीं होती। यदि सत् को हम पूर्ण अद्वैत कहें तथा यह माने कि उसका अद्वैत रूप किसी अवस्था में खंडित नहीं हो सकता, तब उससे सृष्टि के उद्भव की संभावना ही समाप्त हो जाएगी, क्योंकि यदि सत अविभाज्य है तो उसके विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता।

संशय तथा प्रश्न है कि सत् को सच्चिदानंद कहने में निहित इन कठिनाइयों का श्री अरविंद किस प्रकार निराकरण कर सकते हैं? श्री अरविंद के विचारों की मौलिकता इस बात में है कि वे इन कठिनाइयों का एक वैचारिक समाधान ढूंढ लेते हैं। उनका कहना है कि सत् के पूर्ण अद्वैत रूप को बिना खंडित किए उससे सृष्टि की व्याख्या तभी संभव हो सकती है, जब इस व्याख्या के लिए एक ऐसे आधार-सिद्धांत का विचार करें जो सत् में विभाजन तो उत्पन्न नहीं कर सकता, सत् के अद्वैत रूप को खंडित नहीं करता, किंतु विभेदन कर सकता है। सत् तथा सृष्टि के मध्य स्थित इस तत्व की विशिष्टता यतह है कि इसे सत् के पूर्ण अद्वैत रूप की स्पष्ट चेतना है, फिर भी यह सत् को इस रूप में प्रस्तुत कर सकता है कि सृष्टि की ओर से देखने में यह त्रिगुणात्मक सत् प्रतीत हो। श्री अरविंद का कहना है कि हम इस प्रक्रिया को पूर्णतया समझ नहीं पाते, क्योंकि अभी हमारे समझने-सोचने का आधार हमारा मानसिक ढंग है, जो इस प्रक्रिया का चित्र पूर्णतया उतार नहीं पाता। मानसिक विचार-प्रक्रिया का अपना ढंग है, वह पहले सत् को खंडित कर लेती है, तब पुनः उन खंडों को संगठित कर 'एकात्मता' को समझना चाहती है। किंतु इस ढंग से सत् का एकात्मरूप पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो पाता। श्री अरविंद कहते हैं कि ऐसा होते हुए भी मानसिकता के स्तर में ही उच्चतर संभावनाओं की ओर संकेत तो अवश्य मिल जाता है। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मानसिक चेतना से उच्चतर आध्यात्मिक चेतना भी संभव है। उस उच्चतर आध्यात्मिक चेतना में सत् के पूर्ण एकात्म रूप की भी चेतना है, और यह भी चेतना है कि किस प्रकार यह पूर्ण अद्वैत सत् त्रिरूपों में दिखाई देता है।

श्री अरविंद कहते हैं कि रोचक बात यह है कि इन दो दृष्टियों में - मानसिक चेतना एवं उच्चतर चेतना में - कोई विरोध नहीं है, क्योंकि वस्तुतः सत् का पूर्ण अद्वैत रूप कभी खंडित विभाजित होता ही नहीं। यह तो सृष्टि के परिप्रेक्ष्य में - सृष्टि की ओर से देखने में सत् को त्रिगुणात्मक या त्रिरूप समझा जाता है। इसी अर्थ में श्री अरविंद कहते हैं कि सृष्टि तथा सत् के मध्य एक ऐसा तत्व मानना पड़ता है जो सत् के पूर्ण एकात्म को बनाए रखते हुए भी उसे त्रिगुणात्मक रूप में प्रस्तुत कर सके

- और यही तत्व अतिमानस (Supermind) है। इसी कारण श्री अरविंद अतिमानस की व्याख्या निम्नलिखित ढंग से करते हैं, "The Supermind... starts from unity, not division, it is primarily comprehensive, differentiation is only a secondary act."

अब हम यह समझ सकते हैं कि क्यों श्री अरविंद अतिमानस को 'चरम सत्य-चेतना' (Supreme Truth-Consciousness) कहते हैं। कहा जा सकता है कि ब्रह्मांड चित् -शक्ति की ही अभिव्यक्ति है, अतः ब्रह्मांड भी चेतना का ही रूप है और यह चेतना अनेक रूपों में व्यक्त होते हुए भी मूलतः एकरूप ही है। इसी कारण सृष्टि में अनेकता का भेद स्पष्ट होता रहता है, किंतु इससे वह मूल सत्य खंडित नहीं होता कि सत् मूलतः एकरूप है। इसी रूप में सर्वांगी चेतना होने के कारण - अनेकता तथा एकात्म दोनों की चेतना होने के कारण यह चेतना 'चरम सत्य-चेतना' है। इसे श्री अरविंद 'चरम सत्य चेतना' इस कारण भी कहते हैं कि इस विवरण से इसका तथा मानसिक चेतना का भेद स्पष्ट हो जाता है। मानसिक चेतना में विभाजन-प्रक्रिया अंतर्निहित है, इसी कारण मानसिक चेतना की प्रतिनीतियां 'सत्' से भिन्न प्रतीत होती हैं। अतिमानसिक चेतना विभाजन नहीं करती, अतः इस चेतना की प्रतीति 'असत्' या अयथार्थ नहीं हो सकती। इसे पूर्ण अद्वैत सत् की सतत्-चेतना है, और इसी कारण 'चरम सत्य-चेतना' कहा गया है।

अतिमानस को 'सृष्टा' (Creator), या 'सर्जनात्मक भाव' (Creative Idia) तथा कभी-कभी सत्भाव (Real Idea) कहा गया है। श्री अरविंद समझते हैं कि सर्जनात्मक आधार पर चरम सत् से भिन्न नहीं हो सकता। यदि सृष्टि का आधार ढूंढना है, तो उसे सत् में ही ढूंढना है, उससे पृथक नहीं। वेदान्त दर्शन में इस समस्या के समाधान के रूप में 'ईश्वर' तथा 'माया' के सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ तथा सृष्टि की व्याख्या इन्हीं के आधार पर की गई है। किंतु वेदान्त के लिए 'ईश्वर', 'माया' आदि विचार का 'ब्रह्म' के साथ समन्वय की स्पष्ट कठिनाई तो उत्पन्न हो ही जाती है। फलतः वेदान्त के समक्ष इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं रह जाता कि ईश्वर, माया, जगत सभी को अन्ततः अवास्तविक ही माना जाए। श्री अरविंद का कहना है कि इस प्रकार के समाधान में सत् का एकत्व रूप तो सुरक्षित रह जाता है, किंतु सृष्टि के साथ पूर्ण न्याय नहीं हो पाता, क्योंकि सृष्टि पूर्णतया भ्रामक ही सिद्ध होती है। उनका कहना है कि ऐसा मात्र इसी कारण होता है कि यहां सृष्टि के आधार 'ईश्वर' को एक प्रकार से ब्रह्म से भिन्न समझा गया है, जिसके चलते ब्रह्म तथा ईश्वर के समन्वय में ईश्वर का विलय अनिवार्य हो जाता है। श्री अरविंद का कहना है कि वेदान्त दर्शन की इस कठिनाई से बचने का मार्ग यही हो सकता है कि सृष्टि के आधार को परमसत् से भिन्न या पृथक नहीं कर दिया जाए, बल्कि इस रूप में समझा जाए कि 'सत्' तथा 'सृष्टि' दोनों के साथ न्याय हो सके।

इसी मांग के अनुरूप श्री अरविंद 'अतिमानस' की अवधारणा को स्थापित करते हैं। सच्चिदानंद शुद्ध सत्, चित् एवं आनंद रूप है, वह स्थान तथा काल के परे है। इसके विपरीत सृष्टि स्थान तथा काल में स्थित एक गति है। इन दोनों के मध्य - इन दोनों को सम्बंधित करने वाली एक 'कड़ी' का होना आवश्यक है। उस कड़ी के लिए भी यह आवश्यक है कि एक ओर उसे सत् की एकरूपता की चेतना भी है, तथा दूसरी ओर सृष्टि की अपनी यथार्थता की भी समझ है। यह तभी संभव हो सकता है जब इस कड़ी को एक सर्जनात्मक भाव - एक 'सत्भाव' के रूप में समझा जाए। यह सत्भाव के रूप में सत् ही है, तथा सर्जनात्मक होने के कारण इसमें अभिव्यक्ति की शक्ति निहित है। यह सच्चिदानंद से भिन्न नहीं है, क्योंकि यह सत्भाव है - सच्चिदानंद की चेतना है। किंतु इसमें अभिव्यक्ति की भी शक्ति है। अभिव्यक्ति का अर्थ है 'मूलभाव का एक प्रकार का विभेदन' उसके अपने मूल रूप का अनेक रूपों में व्यक्त होना। यह व्यक्त रूप उस सत् का ही रूप है - लेकिन वह अभिव्यक्त है अतः उसकी प्रतीति सत् से भिन्न है। यही प्रतीति सृष्टि की प्रतीति है। इस व्याख्या को स्पष्ट करते हुए श्री अरविंद कहते हैं, "Supermind is the vast self-extension of the Brahman that contains and develops', ...'that by the Idea it develops the triune principle of existence, consciousness and bliss out of their indivisibible unity. It differentiates them but does not divide.'" यह स्पष्ट हो जाता है कि सृष्टि-प्रक्रिया तब आरंभ होती है जब सत् में निहित तीनों रूपों के एकात्म का अतिमानस विभेदन प्रस्तुत करता है। इसे स्पष्ट करते हुए श्री अरविंद कहते हैं - "No doubt it [Supermind] is Sachchidananda itself...., but Sachchidanand is not resting in its pure, infinite invariable consciousness, but proceeding out of this primal poise.... into a movement which is its form of energy and instrument of cosmic creation."

अब हम अतिमानस के स्वरूप से संबंधित दूसरे विवरण का विवेचन करें। अतिमानस के स्वरूप के विवरण में कहा

गया है कि यह मानस का चरम लक्ष्य है - उसकी अंतिम परिणति है। इसे स्पष्ट करने के प्रयत्न में श्री अरविंद प्रथमतः तो मानस तथा अतिमानस का भेद स्पष्ट करते हैं, तथा उस संदर्भ में मानस में निहित कमियों तथा उसकी सीमाओं को स्पष्ट करते हैं। उसके पश्चात वे यह भी दिखाते हैं कि एक अर्थ में मानस भी अतिमानस के सर्वथा विपरीत नहीं बल्कि उसमें निहित शक्तियां अतिमानस की शक्तियों के ही निम्नतर रूप हैं। इस प्रकार वे दिखाते हैं कि मानस निम्नतर गोलार्द्ध में स्थित तो है- किंतु उसमें यह अतिमानस का ही निम्नतर रूप है तथा अपने इस चरम लक्ष्य की ओर उठने के लिए सतत् तत्पर है।

श्री अरविंद के अनुसार मानस तथा अतिमानस का भेद 'सत्' के ग्रहण करने के ढंगों का भेद है। अतिमानस अनिवार्यतः सत् को पूर्ण अद्वैत एवं एकात्मरूप में ग्रहण करता है, किंतु मानस अपने स्वरूप को खंडित कर देता है, उसे उसके अंशों में विभाजित कर देता है। मानस अनिवार्यतः ज्ञाता तथा ज्ञेय में भेद कर देता है, तथा 'ज्ञेय' को भी उसके अवयवों एवं अंशों के आधार पर ही पकड़ने की चेष्टा करता है।

मानस के इसी स्वरूप के कारण मानस सत् के चित्रण में सर्वथा असमर्थ है। सत् पूर्णतया एक है, अतः ज्ञान की ऐसी विधा जो ज्ञान-विषय को उसके विश्लेषण के द्वारा ही जान सकती है, उसे अवयवों में विभाजित कर ही जान सकती है, सत् का ज्ञान नहीं पा सकती, क्योंकि सत् अविभाज्य है, उसके अयवव नहीं होते। इस स्थल पर कहा जा सकता है कि हमारी मानसिक चेतना में भी तो इकाइयों की चेतना होती है। किंतु श्री अरविंद कहते हैं कि मानस के द्वारा प्राप्त वैसी चेतना भी ज्ञान नहीं है। किंतु उन उदाहरणों में भी मानसिक चेतना प्रथमतः अपने विषय को विभिन्न अंशों में विश्लेषित करती है, और तब पुनः उन्हें संगठित करती है। किंतु इस प्रकार की इकाई मौलिक एकत्व का चित्रण नहीं हो सकता। इसी कारण श्री अरविंद कहते हैं कि मानसिक चेतना की उपलब्धियां ज्ञान के सही अर्थ में ज्ञान नहीं है।

किंतु मानस तथा अतिमानस के इस भेद में ही इस बात का संकेत मिलता है कि मानस में ऊपर उठने की तत्परता है। इससे प्राप्त ज्ञान आंशिक एवं धरातली है, किंतु उनमें भी 'एकत्व' को प्राप्त करने की उत्सुकता है, इकाइयां स्थापित करने की प्रवृत्ति है। इससे यह संकेत मिलता है कि मानस में भी अपूर्णरूप में अतिमानस की शक्ति ही कार्यरत है। श्री अरविंद तो कहते हैं कि एक अर्थ में उच्चतर आध्यात्मिक क्षेत्र से अतिमानस का निम्नतर क्षेत्र के मानस के अवतरण के फलस्वरूप ही मानस में विकसित होने की उच्चतर उठने की संभावना जाग्रत होती है। मानस में ऊपर उठने की शक्ति अंतर्निहित है। पुनः जब यह विश्लेषण भी करता है, तो विश्लेषण पर यह एकता नहीं, इसमें एक प्रकार की प्रवृत्ति है - एक विवशता है कि वह विश्लेषित अंशों का पुनः संगठन कर ले। यह एकात्मक की ओर उन्मुखता आध्यात्मिकता की पहचान है, इस बात का संकेत है कि किसी न किसी रूप में मानस में भी अतिमानसिक शक्ति विद्यमान है - भले ही वह सर्वथा आंशिक या अपूर्णरूप में विद्यमान हो। श्री अरविंद कहते हैं कि मानस जो उच्चतर प्रेरणाओं की ओर उठ पाता है या आध्यात्मिक क्रियाओं की ओर अग्रसर हो पाता है - वह मात्र इसी कारण है कि अतिमानस इसमें अवतरित है। अतिमानस का यह अवतरण तो 'सृष्टि' के लिए अनिवार्य है, क्योंकि यह आत्म का निम्नतर गोलार्द्ध में अवतरण है। इस अवतरण के बिना उत्थान या विकास (Evolution) की भी प्रक्रिया नहीं चल सकती। यदि अतिमानस किसी न किसी रूप में किसी आवरण में मानस में अवतरित न हो तो मानस में अतिमानस की ओर उठने की प्रवृत्ति ही नहीं जाग सकती।

****

सर रवीन्द्रनाथ टैगोर

रवीन्द्रनाथ टैगोर एक महान कवि, लेखक और दार्शनिक थे। उनकी रचनाओं ने भारतीय सांस्कृतिक विचारों के विश्व के अनेक भागों में लोकप्रिय बना दिया।वे प्रथम एशियाई व्यक्ति थे जिन्हें नोबेल पुरस्कार मिला था। यद्यपि उनकी प्रसिद्धि एक कवि के रूप में थी, जिन्होंने उपन्यास, लघु कथाएँ, नाटक, लेख, निबन्ध भी लिखे तथा वे चित्रकार भी थे। उनका संगीत भी 'रवीन्द्र संगीत' के नाम से बंगाल में बहुत लोकप्रिय हैं। वे एक समाज सुधारक, देशभक्त और मानवतावादी थे।

टैगोर का जन्म कोलकाता के एक धनाढ्य परिवार में 1861 में हुआ था। वे देवेन्द्रनाथ और शारदादेवी के नौंवे पुत्र थे (कहा जाता है कि राजा जी इस तथ्य का मजाकिया तौर पर परिवार नियोजन के संदर्भ में उल्लेख करते थे।) यद्यपि वे अनेक स्कूलों में गए परन्तु उन्होंने शिक्षा की परम्परागत पद्धतियों को कभी पसंद नहीं किया। कुछ समय बाद, वे युनिवर्सिटी कॉलेज, इंग्लैण्ड में चले गए। कविता की उनकी पहली पुस्तक कवि कहिनी (कवि की कहानी) थी जो 1878 में प्रकाशित हुई थी। सन् 1882 में उन्होंने 'संध्या संगीत' लिखा। सन् 1883 में उनका विवाह भवतारिणी देवी से हो गया। 'चित्रांगता' उनकी प्रसिद्ध नृत्य-नाटिका थी। सन् 1901 में उन्होंने 'बंगदर्शन' पत्रिका के सम्पादन का कार्यभार संभाला और स्वतंत्रता आन्दोलन से जुड़ गए। लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल को धर्म के आधार पर बाँटने का उन्होंने जोरदार विरोध किया। उन्होंने अविभाजित बंगाल में एकता को रेखांकित करते हुए प्रतीक के तौर पर 'रक्षाबंधन' उत्सव की शुरुआत की।

मानवतावाद : रवीन्द्र नाथ ठाकुर विश्व कवि थे। उनका मानवतावाद व्यापक था। जगन्नाथ मिश्र के अनुसार, 'हमारे जीवन के संकीर्ण प्रवाह को उन्होंने विश्व-मानस रूपी महासमुद्र के साथ संयुक्त कर दिया। उन्होंने हमारी दृष्टि को व्यापक, हृदय को उदार और अनुभूति को गम्भीर बना दिया।

कवीन्द्र रवीन्द्र वास्तव में सच्चे मानवतावादी थे। अपनी कृतियों में पीड़ित मानवता के प्रति उन्होंने संवेदना व्यक्त की है। उन्हेंने संकीर्णता का विरोध किया। जगन्नाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में - ''उनके साहित्य में सर्व मानवीय भावनाओं की प्रधानता है। मनुष्य को जाति, देश, सम्प्रदाय से परे विशुद्ध मानव मात्र के रूप में देखने की सहज शक्ति को लेकर मानों वे जन्में थे।'........ उनकी रचनाओं में, उनके कर्म प्रधान जीवन की साधना में हमें मनुष्य के प्रति और विश्व मानव के प्रति जो प्रेम देखने को मिलता है वह अन्य किसी लेखक या साहित्यिक रचना में नहीं मिलता है।''

रवीन्द्रनाथ टैगोर मनुष्य को परमात्मा की सर्वश्रेष्ठ कृति मानते था। उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय में एक व्याख्यान माला के अन्तर्गत कहा था- ''मनुष्य का दायित्व महामानव का दायित्व है जिसकी कहीं सीमा नहीं है। जन्तुओं का वास भूमण्डल पर है मनुष्य का वास वहाँ है जिसे वह देश कहता है। और यह देश केवल भौमिक नहीं है अपितु मानसिक है। मनुष्य-मनुष्य के मिलन से यह देश बनता है। यह मिलन ज्ञान एवं कर्म में है।''

टैगोर मानव सम्मान और मानव अन्तःकरण की पवित्रता की उपेक्षा नहीं देख सकते थे। उनका कहना था कि, 'जो व्यक्ति समाज के प्रति अपने कर्तव्य तथा दायित्व की अवहेलना करके शुद्ध जीवन का पूर्णत्व प्राप्त करना चाहता है वह सामाजिक साहचर्य व एकता के आदर्शों के साथ विश्वासघात करता है।'' उनकी महान् आत्मा पड़ोसियों के कष्टों से कराह उठती थी। उन्हें इस बात का बहुत दुख था कि मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये औरों का शोषण करता है। विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने लिखा है, ''टैगोर पृथ्वी पर दैवी प्रेम के सन्देशवाहक थे। 'गीतंजलि' में उन्होंने ईश्वरीय प्रेम की व्यापकता का गान किया है और अपने बन्धुओं को आमन्त्रित किया है कि वे इस प्रेम-सागर का रसास्वादन करें।''

राष्ट्रवाद एवं देशभक्ति : जगन्नाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में, ''एक कवि के रूप में उन्होंने समाज के सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा को अपनी अनुभूति द्वारा समझा और उन पर चिन्तन किया। इस चिन्तन के फलस्वरूप उनके देशत्व बोध तथा राष्ट्र चेतना का उन्मेष हुआ। इसलिये तत्कालीन राजनीतिक नेताओं की राजनीति उन्हें सार शून्य लगी, क्योंकि उस

राजनीतिक समाज-जीवन के साथ वास्तविक रूप से कोई सम्बन्ध नहीं था।''

रवीन्द्र नाथ टैगोर शुद्धतः राष्ट्रवादी थे किन्तु उनका राष्ट्रवाद संकीर्ण नहीं था और न राष्ट्र का उग्रवाद ही उन्हें स्वीकृत था। उन्हें इस बात से बेहत दुःख होता था कि यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों द्वारा एशिया और अफ्रीका के लोगों को गुलाम बना दिया गया है। राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता पर प्रकाश डालते हुये उन्होंने लिखा है कि -

'राष्ट्र शब्द हमारी भाषा में कहीं नहीं है और न ही इसका अस्तित्व हमारे देश में है। काफई समय से यूरोपियन शिक्षा के प्रभाव से हम लोग राष्ट्रीय उच्चता को महत्व देने लगे हैं; लेकिन उसके आदर्श हमारे दिलों और दिमाग में नहीं है। हमारे इतिहास, हमारे धर्म, हमारे सामाजिक जीवन, हमारे परिवार, किसी ने भी राष्ट्र के महत्व को मान्यता नहीं दी। जहाँ यूरोप राजनीतिक स्वतन्त्रता को महत्व देता है वहाँ हम लोग आत्मिक स्वतन्त्रता के पुजारी हैं। ऐसी सभ्यता की, जिसको कि राष्ट्र के सम्प्रदाय में स्पष्ट किया गया है, परख की जानी शेष है, किन्तु स्पष्ट है कि उसके आदर्श प्रतिष्ठा के पात्र नहीं है क्योंकि उनमें अन्याय और असत्य के दोष भरे पड़े हैं। जबकि यूरोपीय सभ्यता का आधार राज्य है। मनुष्य उच्चता के शिखर पर या तो समाज या राज्य के माध्यम से पहुँच सकता है, पर यदि हम सोचते हैं कि देश के निर्माण के लिय केवल यूरोपीय ढर्रे का ही रास्ता उचित है, तो हमारी यह विचारधारा ठीक नहीं है।'

टैगोर ने स्वदेशी आन्दोलन के दौरान अपने गीतों के माध्यम से देश-प्रेम का आह्वान किया। जलियां वाले बाग के हत्याकाण्ड से उन्हें मर्मान्तक पीड़ा हुई और उन्होंने विदेशी सम्मान के पद 'सर' को परित्यक्त कर दिया। उनका देश प्रेम, उनकी राष्ट्रवादिता उच्च कोटि की थी, उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया था कि 'Nationalisc is a greatmence' अर्थात् राष्ट्रवाद एक बहुत बड़ा उत्पात है। टैगोर की मान्यता थी कि उग्र राष्ट्रीयता साम्राज्यवाद का पोषण करती है। 'राष्ट्र' की जगह 'लोग' शब्दों का उन्होंने इस्तेमाल किया। आत्मशक्ति के उत्थान पर वे बल देते थे।

रवीन्द्र नाथ टैगोर अखण्ड भारत के समर्थक थे और राष्ट्रीयता को साम्प्रदायिकता के कलंक से बचानाचाहते थे। हिन्दु-मुस्लिम एकता के वे समर्थक थे।

टैगोर का विचार था कि राष्ट्रवाद का सिद्धान्त चेतनाशून्य करने वाली औषधि की भाँति होता है जो कि मनुष्य की चिन्तन शक्ति को कुण्ठित कर देता है। देश भक्ति को राष्ट्रवाद की सर्वोच्च अभिव्यक्ति माना जाता है। टैगोर को अपनी मातृभूमि से प्यार था। उन्होंने प्रार्थना में कहा- हे ईश्वर, हमें शक्ति देना जिससे हम निर्बलों एवं दलितों का अपमान न कर सकें। हमारा पर उस समय, जब हमारे आस-पास की वस्तुयें धूल में गिरी हुई हो, आसमान की ऊँचाइयों तक पहुँच सके।

देशभाक्ति के जातीय संघर्ष से उन्हें घृणा थी और उसे वे अशिष्टता मानते थे। आशय है कि देशभक्ति भौगोलिक सीमाओं में जकड़ी हुई नहीं थी, अपितु सम्पूर्ण मानवता के साथ इसका तादात्म्य था।

अन्तर्राष्ट्रीयता : टैगोर की दृष्टि विश्व-एकता की अनुभूति से अनुप्राणित थी। उनका मंतव्य था कि राष्ट्रीयता के कारण विश्व-प्रेम विकसित नहीं हो पाता है। उन्होंने 'वसुधैव कुटुम्बकम् ' का समर्थन किया और भारत तथा विश्व की समस्याओं के समाधान के लिये उन्होंने अंन्तर्राष्ट्रीयवाद की धारणा को प्रतिपादित किया।

वे समूचे विश्व को एक राष्ट्र की डोर में बाँधना चाहते थे। उन्होंने लिखा है कि, 'अब हम यह जानने लगे हैं कि हमारी समस्या विश्व व्यापी है तथा संसार का कोई भी राष्ट्र दूसरों से पृथक रहकर अपना कल्याण नहीं कर सकता। या तो हम सब सुरक्षित रहेंगे या साथ-साथ ही विनाश के गर्त में आ गिरेंगे।' उनकी विचारधारा अन्तर्राष्ट्रीय होनी चाहिये।

वे जाति उच्चता की प्रतिस्पर्धा को समाप्त करके मानव एकता की गरिमा की संस्थापना करना चाहते थे। अन्तर्राष्ट्रीय एकता, विश्व बन्धुत्व और विश्वपरिवार की उनकी कल्पना में कभी विरोधाभास नहीं उत्पन्न हुआ। उपनिषदों के इस वाक्य 'सर्वेभवन्तु सुखिनः' का वे बहुत सम्मान करते थे। इसी के आधार पर उन्होंने सार्वभौमवाद का संदेश दिया।

प्रजातन्त्र : टैगोर प्रजातन्त्र के प्रबल पक्षधर थे और राजनीतिक प्रभुसत्ता में जनता की भागीदारी के हिमायती थे। उनकी मान्यता थी कि सच्चा प्रजातन्त्र केवल उसी स्थिति में सम्भव है जबकि राजनीति, नैतिकता पर आधारित हो सके सरकार स्वार्थी नेताओं के चुंगल से मुक्त हो। उनका विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति का दायित्व है कि वह अपनी सेवायें सामाजिक हित में अर्पित करे। उनका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति का दायित्व है कि कोई भी व्यक्ति राष्ट्र के प्रति सेवा के महान दायित्व को, जो ईश्वरीय देन है, छीन नहीं सकता है।

अधिकार : टैगोर प्राकृतिक अधिकारों के समर्थक थे और व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों में राज्य के हस्तक्षेप को वे अनुचित ठहराते थे। उनका कहना था कि मनुष्य को दूसरे व्यक्तियों के साथ आत्मीय एकता का अनुभव करना चाहिये। इससे अधिकारों का संघर्ष मिट जाता है।

टैगोर का मत था कि कोई भी शासन अन्याय एवं अत्याचार के बल पर नहीं टिक सकता है। उन्होंने आत्म शक्ति पर विशेष बल दिया। वी.पी. वर्मा ने लिखा है कि, 'रवीन्द्र नाथ की संवेदनशील आत्मा ने इस स्थिति के विरूद्ध विद्रोह किया, और इंग्लैण्ड के वैयक्तिक सम्बन्धों से शून्य शासन के प्रति भारी रोष व्यक्त किया। यही कारण था कि वे भारत की राजनीतिक स्वाधीनता के समर्थक थे। उन्होंने इस बात को बड़ी तीक्ष्णता के साथ व्यक्त किया कि राजनीतिक स्वाधीनता के अभाव में जनता का नैतिक बल क्षीण होता है और आत्मा संकुचित हो जाती है।

स्वतन्त्र : टैगोर की स्वतन्त्रता सम्बन्धी अवधारणा राजनीतिक चिन्तन की अमूल्य देन कही जाती है। सम्पूर्ण मानव समाज के लिये वे स्वतन्त्रता को अपरिहार्य मानते थे। किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता छीनने का अर्थ है सम्पूर्ण मानवता के लिये विपत्ति का आह्वान करना। टैगोर ने जिस स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया उसका सम्बन्ध व्यक्ति के अन्तःकरण से था अर्थात् 'आत्मा की स्वतन्त्रता' की चर्चा उन्होंने की।

गुरुदेव मानव के प्रकृतिगत विकास के समर्थक थे। इसीलिये आत्मिक स्वतन्त्रता पर उन्होंने बल दिया। उनकी स्वतन्त्रता का प्रयोग व्यापक अर्थों में हुआ है न कि नागरिक स्वतन्त्रता के अर्थों में। प्रथाओं एवं रूढ़ियों से मुक्त होना, मन एवं दृष्टिकोण के संकोच से मुक्ति पाना; उनकी स्वतन्त्रता के मापदण्ड थे। उनके अनुसार 'सच्ची स्वतंत्रता के लिए उन्मुक्त मानसिक परिवेश एवं पारस्परिक सहानुभूति एवं संवेदनात्मक भावों का अस्तित्व आवश्यक है।

टैगोर की मान्यता थी कि हमारी आत्मा की स्वतंत्रता ही यथार्थ प्रगति के मार्ग को प्रशस्त कर सकती है। भारत की पराधीनता से मुक्ति के लिए, उनके अनुसार आवश्यक था कि आत्म शक्ति का संचय हो और अपने को नैतिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया जाए। उन्हें उदारवादी नेताओं की याचना पद्धति से सख्त नफरत थी, 'हम लोग क्यों सोचते हैं कि हमारी नई शक्तिमान सरकार के साथ हमारा काम संवैधानिक आन्दोलन से चल जायेगा। अतः उन्होंने देशवासियों के भीतर जागृति पैदा की कि स्वराज्य प्राप्ति के लिये आत्म निर्भरता एवं स्वतन्त्रता आवश्यक है। उनका कहना था कि ''यदि हम राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाते हैं तो हमें राजनीतिक लुटेरों से जो हमारी महान महान स्वतन्त्रता (आत्मा की स्वतन्त्रता) के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं, सहयोग नहीं करना चाहिये।

आर्थिक चिन्तन : समाज की मूलभूत आवश्यकताओं में अर्थ प्रधान आवश्यकता है। टैगोर ने समकालीन आर्थिक प्रणाली को शोषण का पोषक बताया था। उनका तर्क था कि यह प्रणाली शक्तिशाली वर्ग द्वारा कमजोर वर्ग का शोषण करती है। अतः यह व्यवस्था व्यक्ति के समष्टिगत विकास में सहायक नहीं हैं।

उनकी मान्यता थी कि समाज के अधिकांश लोग जो कि आर्थिक रूप से पर्याप्त कमजोर हैं, उनकी उपेक्षा करके कोई भी सभ्यता बलवती नहीं हो सकती है। किन्तु टैगोर को यह बात बिल्कुल अमान्य थी कि मानव जाति का एकमात्र लक्ष्य आर्थिक विकास ही है। उसके अनुसार- 'किसी राष्ट्र का आर्थिक जीवन एक पृथक तथ्य नहीं है, तथा आधुनिक समाज में आर्थिक दरिद्रता के साथ-साथ सांस्कृतिक दरिद्रता भी विकसित हो रही है।' भूखे व्यक्ति के लिए उनके हृदय में पीड़ा थी, नंगे एवं निराश्रित व्यक्ति के लिये वे चिन्तित थे। किसानों के आर्थिक जीवन में सहकारी प्रणाली के वे समर्थक थे। उन्होंने नोबेल पुरस्कार से प्राप्त अधिकांश धन को असहाय एवं गरीब जनता में बाँट दिया था।

सामाजिक दर्शन : टैगोर का सामाजिक दर्शन उनके सुसंस्कृत परिवार, बुद्ध, उपनिषद् की शिक्षाओं एवं राजाराम मोहन राय के विचारों से प्रभावित था। साथ ही पाश्चात्य लेखकों एवं कवियों की कृतियों का भी उस पर प्रभाव है।

प्रो. हुमायूँ कबीर के अनुसार वे एक ऐसे समाज के पक्षधर थे जिसमें व्यक्तियों को सृजनात्मक एवं सहकारी कार्यों द्वारा आत्माभिव्यक्ति का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है। टैगोर का विचार था कि सभ्य एवं सुसंस्कृत समाज में असमानतायें नहीं होनी चाहिये और सभी व्यक्तियों को अपनी आजीविका के लिये धनोपार्जन करना चाहिये। उनके मतानुसार मनुष्य के सामाजिक हितों में प्रेम एवं सहानुभूति का विशेष महत्व है। मानव समाज के विकास में सहानुभूति का अपूर्व योगदान है और प्रेम सामाजिक प्राणी का सर्वोत्तम गुण। रवीन्द्रनाथ टैगोर एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जो समन्वय के आधार पर संगठित हो। वे नगरों के विकास केसाथ-साथ ग्रामोत्थान के भी समर्थक थे। उनके अनुसार गाँवों की उपेक्षा करके देश उन्नति नहीं कर सकता है। उनका मत था कि - ''यदि मैं एक-दो गाँव को दुर्बलता के बन्धन से मुक्त कर सकता तो एक छोटे स्तर पर सारे भारत के लिये एक आदर्श का निर्माण होगा। मेरा उद्देश्य है इन थोड़े से ग्रामों को पूर्ण स्वतन्त्र देना। इस आदर्श को थोड़े से ही ग्रामों में कार्यान्वित कीजिये तो भी मैं कहूँगा कि ये थोड़े से गांव ही मेरा भारतवर्ष है। जब ऐसा होगा तभी हिन्दुस्तान वास्तव में हमारा होगा।'' भारत में व्याप्त अज्ञान, सामाजिक पतन एवं राजनीतिक पराधीनता से उन्हें बहुत कष्ट था। इसके लिये वे सृजनात्मक कार्यों पर बल देते थे, वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को टैगोर दोषपूर्ण मानते थे। सामाजिक

निर्माण-कार्य जनसमुदाय के मध्य किया जाना चाहिए, ऐसा टैगोर का विचार था । वे चाहते थे कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति सुख-सुविधा से लाभान्वित हो सके। सामाजिक व्यवस्था को नैतिकता पर आधारित होना चाहिए।

शिक्षा सम्बन्धी अवधारणा : रवीन्द्र नाथ टैगोर का कथन था कि, ''शिक्षा का सम्पर्क हमारे सम्पूर्ण जीवन- आर्थिक, बौद्धिक, सौंदर्यात्मक सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन में होना चाहिये।'' वे एक महान् संत एवं कर्मयोगी थे। तत्कालीन शिक्षा प्रणाली के वे पक्षधर नहीं थे। विद्या के आलोक से वे विशिष्ट रूप से आलोकित हुए। वे शिक्षा के माध्यम से आत्मनिर्भर एवं आध्यात्मिक रूप से सुव्यवस्थित व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहते थे। वे शिक्षा के द्वारा अविद्या को समाप्त करना चाहते थे। शिक्षा को टैगोर ने साधना माना है और इसे अविद्या से मुक्त रखने की बात कही है।

शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो आम आदमी के कल्याण से जुड़ी हो और समाज की उन्नति की आधारशिला हो। वे नहीं चाहते थे कि शिक्षा में राजनीति का प्रवेश हो। उनका मन्तव्य था कि ''व्यक्ति की सच्ची मुक्ति अविद्या या अज्ञान से मुक्ति है।'' शिक्षा एक व्यक्ति को सुसंस्कृत नागरिक बनाती है और उसमें राष्ट्रीय उत्तरदायित्व की भावना जागृत करती है।

वर्तमान स्कूली शिक्षा उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अनुपयुक्त है; ऐसी उनकी मान्यता थी। यह प्रणाली सुनागरिक तैयार करने में असमर्थ है उनके मन में धन के प्रति मोह है। ''हमें इस संसार में सत्य या श्रेष्ठ को ग्रहण करने का ईश्वर प्रदत्त वरदान प्राप्त है, परन्तु एसी श्रेष्ठतापूर्ण गतिविधि, एक ऐसी शक्ति के द्वारा जो अनुशासन कहलाती है, प्रतिबन्धित कर दी गयी हैं।'' विद्यालयीय शिक्षा के सन्दर्भ में उनका विचार है कि विद्यालय में हमें किसी संग्रहालय की निर्जीव मूर्तियों की तरह बैठना होता है तथा हमें पढ़ाये जाने वाले पाठ ऐसे प्रतीत होते हैं; मानो कि फूलों पर ओले गिर रहे हों'' उन्होंने शान्ति निकेतन में विद्यालय की प्राकृतिक एवं खुले परिवेश में शिक्षा को महत्व दिया।

टैगोर का विचार था कि वर्तमान स्कूली शिक्षा बच्चों को ऐसे विश्व से, जो ईश्वर के रहस्य से परिपूर्ण है, हठात् दूर करती है। शिक्षा के माध्यम से सन्दर्भ में उनका विचार था कि विचारों के अदान-प्रदान की ऐसी पद्धति होनी चाहिये, जिसमें बच्चे को आधिक प्रयास करने की आवश्यकता न हो, साथ ही संप्रेषण को शिक्षार्थी ग्रहण कर सके और इस कार्य को मातृभाषा आसानी से कर सकती है। टैगोर अंग्रेजी को इसका विकल्प नहीं मानते थे। अंग्रेजी शिक्षा को वे अनुचित एवं अपर्याप्त मानते थे। उनका कहना था कि मातृभाषा में सम्प्रेषणीयता की शक्ति अधिक होती है। पाठ्य पुस्तक के संदर्भ में उनका मत था कि पुस्तकें सामाजिक संरचना के अनुकूल होनी चाहिये। बच्चों को पढ़ाये जाने वाले साहित्य में सामाजिक मूल्यों, नैतिक मानदण्डों का सामवेश आवश्यक है और आधुनिक शिक्षा व्यवस्था इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाती है।

विश्वविद्यालयीय शिक्षा को वे दोषपूर्ण एवं प्रयोजन में असफल मानते थे। उनका विचार था कि विद्यार्थियों को भारतीय इतिहास, दर्शन, साहित्य एवं धर्म की शिक्षा दी जानी चाहिए और भारतीयता का विशेष रूप से समपोषण होना चाहिए। उनका कहना था कि सच्ची शिक्षा राष्ट्रीय जीवन का मार्ग प्रशस्त करती है और हमें चेतना प्रदान करती है। शिक्षा संस्कृति, ललितकला एवं आर्थिक विकास से संदर्भित होनी चाहिये। उनका कहना था कि अब समय आ गया है कि हम अपने पूर्वजों का ताला खोलें और अपने और अपने जीवन की समृद्दि के लिये प्रयुक्त करें। वे पश्चिम के अंधानुकरण के विरूद्ध थे, पूर्वी सभ्यता का सम्बन्ध उन्होंने यहाँ के निवासियों की अस्थि-मज्जा से बताया।

ललितकला को वे सभ्यता का अंग मानते थे। संगीत को राष्ट्रीय अभिव्यक्ति का सर्वोच्च अंग उन्होंने माना है।

शिक्षा का आधार आर्थिक होना चाहिये। अर्थात् शिक्षा जीवन का एक हिस्सा है। वे चाहते थे कि आर्थिक जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध रखना चाहिये। शैक्षिक संस्थाओं का अस्तित्व सहकारिता के सिद्धान्त पर संचालित होना चाहिये।

पूर्व एवं पाश्चात्य का मेल : स्मरणीय है कि गुरुदेव रविन्द्रनाथ टैगोर मानवतावाद के पुरोधा एवं प्रवक्ता थे। वे पूर्व तथा पश्चिम का संगम चाहते थे। 1921 में उनके द्वारा विश्व भारती की स्थापना का यही प्रयोजन था। उन्होंने कहा था कि इसका प्रयोजन पूर्व तथा पाश्चात्य के संगम के अध्ययन के संयुक्त समागम में सत्य की अनुभूति करना तथा दो गोलार्द्धों के मध्य विचारों के स्वतंत्र अदान-प्रदान के द्वारा विश्व शान्ति की मूल संभावनाओं को सशक्त करना है।

रवीन्द्रनाथ ने बार-बार भारतीय सभ्यता की आंतरिक शक्ति, आध्यात्मिकता की बात कही है और मनुष्य की भौतिक तथा आध्यात्मिक प्रकृति के तादात्म्य का उल्लेख किया है। वे एकता के समर्थक थे और उनका मत था कि सृजन मूल्यवान होना चाहिये। विश्व के सारे सुकृत्य मानवता की धरोहर है। उनका विचार था कि पूर्व को पश्चिम की वैज्ञानिक पद्धति को ग्रहण करना चाहिये और पश्चिम को पूर्व की एकता से सीखना चाहिये।

****

राजा राममोहन रॉय

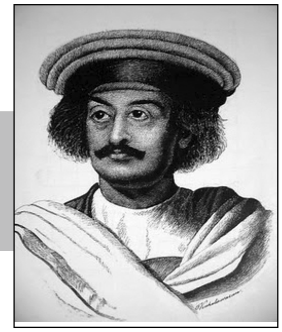

राजा राम मोहन रॉय एक महान धार्मिक, सामाजिक और शैक्षिक सुधारक थे। वे रूढ़िवादी हिन्दु क्रिया-कलापों (परम्पराओं)पर प्रश्न उठाते थे। वे 'आधुनिक भारत के निर्माता', 'आधुनिक भारत के जनक' तथा 'बंगाल पुनर्जागरण के जनक' के तौर पर जाने जाते हैं। उन्होंने द्वारकानाथ टैगोर के साथ मिलकर 1828में ब्रह्मो सभा (ब्रह्म समाज) की स्थापना की जो प्रभावशाली भारतीय सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलन था। उन्होंने सती प्रथा, जिसमें विधवा पत्नी अपने मृत पति की चिता पर जीवित ही अग्निदाह कर लेती है, तथा बाल-विवाह के अंत के लिए अथक कार्य किया।

राय का जन्म विसनगर, हुगली, पश्चिम बंगाल में एक बंगाली परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम रामकन्तों रॉय तथा माँ का नाम तरिणीदेवी था। राम मोहनराय ने उपनिषदों में दिए गए दर्शन के वेदान्त मत के सिद्धान्तों को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। उन्होंने ईश्वर के एकत्व का उपदेश दिया, वैदिक धर्म ग्रंथों का पहला अंग्रेजी अनुवाद किया, कलकत्ता केन्द्रीकरणवादी समाज (Culcutta Unitersim Society) की स्थापना में सहयोग दिया, ब्रह्मो समाज की स्थापना की और सती प्रथा के विरूद्ध प्रचार किया। उन्होंने पश्चिमी संस्कृति को भारतीय परम्पराओं के साथ मिलाने का प्रयास किया। उन्होंने भारत में शिक्षा प्रणाली को आधुनिक बनाने के लिए स्कूलों की स्थापना की।

राम मोहन रॉय ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी में काम किया। उन्होंने अपनी गतिविधियाँ एक रूढ़िवादी ब्राह्मण की तरह जारी रखीं। उन्होंने कुछ राजनैतिक गतिविधियाँ भी की। सन् 1803 से 1815 तक राम मोहन रॉय ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी में 'लेखन सेवा' की। उन्होंने सन् 1815 में 'आत्मीय सभा' का गठन किया।यह बात रोचक हो सकती है कि राम मोहन रॉय ने इस बात का हिसाब लगाया कि कितना पैसा भारत से बाहर भेजा जा रहा था और कहाँ भेजा जा रहा था। उन्होंने भविष्यवाणी की कि भारत में कुल संग्रहित राजस्व का लगभग आधा भाग इंग्लैण्ड को भेजा जाता है। इस प्रकार उन्होंने 'धन के बहिर्गमन के सिद्धान्त' को जन्म दिया जिसे बाद में राष्ट्रवादियों ने संवार लिया। विलियम बैंटिंग के सती प्रथा के उन्मूलन के निर्णय में राम मोहन राय द्वारा इसकी अथक वकालत थी।

सन् 1830 में राम मोहन रॉय इंग्लैण्ड गए। समुद्रों को पार करने के अंधविश्वास को तोड़ने वाले वे पहले शिक्षित भारतीय थे। राय मुगल बादशाह अकबर-II के राजदूत थे जिसने उन्हें भारतीयों के कल्याण के लिए प्रयास करने के लिए 'राजा' का खिताब दिया था।रॉय फ्राँस भी गए। सितम्बर में स्टेपलटन, ब्रिस्टल, ब्रिटेन में राय का देहान्त हो गया।

राय ने अनुभव किया कि सामाजिक व धार्मिक सुधार हिन्दू धर्म को राजनतिक दृष्टि से मजबूत करेंगे। वे लिखते हैंः ''हिन्दुओं की वर्तमान प्रणाली उनके राजनैतिक हितों के लिए सही ढंग से सुविचारित नहीं हैं...... यह जरूर है कि उनके धर्म में कुछ परिवर्तन किए जाएँ, कम-से-कम उनकी राजनीतिक लाभ तथा सामाजिक सुविधा के लिए तो जरूर ही।'' राम मोहन रॉय ने अंग्रेजों के साथ अपने व्यवहार में महसूस किया कि वे हिन्दू परम्पराओं का अक्सर आदर नहीं करते थे या पश्चिमी मानकों की तुलना में विश्वसनीय नहीं मानते थे। उन्होंने यह दिखाकर परम्पराओं का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया कि उन अंधविश्वासी प्रचलनों का सिद्धान्तों की शुद्ध भावना से कोई सम्बन्ध नहीं है जो हिन्दु धर्म को विकृत करते हैं। राम मोहन रॉय जिन 'अंधविश्वासी प्रचलनों' पर आपत्ति करते थे, उनमें सती प्रथा, जातिगत रूढ़िवाद, बहु-पत्नीवाद तथा बाल विवाह शामिल थे।

ऐसे प्रचलनों के कारण अंग्रेज अधिकारियों के मन में भारतीय राष्ट्र पर नैतिक उच्चता का भाव पैदा होता था। वे नैतिकता में अपने को श्रेष्ठ समझते थे। राम मोहन रॉय के धार्मिक सुधारों का लक्ष्य, ईसाइयत के आदर्शों की तरह मानवीय व्यवहारों को कार्यान्वित कर एक निर्मल व उचित समाज का निर्माण करना था।इस प्रक्रिया से विश्व में हिन्दू धर्म की प्रतिष्ठा बढ़ेगी।

****

स्वामी दयानंद सरस्वती

वैदिक धर्म के मूल्यों एवं सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव में उनके जीवन दर्शन का विकास हुआ था। वेद उनके लिए सभी प्रकार के सत्य और सर्वोच्च ज्ञान का स्रोत था। वेदों को आधार बनाकर ही स्वामी दयानंद सरस्वती ने सामाजिक एकता, आपसी सहयोग और बहुमुखी जागरण का प्रचार किया। वैदिक ग्रंथों के आधार पर ही उन्होंने जाति प्रथा एवं अस्पृश्यता का विरोध किया एवं सामाजिक समानता एवं एकता के आदर्श को स्थापित करने का प्रयास किया। उनके द्वारा समाज के सभी वर्गों को एक दूसरे के करीब और समान स्तर पर लाने का प्रयास किया गया।

समानता उनके जीवन और नैतिकता के केन्द्र में स्थापित था। उनका विचार था कि स्त्रियों को भी वही दर्जा, सम्मान, विशेषाधिकार और स्वतंत्रता मिलनी चाहिए, जो पुरुषों को प्राप्त है। उनके अनुसार, विवाह एक पवित्र बंधन था और स्त्री पुरुष की देवसंगिनी थी।

स्वामी दयानंद सरस्वती के जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति आर्य समाज के सिद्धांतों एवं कार्यों से होती है। उनका मानना था कि आर्य समाज के कर्तव्य धार्मिक परिधि से कहीं अधिक व्यापक है। उन्होंने कहा कि व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य लोगों के शारीरिक, सामाजिक और आध्यात्मिक कल्याण के लिए कार्य करना होना चाहिए। उन्होंने वैयक्तिक उत्थान के स्थान पर सामूहिक उत्थान को अधिक महत्व दिया। उन्होंनेकहा कि सामाजिक कल्याण और सामूहिक उत्थान तभी संभव है, जब व्यक्ति में सेवा और त्याग की भावना हो। धर्म-कर्म के बाह्य आचारों का विरोध स्वामी दयानंद सरस्वती के द्वारा किया गया। हिंदू रूढ़िवादिता का विरोध करते हुए उन्होंने मूर्ति पूजा, बहुदेववाद, पशु बलि, कर्मकांडों और अंधविश्वासों का विरोध किया क्योंकि उनका मानना था कि जिस ज्ञान के आधार पर इन क्रियाविधियों को संपादित किया जा रहा है भ्रमयुक्त हैं। उन्होंने ज्ञान के स्त्रोत के रूप में वेदों को स्थापित किया, लेकिन उनका कहना था कि उनकी व्याख्या मानव-विवेक द्वारा होनी चाहिए। उनका मानना था कि समुचित शिक्षा के प्रसार द्वारा ही अज्ञानता और भ्रांति को दूर कर मानव-विवेक का विकास किया जा सकता है। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य सिर्फ विज्ञान और समाज शास्त्र जैसे विषयों का अध्ययन नहीं वरन् चरित्र निर्माण, सेवाभाव और निष्ठा का विकास करना है। उनके द्वारा शिक्षा को जनहितकारी गतिविधियों के साथ संयोजित किया गया।

मूल्यों का मूल्य : हम में से अधिकांश के पास धन के लिए सुसंग्रहित व्यक्तिगत मूल्य है। वहीं जब सत्य बोलने की बात आती है अक्सर हमारे मूल्य साधारण व अर्ध ग्रहित होते हैं। जब ऐसा मामला हो तो तब क्या होगा जब धन-मूल्य एवं सत्य मूल्य के बीच संघर्ष हो? उस समय क्या होगा जब झूठ बोलकर 500 रूपये अतिरिक्त अर्जित करने की स्थिति उत्पन्न हो? संभवतः किसी ने हमें उतना ही रकम भुगतान करने सिफारिश की है जितना कि मैंने मूल रूप में उस वस्तु के लिए भुगतान किया है। मैंने 1000 रूपये भुगतान किया है जबकि मैं आसानी से बोल सकता हूँ कि मैंने इस वस्तु के लिए 1500 रूपये का भुगतान किया है। इस छोटा-सी झूठ के बदले में मैं अतिरिक्त 500 रू. कमा सकता हूं। मैं जानता हूं कि यह अतिरिक्त 500 रूपये मेरे लिये क्या कर सकता है, मैं अपने लिए कितना आराम खरीद सकता हूँ। वहीं दूसरी ओर यह स्पष्ट नहीं है कि इस परिस्थिति में सत्य बोलकर मुझे क्या फायदा मिल सकता है। क्या मुझे सत्य बोलना चाहिये या झूठ? कौन सा मूल्य जीतेगा? बहुत हद तक धन के लिए अर्जित मूल्य ही विजेता होगा। लेकिन उस समय मेरे अंदर कुछ मंथन चल रहा होगा या आवाज आ रही होगी 'सत्य बोलो, सत्य बोलो।' मैं झूठ बोल सकता हूं पर मैं सहज नहीं होउंगा क्योंकि झूठ बोलने के पश्चात जो होगा उसे मैं नजरअंदाज करने की स्थिति में नहीं होउंगा। क्या होता है? पहला, वहां सघर्ष विद्यमान है तब वहां अपराध बोध भी है। मैं संघर्ष की उपेक्षा कर सकता हूं पर मैं अपराध बोध की उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि मैं सत्य के लिए अर्द्धमूल्य से बच नहीं सकता। अपराध बोध महान उत्तेजक है, मिर्च से भी ज्यादा। यह बहुत बड़ा उत्तेजक है। एक बार जब

अपराध बोध हो जाता है तब मैं अपने आप से पूर्णतः सहज नहीं हो पाता। सामान्य मूल्य की कीमत पर आसन्न फल की प्राप्ति कुछ हद तक आराम दिला सकता है पर दीर्घ अवधि में अपराध बोध के संग्रह मेरे लिए असहजता ही पैदा करेगा।

ज्ञाता-कर्ता विभाजन : जब मैं सामान्य नीतिशास्त्रीय मानकों की उपेक्षा करता हूं तो क्या कुछ और होता है? हां। मैं स्वयं में 'ज्ञाता-कर्ता में विभाजन उत्पन्न करता हूं।उदाहरण के तौर पर, जब मैं झूठ बोलता हूं, मैं वक्ता हो जाता हूंः बोलना कार्य है, इसलिए वक्ता के रूपमें एक्टर यानी कर्ता हूँ। ठीक उसी समय में यह भी जानता हूँ कि मैं जो कह रहा हूं वह सत्य के विपरीत है। इसलिए मैं, ज्ञाता के रूप में एक स्थिति में हू और मैं, कर्ता के रूप में दूसरी स्थिति में। खुद के झूठ के कारण, में विभाजन उत्पन्न करता हूँ, ज्ञाता मैं तथा कर्ता मैं के बीच विभाजन। प्रत्येक के पास इस तरह की झूठ है। आपकी उम्र क्या है? आपकी आय कितनी है? आपकी योग्यताएं क्या हैं? जब मैं ऐसी झूठों की श्रृंखला बनाता हूँ तो मैं खुद का विभाजन सृजित करता हूँ, एक ज्ञाता और दूसरा कर्ता। इस स्थिति में मैं एकीकृत नहीं हूं। मैंने अपने आपको एक 'आदर्श' में विभाजित कर लिया है।

ज्ञाता जो कि कार्रवाई के किसी अन्य मार्ग को मूल्यवान समझता है तो वास्तविक कर्ता कुछ और करता है। मैंने अपने अंदर डॉ. जेकिल-मिस्टर हाइड संघर्ष को सृजित कर लिया है। जेकिल एवं हाइड के साथ रहते हुये कोई अपने जीवन के कुछ भी हासिल नहीं कर सकता। यह असंभव है। यहां तक की छोटी चीजों में भी ज्ञाता-कर्ता विभाजन हानि पहुंचाता है। ज्ञाता मेरी आलोचना करना शुरु करता है। मैं अपने आपको कहता हूं कि मैं उपयोगहीन हूं, मैं वह नहीं कर सकता जो कि मैं करना चाहता हूं, मैं वह व्यक्ति नहीं हूं जो मैं करना चाहता हूं।

जब मैं 'विभाजित होता हूं तब मैं पूरी तरह से किसी चीज का आनंद नहीं ले सकता -जब भी मैं विभाजित होता हूं मेरी जीवन की गुणवत्ता प्रभावित होती है। जीवन की सुंदरता की प्रशंसा के लिए इसकी सहजता का आनंद लेने के लिए वास्तविक रूप से उपलब्ध होने के लिए, मुझे 'एक साथ' अच्छी पश्चिमी अभिव्यक्ति है, जो कि 'विभाजित' समस्या का अंतर्ज्ञेय प्रशंसा प्रदर्शित करता है। जब मेरे सार्वभौमिक मूल्य, अर्द्ध मूल्य हैं, तब वे मेरी 'एकजुटता' को नष्ट करने की पूरी क्षमता रखते हैं जिससे मेरा 'विभाजन' हो जाता है। मूल्य के बारे में दयानंद सरस्वती का उपर्युक्त विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि मूल्य सार्वभौमिक, निरपेक्षतता स्थितिजन्य, सांस्कृतिक, नस्ल या जाति असमानता से परे है। हमारा बाह्य व्यवहार यह प्रदर्शित करता है कि किस हद तक हम अपने आंतरिक मूल्य प्रणाली से बद्ध हैं। हम यह कह सकते हैं जब हम अपने आंतरिक स्रोत के अनुरूप चल रहे हैं तो हमारा व्यवहार जो भी होना चाहिये, उसे हम नीतिशास्त्र नाम देते हैं। जितना हमारा व्यवहार आंतरिक मूल्यों के संगत होगा उतना ही हमारा व्यक्तित्व एकीकृत होगा।

****

स्वामी विवेकानंद

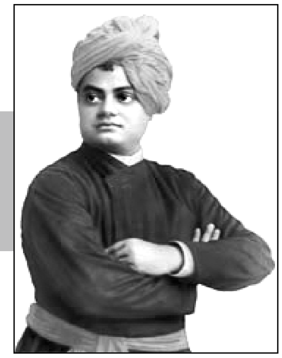

विवेकानंद के व्याख्याकारों ने उन्हें 'हिन्दू नेपोलियन' की संज्ञा दी है। उनके अनुसार विवेकानंद का स्थान 19वीं सदी के भारत के सर्वोच्च प्रभावशाली चिन्तकों में आता है। वह सर्वोच्च प्रतिभा सम्पन्न बुद्धिजीवी थे। प्रथम भारतीय थे जिन्होंने 19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिन्दू दर्शन एवं धर्म का विश्व के कोने-कोने में प्रचार-प्रसार किया। सितंबर 1893 में शिकागो में सम्पन्न हुई धर्मों की विश्व संसद में उन्होंने विदेशियों द्वारा भारत के पद-दलित गौरव, अस्मिता तथा आत्मविश्वास को जगाया और उसे उसकी विश्व के आध्यात्मिक गुण की पुनः बहाल कराने की दिशा में अभूतपूर्व भूमिका निभाई। उनके उपदेशों को बंगाल के राष्ट्रवादी आन्दोलन पर गहन प्रभाव पडा तथा उनके विचार जिनसे राष्ट्रीय चेतना विकसित हुई एवं भारत के लोगों को उपनिवेशवाद के अपने संघर्ष में सराहनीय प्रेरणा मिली।

इसके अलावा उन्होंने देश की तात्कालिक समस्याओं तथा जनता द्वारा भोगी जाने वाली यातनाओं की ओर भी ध्यान दिया और ऐसी भूमिका निभा कर उन्होंने भारतवासियों के दिल में इतना आत्मविश्वास पैदा कर दिया जिससे वह स्वयं अपने बलबूते पर अपने मानवोचित अधिकारों के लिए संघर्ष कर सकें। विवेकानंद के विचारों को संक्षेप में इस प्रकार समझा जा सकता है। विवेकानंद ने अपने चिन्तकों में आध्यात्मवाद को प्रमुख स्थान दिया है, परन्तु उसका मानवतावाद से सम्मिश्रण भी किया है। विवेकानन्द ने जनता को सशक्त तथा स्वावलंबी बनाकर वेदांत का भारत के पुनर्जीवित तथा पुनर्चेतना के लिए प्रयोग किया। उनके दर्शन में मनन तथा कर्म, निर्विकल्य समाधि तथा मानवतावादी गतिविधियों, परमात्मा तथा विश्व इन सबका समन्वय मिलता है। विवेकानंद की तीन आधाभूत मान्यताएं थीं- (1) मानव की प्रकृति ईश्वरीय है। (2) जीवन का लक्ष्य इस सत्यरूपी ईश्वरीय शक्ति की अनुभूति है। (3) सभी धर्मों का मूल लक्ष्य समान है।

विवेकानंद के अनुसार भारत की एकता के लिए एक सामान्य धर्म अथवा विभिन्न धर्मों के समान मूलभूत सिद्धांतों को पहचानना और स्वीकार करना अनिवार्य है। एक धर्मों की सकारात्मक बातों को लेकर एक नये धर्म की रचना करना जो सभी धर्मावलम्बियों को समान रूप से स्वीकार्य हो अत्यंत आवश्यक है।

विवेकानन्द ने उन सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक बुराइयों के विरूद्ध क्रांति की जिनसे व्यक्ति के विकास तथा समाज की संपूर्णता में बाधा आती थी। उन्होंने यह भी महसूस किया कि आर्थिक निर्धनता मानवतावाद के रास्ते में आती है। इसलिए उन्होंने निर्धनता के विरूद्ध युद्ध छेड दिया। वह इसे अनैतिक तथा असामाजिक मानते थे। विवेकानन्द ने कुल मिलाकर तत्कालीन सामाजिक बुराइयों का विरोध किया। वह उन सामाजिक हालात को बदलना चाहते थे जिनसे मानव के व्यक्तित्व का पतन होता है। उन्होंने वंशानुगत जाति प्रथा तथा उससे उत्पन्न होने वाली छुआछूत जो उनके पारस्परिक संबंधों में छाया बनती है, का खंडन किया। छुआछूत जो उनके पारस्परिक संबंधों में बाधा बनती है, का खण्डन किया। विवेकानन्द का यह मानना था कि यदि भारतीयों को अपनी विभिन्न समस्याओं का समाधान ढूढंना है तो उन्हें आत्मनिर्भर बनना होगा तथा विकास की दिशा में आगे बढना होगा। उनके अनुसार भारत के लोगों के दुखों का सबसे बड़ा कारण उनकी शारीरिक मानसिक तथा आध्यात्मिक निर्बलता थी।

विवेकानन्द का यह मानना था कि सभी धर्म अच्छे हैं, हर धर्म सत्य पर आधारित है तथा हर धर्म ने गुणी लोगों को जन्म दिया है। इसलिए यह आवश्यक नहीं है कि लोग स्वधर्म को छोड़कर किसी दूसरे के धर्म को अपनाएं। विश्व के विभिन्न धर्मावलम्बियों को एक दूसरे की धार्मिक भावनाओं को अपनाना चाहिए, लेकिन साथ ही साथ अपनी पहचान भी बनाए रखनी चाहिए और अपने धर्म के विकास केसिद्धांत के अनुसार विकास करनाचाहिए। उन्होंने किसी धर्म, सम्प्रदाय, धर्म सिद्धांत, धर्मनाम और धर्म की मोहर से परे हटकर एक ऐसे विश्वव्यापी धर्म की वकालत की जिसे विश्वव्यापी प्रेम तथा बंधुता का आधार बनाया जाए।

भारत एक आध्यात्मिक राष्ट्र है, इसलिए भारत में समाज सुधार का उद्देश्य आध्यात्मिक जीवन को और अधिक परिपक्व करना, लोगों का कल्याण करना तथा राष्ट्र को उसकी आध्यात्मिकता वापस दिलाने का होना चाहिए। इसलिए भारत में सुधार इस प्रकार से लाए जाएं कि धर्म की बाढ़ सी आ जाए और इससे पहले कि भारत समाजवादी अथवा राजनीतिक विचारों की बाढ़ में बह जाए हमें उन आदर्शों व सत्यों की ओर अपना ध्यान आकर्षित करना चाहिए जिनकी व्याख्या हमारे उपनिषदों धर्मग्रन्थों तथा पुराणों में की गई है। हमें उन्हें दोहराना चाहिए और उनका प्रचार-प्रसार करना चाहिए। वर्ण-विभेद, महिलाओं का अपमान तथा जनता की निर्धनता भारत के सामाजिक तथा राष्ट्रीय अवनति के प्रमुख कारण से है इसलिए सुधार का जो भी कार्यक्रम अपनाया जाए उसका उद्देश्य होना चाहिए निर्धनता का निवारण, महिलाओं को उच्च स्थान प्रदान कराना तथा जाति प्रथा को शिष्ट बनाना। शिक्षा के समाजीकरण, समान-वितरण तथा अर्हत की शिक्षा के द्वारा उन सब बुराइयों को दूर किया जा सकता है, जिसने भारतीय समाज की जड़ों को खोखला कर दिया है। निर्धनों, अज्ञानियों तथा दुराचारियों सबको शक्ति चाहिए और जितनी शक्ति अर्हत दे सकता है, उतनी कोई और नहीं दे सकता। अन्ततः शिक्षा से एक ऐसा प्रबल जनमत बनेगा जिसके आधार पर विधि का निर्माण होगा और संसाधनों के समान वितरण के हर कंधे का बोझ हल्का हो जाएगा। हालांकि विवेकानन्द पर कई तरह के आरोप लगाए गए हैं, परन्तु भारत के पुनर्जागरण में विवेकानन्द का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने एक ऐसे भारत की नींव रखी जिसका जन्म 20वीं सदी में होना था। उनका नववेदांतवाद भविष्य में भारत निर्माण का आधार बना। विवेकानन्द के संदेश को पाल तथा श्री अरविंद ने अपनाया और उसे अपनाकर एक ऐसे नये राष्ट्रवाद को जन्म दिया जिसमें धर्म अपनी पराकाष्ठा पर था। यदि भारत ने संगठित लोगों के सामूहिक सत्याग्रह को देखा तो उसका प्रारंभिक प्रेरणा में विवेकानन्द के सशक्त संदेश ने दी थी।

एक सच को कहने के हजार तरीके : एक सच को कहने के हजार तरीके हो सकते हैं और वे सभी सही हो सकते हैंः तात्पर्य यह कि यह भी कोई जीवन मूल्य हुआ कि आप अपने किसी सिद्धांत पर इतना अड़ गए कि दूसरे के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं छोड़ी। युवा का खुलकर कहना कि हां, आगे बढ़ने के लिए समझौता जरूरी है, पर यहां समझौते का मतलब है कि वे अपनी ही बात को अंतिम सत्य नहीं मानते और दूसरे के लिए भी स्पेस देने को राजी है।

स्वामीजी भारत के पहले ऐसे नेता थे जिन्होंने गरीब व वंचित जनता की उपेक्षा को भारत के पतन का सबसे बड़ा कारण माना और खुलेआम कहा कि 'किसी भी प्रकार की राजनीति का कोई फायदा नहीं होगा जब तक कि भारत की बहुसंख्यक जनता सुशिक्षित, भोजनयुक्त और अच्छी तरह से देखभाल युक्त नहीं होता'।

उनके दार्शनिक विचारों पर प्रभाव

स्वामी विवेकानन्द ने भारत के जन-समुदाय की सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को निकट से देखा तथा समझा था। इस जानकारी की पृष्ठभूमि में ही उनका दार्शनिक चिन्तन का उद्भव है। उन्होंने यह भी स्पष्ट रूप में देखा था कि समाज की कुछ कुरीतियां समाज में फैले अन्धविश्वास एवं अबौद्धिक रूढ़िवाद के कारण ही उत्पन्न है। उन्हें प्रतीत हुआ कि इसका मूल कारण यही था कि लोगो में आध्यात्मिक मूल्यों की समझ ढीली पड़ गयी थी। अतः उन्होंने समझा कि समय की मांग के अनुरूप इस प्रकार का आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति पूर्ण आस्था जाग सके। इसके लिए उन्होंने विभिन्न धर्मों में निहित आध्यात्मिकता के अंशों को समझने-परखने का प्रयास किया, तथा ऐसी विचारधारों को मान्यता दी जिनें आध्यात्मिक मूल्यों को प्राथमिकता दी गयी थी।

वैसे यह कहना अतिश्योक्ति नहीं है कि उनके विचारों पर सबसे गहरा प्रभाव प्राचीन भारतीय दर्शन- विशेषतः वेदान्त-दर्शन का है। ऐसा कहा जा सकता है कि स्वामी विवेकानन्द अपने ढंग के वेदान्ती हैं। उनके अपने दार्शनिक विचारों का मूल प्राचीन भारतीय शास्त्रों, मूलतः उपनिषदों तथा वेदान्त-दर्शन पर आधृत है। उदाहरणतः उनके विचारों का केन्द्रीय अंश-जहां वे सत्य के पूर्णतया सर्ववादी रूप को स्वीकारते हैं, वेदान्त पर ही आधृत प्रतीत होता है। वे भी विश्व में परिलक्षित कुछ विरोधाभासों एवं व्याधातों की व्याख्या करने में पारमार्थिक 'दृष्टि' तथा 'व्यावहारिक दृष्टि' में अन्तर करते है, तथा यह भेद भी वेदान्त पर ही आधृत है। वैसे विवेकानन्द अनेक स्थलों पर बार-बार कहते हैं कि वैदान्त के विचारों का समय की मांगों के अनुरूप अनिवार्य है, उनका अपना विचार इसी दिशा में एक प्रयास भीहै। फिर भी यह तो स्वीकारना है कि उनके विचारों पर प्रमुख प्रभाव प्राचीन भारतीय दर्शन का है, तथा उसमें भी सर्वप्रमुख प्रभाव वेदान्त दर्शन का है।

वेदान्त के अतिरिक्त, विवेकानन्द के विचारों पर किसी-किसी बिन्दु पर बौद्ध-दर्शन का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता है। कहा जा सकता है कि विवेकानन्द के विचारों में कम से कम तीन बिन्दु तो ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध में बौद्ध दर्शन का प्रभाव प्रायः स्पष्ट है। इस संदर्भ में सर्वप्रथम तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचार विवेकानन्द का'सर्वमुक्ति' विचार है इस विचार में

महायान बौद्ध विचार- विशेषतः बद्धिसत्व-विचार से सादृश्यता स्पष्ट रूप में झलकती है। पुनः कहा जा सकता है कि विवेकानन्द बौद्ध-दर्शन के उस प्रकार के विचार से स्पष्टतः प्रभावित प्रतीत होते हैं, जहां कहा गया है कि जिस नाव की सहायता से आँधी में कोई नदी पार कर लेता है, उसे उस नाव को इस प्रकार छोड़ना चाहिये कि अन्य भी उसका उपयोग कर सकें। कहा गया है कि गौतम बुद्ध स्वयं निर्वाण पाने के बाद भ्रमण करते रहे, तथा दूसरों को दुख-निरोध-मार्ग में अग्रसर करने के लिए सहायता करते रहे ।स्वामी विवेकानन्द इस प्रकार परार्थमूल्क, मानवीय कार्यों के मूल्यों का बड़ा महत्व देते हैं, तथा इसी प्रकार के प्रभाव में अपनी आध्यात्मिक कार्य-प्रणाली में सेवा-कार्य को प्रमुख बना देते हैं। पुनः यह भी कहा जा सकता है कि प्राचीन बौद्ध विचार में अनुशंसित 'सम्यक् कर्मान्त' तथा 'सम्यक् आजीव' जैसे कार्य से भी विवेकानन्द स्पष्टतः प्रभावित प्रतीत होते हैं।

इन भारतीय विचारधाराओं के अतिरिक्त उनके विचार पर एक प्रमुख प्रभाव ईसाई धर्म का है। विवेकानन्द ने सदा चारित्रिक-बल को बड़ा महत्व दिया है, इसी के अनुरूप सलीब पर टंगे ईसा की आत्म-शक्ति तथा चरित्र-बल से विवेकानन्द बड़े प्रभावित प्रतीत होते हैं। ईसा का यह रूप उन्हें प्रबल आध्यात्मिक शक्ति का सूचक प्रतीत होता है, जहां वे भयानक शारीरिक यातना सहते हुए भी ईश्वर से उन लोगों के लिये क्षमा की प्रार्थना करते हैं, जिन लोगों ने उन्हें वह यातना दी थी। अतः विवेकानन्द ईसाई-शिक्षा से सेवा तथा प्रेम की सीख लेते हैं। रामकृष्ण आश्रम के कार्यों के पीछे जो सेवा-भाव है, वह विवेकानन्द के चिन्तन पर ईसाई धर्म के इसी प्रभाव के फलस्वरूप है। उसी प्रकार जब विवेकानन्द कहते हैं कि मनुष्य में ईश्वरीय चिन्गारी छिपी है, तथा जिस आशावादी ढंग से वे मनुष्य के 'त्राण' की बात करते हैं, उन सभी विचारों में ईसाई धर्म के 'ईश्वरीय राज्य' की अवधारणा से कुछ सादृश्यता स्पष्ट दिखाई देती है।

उनके विचारों पर कुछ अन्य प्रभाव भी है। एक अवधि में में ब्रह्मो-समाज के प्रभाव में थे, कहा जा सकता है कि अन्धविश्वास तथा रूढिवादी कुरीतियों के विरूद्ध जो उनका प्रतिवाद है, वह उसी ब्रह्मो-समाज के प्रभाव में हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे दयानन्द सरस्वती के व्यक्तित्व से भी प्रभावित थे। सिद्धान्त के स्तर पर दयानन्द के द्वारा सत् के अनिर्वचनीय रूप की व्याख्या, तथा व्यवहार के स्तर पर दयानन्द के द्वारा 'निर्भयता' के गुण को महत्व देना - विवेकानन्द के लिये महत्वपूर्ण निर्देश था।

विवेकानन्द 'गीता' की बातों का भी उल्लेख बार-बार करते हैं। मूलतः गीता का'निष्काम कर्म विचार' विवेकानन्द के लिये बड़ा ही महत्वपूर्ण विचार है। किन्तु, उनके जीवन, मन तथा विचारों पर सर्वप्रमुख प्रभाव उनके पूज्यपाद परम प्रभु गुरु-स्वामी रामकृष्ण परमहंस का था, क्योंकि इसी प्रभाव के आलोक में उन्होंने अन्य सभी प्रभावों को तथा अपने जीवन एवं विचारों को संवारा।कहा जा सकता है, कि यदि विवेकानन्द स्वामी रामकृष्ण के सम्पर्क में नहीं आते तो उनके जीवन को दिशा ही सर्वथा भिन्न होती है। दोनों के विशिष्ट सम्बन्धों परविचार करते हुए प्रायः सभी विद्वान एकमत होकर कहते हैं कि स्वामी रामकृष्ण ने विवेकानन्द के जीवन, व्यक्तित्व तथा उनकी मानसिकता में एक मौलिक आध्यात्मिक परिवर्तन उत्पन्न किया। इसका विवरण करते हुए स्वामी निखिलानन्द कहते हैं, ये उनके गुरू श्रेष्ठ ही थे जिन्होंने उन्हें आत्म के ईश्वरीय रूप, ईश्वर के अद्वैत-रूप, सत्ता का एकत्व-स्वरूप, तथा इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रमुख तत्व-सभी धर्मों में निहित सामञ्जस्य एवं सार्वभौमता-की शिक्षा दी थी,* अतः यह तो सत्य है ही कि स्वामी रामकृष्ण ने ही उन्हें आध्यात्मिक अनुशासन तथा चिन्तन की दीक्षा दी।

माया-सिद्धान्त : विवेकानन्द के जगत-विचार में 'माया-सिद्धान्त' का उल्लेख तो अनिवार्य ही है, क्योंकि एक प्रकार से विवेकानद तो नव-वेदान्तवादी ही है, अतः वेदान्ती परम्परा के इतना कह देना आवश्यक है कि विवेकानन्द का माया-विचार अद्वैत-वैदान्त का ऋणी तो है ही, फिर भी वह सर्वथा शंकर के माया-विचार जैसा नहीं है। शंकर के समान वे यह स्वीकारते हैं कि जगत के आविर्भाव एवं परिवर्तन का आधार तो माया है ही। किन्तु शंकर के विचार में माया वह शक्ति है जो भ्रान्ति उत्पन्न करती है, तथा जगत को सत् समझने की भ्रान्ति का जनक है। विवेकानन्द माया के इस विचार को उस रूप में नहीं स्वीकारते । उनके अनुसार माया अनिवार्यतः भ्रान्तिजगत नहीं है। बल्कि, विवेकानन्द का तो कहना कि 'माया' से जगत का एक विशेष तथ्य सूचित होता है। उस दृष्टि से जगत जिस रूप में है'- उस रूप की एक अनिवार्य विशिष्टता को व्यक्त करने के लिये 'माया' की अवधारणा का उपयोग हुआ है।

माया के इस स्वरूप को स्पष्ट करते हुए विवेकानन्द बडे सरल एवं स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि वस्तुतः 'माया' जगत की व्याख्या का कोई सिद्धान्त नहीं है, बल्कि जगत का एक तथ्यात्मक विवरण है- तथ्य जिस रूप में है उन्हें सूचित करने का एक ढंग है। इस बात को अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि जगत में हमारे अस्तित्व का आधार विरोधों तथा व्यघातों

में है। जगत में विरोध अथवा व्याघात भरे पड़े हैं। जहां शुभ है, वहां अशुभ भी है तथा जहां अशुभ है वहां कुछ शुभ भी है। जीवन है, तो जीवन का अन्त - मृत्यु अनिवार्य है। जो हंसते हैं, उन्हें रोना भी पड़ता है, जो रोते हैं, उन्हें हंसने का भी अवसर मिलता है। इस प्रकार विवेकानन्द दिखाते हैं कि जीवन में, अस्तित्व में, जगत में इस प्रकार के विरोधी तत्व भरे पड़े हैं। उनका कहना है कि 'माया' नाम से जगत में स्थित इन्हीं विरोधों अथवा व्याघातों का बोध होता है। हम अपने जीवन को ही देखें, यह भी स्पष्टतः 'सत् -असत् ', 'है, नहीं है', 'होने, नहीं होने' के मध्य झूलता रहता है। कभी-कभी हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हम सब कुछ जान ले सकते हैं, और उसी क्षण कुछ एसा अवरोध उत्पन्न हो जाता है कि हमारी सारी ज्ञान-प्रक्रिया कुण्ठित हो जाती है। एक प्रकार से हमारे सारे कार्य-सभी क्रियायें एक चक्र में घूमती रह जाती है, और उस चक्र से हम निकल भी नहीं पाते। यही तो जीवन की वास्तविकता है, और यही माया है। हम किसी वस्तु को जडतत्व कहते हैं, किसी को मन कहते हैं, हम निश्चित रूप में नहीं कह सकते कि वे हैं, या नहीं है। जगत में व्यक्त यही 'विरोध तो माया है।

'माया' के इस विवरण से एक स्पष्ट लाभ तो है ही। यह अद्वैत वेदान्त के 'माया विवरण' से भिन्न होते हुए भी अद्वैत वेदान्त के विचार को खण्डित नहीं करता। वेदान्त में कहा गया है कि माया ईश्वर की वह शक्ति है जिससे जगत निरूपित है। विवेकानन्द का कहना कै कि इस बात को स्वीकारने से ही एक अन्य विचार स्पष्ट हो जाता है। माया ईश्वरीय शक्ति है, तो वह अनिवार्यतः न शुभ है, न अशुभ, बल्कि शुभ-अशुभ के भेद से तटस्थ है। यह तटस्थता माया की विशिष्टता है। माया की यह विशिष्टता-उसकी तटस्थता तभी स्पष्ट हो सकती है जब 'माया' को जगत का तटस्थ तथ्यात्मक विवरण माना जाए। इसी कारण को कहते कि जगत का तथ्यात्मक विवरण यही है कि जगत में 'विरोध' भरे पड़े हैं, 'माया' जगत में स्थित इन विरोधों के तथ्य का नाम है।

वैसे कुछ स्थलों पर विवेकानन्द स्वीकारते हैं कि 'माया' की वास्तविकता ब्रह्म की वास्तविकता जैसी नहीं, माया तथा जगत की वास्तविकता एक विशेष परिप्रेक्ष्य में, एक विशेष दृष्टि से ही है । वे स्वीकारते हैं कि किसी विशेष व्यक्ति के उदाहरण में यह सम्भव हो सकता है कि वह 'ज्ञान' की अवस्था प्राप्त कर ले, और तब उसके लिये जगत में निहित इन विरोधों की अनुभूति समाप्त हो जाएगी। इस प्रकार विवेकानन्द स्वीकारते हैं कि 'माया' से ऊपर उठने की सम्भावना अवश्य है। किन्तु विवेकानन्द यह भी कहते हैं कि 'ऊपर उठने' का यह अर्थ नहीं होता कि जिससे 'ऊपर उठा गया' वह पूर्णतया निषेधित नहीं हो जाता। भ्रम के निवारण हो जाने के बाद भी यह निषेधित नहीं होता कि हमने एक क्षण के लिये रस्सी नहीं, सांप ही देखा था। जिस समय सर्प देखा गया, भ्रम-निवारण के पश्चात 'सर्प' दिखाई नहीं देता। विवेकानन्द इस बात को भी 'सागर और सागर की लहरों' की उपमा के द्वारा स्पष्ट करते हैं। 'लहरें' वस्तुतः सागर का 'जल' ही है, फिर भी उनका अपना 'नाम' एवं 'रूप' है, जब तक वे उठती गिरती रहती हैं, उनकी अपनी वास्तविकता है। वे सागर से पृथक भी नहीं है, किन्तु मात्र 'सागर' भी नहीं है। उनके शान्त हो जाने के बाद मात्र सागर ही रहता है, किन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि जिस समय सागर में लहरे उठीं थी, उस समय 'लहरों' की अपनी कोई वास्तविकता नहीं थी। उसी प्रकार माया भी सागर में लहरों के समान है। यदि माया से परे भी जाया जा सके, तो वहां भी यही बात स्पष्ट होती है कि अभी तक 'माया' रूपी 'लहर' ब्रह्मरूपी सागर में ही थी, अब वह लहर शान्त हो गयी है कि अभी तक माया से ऊपर उठने की सम्भावना के रहते हुए माया पूर्णतया अवास्तविक सिद्ध नहीं होती, उसका निषेध ऊपर बताये ढंग में नहीं होता।

विवेकानन्द का कहना है कि माया की इसी विशिष्टता के कारण उसे भी अनिवर्चनीय कहा गया है। न उसे सत् कहा जा सकता है, न उसे असत् कहा जा सकता है, न वेदान्त के माया-विचार से कुछ भिन्न होते हुए माया के वैदान्ती विवरणों के लिये स्थान भी बना लेता है।

मानव का स्वरूप : मानव के स्वरूप के विषय में की गयी हर विवेचना को एक प्रारम्भिक प्रश्न से उलझना ही पड़ता हैः- मनुष्य क्या है- जिस रूप में वह दिखाई देता है, वह शरीरधारी रूप ही मानव है, या 'मानव' से वह तत्व सूचित होता है जो शरीर से भिन्न है जिसे 'आत्मा' कहा जाता है। मानव के समक्ष ऐसे साक्ष्य सदा उपस्थित होते रहे हैं, जो उसे मानव की वास्तविकता के रूप में 'आत्मा' को स्वीकारने के लिये विवश करते रहे हैं।

कुछ मानवशास्त्री इस प्रकार के विचार का प्रारम्भ प्रारम्भिक जीववादी विचारों में बताते हैं। प्रारम्भिक मनुष्य के लिये स्वप्न, बेहोशी, मृत्यु आदि की स्पष्ट अनुभूति तो थी, किन्तु वह उनकी व्याख्या नहीं कर पाता था। वह समझ नहीं पाता था कि शरीर के सर्वथा निष्क्रिय तथा नष्ट हो जाने का अर्थ क्या है। निष्क्रियता की अवस्था में क्या होता है, मृत्यु क्या है? उसे विवश हो कल्पना करना पड़ता है कि शरीरधारी मनुष्य वास्तविक मानव नहीं है, वास्तविक मानव कोई जैविक शक्ति है जो

मृत्यु के समय सदा के लिये शरीर को त्याग देती है। प्रारम्भ में इस शक्ति का विचार कुछ स्थूल एवं अस्पष्ट था, किन्तु जैसे-जैसे विचार की शक्ति बढ़ती गयी शरीर से भिन्न उस 'शक्ति' की रूपरेखा स्पष्टतर होती गयी, और इस प्रकार 'आत्मा' की अवधारणा स्थापित हुयी। इस 'आत्मा' के स्वरूप पर विचार चिन्तकों का वैचारिक केन्द्र बन गया। विवेकानन्द कहते हैं कि औपनिवेशिक विचारकों के लिये भी यह विचार का केन्द्र रहा। 'कथोपनिषद' का उल्लेख करते हुए विवेकानन्द उसके विचार को स्पष्ट करते हैं कि कोई व्यक्ति मरता है तो एक विवाद-उठ खड़ा होता है कोई कहता है कि सबकुछ समाप्त हो गया, अन्य कहते हैं कि वह मरा नहीं है, अभी भी जीवित है। कथोपनिषद प्रश्न उटाता है, 'कौन सा विकल्प सही है?'

इस प्रश्न को उठा कर विवेकानन्द इसका उत्तर कुछ इस प्रकार देते हैं। वे कहते हैं कि यहां दो विकल्प सम्भव है, एक विकल्प तो यह है कि शून्यवादी के समान यह स्वीकार लिया जाय कि हम कुछ जान नहीं सकते, भविष्य तो दूर की बात है, वस्तुतः भूत तथा वर्तमान के सम्बन्ध में भी हमें वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु एक दूसरी सम्भावना यह भी है कि व्याख्या की चेष्टा कर सकते हैं, सत् की खोज कर सकते हैं, हम यह स्पष्ट विचार कर सकते हैं कि भौतिक अणुतत्वों से निर्मित इस शरीर में क्या कुछ ऐसा है, जो इससे भिन्न है, इसके नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता, तथा उस अर्थ में क्या शरीर में शरीर से भिन्न कोई सत् है।

स्पष्ट है, विवेकानन्द दूसरे विकल्प को अपनाते हैं, तथा शरीर में स्थित उस सत् की व्याख्या अपने ढंग से करते हैं। उनका कहना है कि मानव की वास्तविकता वस्तुतः एक प्रकार की केन्द्रित आध्यात्मिक शक्ति है जिसे जीवात्मा (Sprit) कहा जा सकता है। विवेकानन्द के अर्थ में इस शब्द का एक भावात्मक तथा एक निबंधात्मक-दोनो अर्थ हैं। सामान्यतः इसके निबंधात्मक अर्थ पर अधिक बल दिया जाता है, वहां इस शब्द से सूचित होता है कि यह साधारण, आनुभविक तत्व जैसा तत्व नहीं है। विवेकानन्द के लिये उसका अभिप्राय यह है कि मानव का ऊपर से दिखाई देने वाला रूप उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। किन्तु यह मानव का निबंधात्मक विवरण है। भावात्मक रूप में भी 'जीवात्मा' (Spirit) शब्द से कुछ ऐसी भावात्मक आकांक्षाओं एवं प्रेरणाओं का बोध होता है। जिनके लिये ही मात्र मानव ही सक्षम है।

इसका अर्थ यह हो जाता है कि विवेकानन्द के मानव-विचार के दो पक्ष है। एक तो उसका वह भौतिक एवं शारीरिक पक्ष है जो मानव के मानवीय रूप का एक प्रकार से भौतिक जगत में आधार ही है, तथा दूसरा उसका वह पक्ष है जो भौतिक एवं शारीरिक स्वरूप से भिन्न है, जो उसके जीवात्मा-स्वरूप को स्पष्ट करता है तथा जिसके आलोक में भौतिक तथा शारीरिक पक्ष का भी परिवेश बदल जाता है। हम इन दोनो पक्षों की अलग-अलग विवेचना करेंगे।

कर्म एवं स्वतंत्रता : हमने ऊपर देखा है कि 'आत्म' के स्वरूप का विवरण देते हुए विवेकानन्द आत्म को 'स्वतंत्रता' कहते हैं। स्वतंत्रता को आत्म का लक्षण या गुण नहीं कहा जा रहा है, यह आत्म की विशिष्ट वास्तविकता है। विवेकानन्द यह नहीं कहते कि आत्म 'स्वतंत्र' है या 'मुक्त' है, वे कहते हैं कि आत्म 'स्वतंत्रता' ही है। स्वतंत्रता आत्म की 'थाली नहीं' है, वैसा मानने से आत्म तथा स्वतंत्रता का द्वैत उभरता है, इसी कारण विवेकानन्द आत्म को स्वतंत्रता से अभिन्न मानते हैं। तब यह है कि विवेकानन्द 'कर्म-नियम' को भी मान्यता देते हैं। वे स्वीकारते हैं कि हमारे कार्यों से प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं, संस्कार बनते हैं जिनके अनुरूप हमारा भविष्य निर्धारित होता है। प्राचीन भारतीय विचारों के समान उनका भी विचार है कि मनुष्य के अधिकांश कर्म अज्ञान में किये जाते हैं। उसे सदा वास्तविक अवास्तविक, सत् - असत् आदि के भेद का ज्ञान नहीं रहता, इस अज्ञान के फलस्वरूप मनुष्य के अधिकांश कार्य व्यक्ति को भुगतना पड़ता है। इन प्रवृत्तियों के अनुरूप उसका बाद का जीवन निरूपित-निर्धारित होता है। यही तो कर्म-नियम है जो एक ओर तो मानता है कि हमारे कर्मों के अनुरूप हमारा भविष्य निर्मित होता है, तथा, साथ-साथ, 'जैसा करोगे वैसा भुगतना ही होगा' के विचार को भी समर्थन देता है।

अब विवेकानन्द के समक्ष एक मूल प्रश्न उठ जाता है कि यदि कर्मों से ही भविष्य निर्मित होता है, तो आत्म को स्वतंत्रता कहने का तो कोई अर्थ नहीं रह जाता? दूसरे शब्दों में इस समस्या को इस प्रकार भी निरूपित किया जा सकता है कि 'आत्म की स्वतंत्रता' तथा 'कर्म-नियम' दोनो में एक साथ कैसे विश्वास किया जा सकता है - क्या ये दोनों विश्वास एक दूसरे से असंगत नहीं है?

विवेकानन्द को इस प्रकार की समस्या के उठने की अवगति है, अतः इसका समाधान वे अपने ढंग से करते हैं। प्रथमतः उनका कहना है कि 'स्वतंत्रता' का यह अर्थ 'सभी प्रकार के प्रभाव या निर्णायक उपादानों का अभाव' नहीं है। यदि स्वतंत्रता ऐसी हो, तो वह उच्छश्रृंखल स्वतंत्रता होगी, अन्धी एवं दिशाहीन स्वतंत्रता होगी, और उस प्रकार स्वतंत्रता ही नहीं होगी। 'स्वतंत्रता' का अर्थ 'किसी प्रकार के निर्धारित तथा प्रभाव' का नहीं होना नहीं है, उसका अर्थ मात्र यही है कि जो हमारे कार्य तथा जीवन को निर्धारित करते हैं- वे बाह्य तत्व नहीं है, हमारे अन्तर के तत्व हैं। निर्धारण भी यहां है ही- लेकिन

वह आत्म निर्धारण है। स्वतंत्रता अपने ही आत्म-उपदानो से निर्मित-निर्धारित होती है। यदि स्वतंत्रता के इस अर्थ को समझ लिया जाय तो ऊपर चर्चित असंगति की समस्या समस्या नहीं रह जाती। अब कहा जा सकता है कि मनुष्य के कर्म उसके जीवन एवं भविष्य को निर्धारित करते हैं, किन्तु वे उसके अपने कर्म है। यह उसका आत्म-निर्धारण है, वह अपने ही किये का कर्म भोगता है। यह उसकी स्वतंत्रता का निषेध नहीं, बल्कि उसकी सम्पुष्टि है, क्योंकि यह स्पष्ट रूप में स्वीकारता है कि हमारा भविष्य हमारे अपने कर्मों पर निर्भर है। इसमें यह सम्भावना भी निहित है कि यदि इस तथ्य को समझ कर शुभ एवं उचित कर्म करें, तो हम स्वयं, अपने ही कर्मों से, भविष्य को सही दिशा में प्रवाहित कर सकते हैं, तथा अज्ञान एवं दुख से स्वयं मुक्त होने का प्रयास कर सकते हैं। वैसे, विवेकानन्द ऊपर चर्चित सम्भावित असंगति के समाधान में अनेक स्थलों पर वेदान्त से भी सहारा लिया है। वेदान्त के समान वे भी कहते हैं कि 'स्वतंत्रता' तथा कर्म निर्धारण' के बीच जो असंगति दिखाई देती है, वह वास्तविक नहीं है, सीमित वैचारिक ढंगों के कारण उस असंगति की प्रतीति मात्र है। वे भी मानते हैं कि आत्म वस्तुतः किसी भ्रान्ति या असंगतिमें कभीनहीं उलझता,यह तो हमारे सीमित विचार,हमारे अज्ञान के कारण हमें ऐसा प्रतीत होता है। जिस किसी को भी वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो चुका है उसे यह स्पष्ट अनुभूति होती है कि वह वस्तुतः कभी भी किसी भ्रान्ति या विसंगति में उलझा नहीं था।

ज्ञान योग : 'ज्ञान-योग' इस अनुभूति पर आधृत है कि बन्धन का मूल कारण अज्ञान है। विवेकानन्द के अनुसार 'अज्ञान' का अर्थ सत् के स्वरूप का अज्ञान है, सत् -असत् में भेद नहीं कर पाना अज्ञान है, तो इस भेद को समझ लेना 'ज्ञान' है। सत् - असत् के भेद का ज्ञान ही विभिन्न नामों से निरूपित होता रहा है, यही आत्म-ज्ञान है, यही पूर्ण एकत्व का ज्ञान है, यही ब्रह्म-ज्ञान है। विवेकानन्द का कहना है कि इस प्रकार का ज्ञान केवल गुरु की बातें सुन कर या मात्र पुस्तकों के पढ़ने से प्राप्त नहीं हो सकता। इस ज्ञान का अपना महत्व है, इसकी अपनी उपयोगिता है, किन्तु यदि इन्हें उसी स्वर तक सीमित रखा जाये तो वे 'ज्ञान' नहीं 'जानकारी' मात्र ही रह जाएंगे। 'ज्ञान' के लिये अध्ययन तथा गुरु से सीखी बातों में निहित वास्तविकता को अनुभूत करना अनिवार्य है। इसके लिये सीखे हुए सत्यों पर 'मनन' एवं 'ध्यान' अनिवार्य है। इसी कारण 'मनन', 'निविध्यासन', 'ध्यान' आदि को ज्ञानोपार्जन का वास्तविक ज्ञान के ढंग का अनिवार्य अंग माना जाता है।

'ध्यान केन्द्रित करने' का कोई सरल कार्य नहीं है। इसके लिए आत्म के लिये अपनी पूर्ण शक्ति ध्यान के विषय पर केन्द्रित करने की आवश्यकता होती है। आत्म की शक्तियां शारीरिक क्रियाओं में, ज्ञानेन्द्रियों तथा कामेन्द्रियों के द्वारा बर्बाद होती रहती है। अतः ध्यानस्थ होने का एक चरण यह भी है कि इन इन्द्रियों से अपनी शक्तियों को वापस करे, उनका प्रत्याहरण करे। इसका अर्थ है कि ज्ञान-योग के लिये शरीर, मन एवं इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण अनिवार्य है। हमारे सामान्य कार्य इन्द्रिय-तुष्टि के कार्य होते हैं, इसका नियंत्रण अनिवार्य है। इन्द्रियों की मांगों का एक प्रकार से उन्मूलन करना पड़ता है, शारीरिक आवश्यकताओं को महत्वहीन बना देना पड़ता है।

इसे 'त्याग' तथा 'सन्यास' कहा जाता है। विवेकानन्द के अनुसार इस प्रकार का सन्यास ज्ञान-योग की एक आवश्यक कड़ी है। यह निवृत्ति का मार्ग है, इसका अर्थ है कि ज्ञान-योग के लिये शरीर, मन एवं इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण अनिवार्य है। हमारे सामान्य कार्य इन्द्रिय-तुष्टि के कार्य होते हैं, इसका नियंत्रण अनिवार्य है। इन्द्रियों की मांगों का एक प्रकार से उन्मूलन करना पड़ता है,शारीरिक आवश्यकताओं को महत्वहीन बना देना पड़ता है। इसे 'त्याग' तथा 'संन्यास' कहा जाता है। विवेकानन्द के अनुसार इस प्रकार का सन्यास ज्ञान-योग की एक आवश्यक कड़ी है। यह निवृत्ति का मार्ग है, इसका अर्थ है स्वार्थमूलक एवं शरीर-आधृत सभी इच्छाओं का त्याग, एवं मन, शरीर तथा इन्द्रियों पर पूर्ण नियंत्रण। इसी कारण इसे 'वैराग्य' भी कहा जाता है। इस प्रकार के वैराग्य का, विवेकानन्द के अनुसार, एक भावात्मक पक्ष यह है कि इसकी प्रेरणा का आधार ब्रह्म -ज्ञान को प्रबल आकांक्षा है। यदि इस 'ज्ञान की आकांक्षा' में त्याग का आधार नहीं है, तो वह वस्तुतः सन्यास नहीं है। 'ज्ञान की आकांक्षा' में त्याग का आधार नहीं है, तो वह वस्तुतः सन्यास नहीं है। 'ज्ञान की आकांक्षा' साधारण इच्छा जैसा कुछ नहीं है, क्योंकि इसका लक्ष्य सांसारिक या भौतिक नहीं है, बल्कि तात्विक है।

मन जब इस प्रकार के 'वैराग्य' की स्थिति में आ जाय तब ध्यान साधना की जा सकती है। इसमें सभी शक्तियों को एकत्रित कर ज्ञान की दिशा में कार्यरत करना पड़ता है। अब प्रश्न यह उठता है कि ध्यान किस विषय पर लगाया जाय? विवेकानन्द कहते हैं कि ध्यान के प्रारम्भिक अभ्यास में किसी 'रूप' या 'विषय' का चयन हो सकता है, जैसे हम विभिन्न ईश्वरीय गुणों को जानने का प्रयत्न कर सकते हैं। शनैः-शनैः सतत् अभ्यास तथा उस दिशा में प्रगति से ध्यान की 'प्रक्रिया' सघन होती जायगी, तथा व्यक्ति पूर्ण ध्यान अथवा समाधि की अवस्था तक पहुंच सकता है। ज्ञान-योग की यह परिणति है, इस अवस्था में विकर्षण की सारी प्रवृत्तियां नष्ट हो जाती है, सबी भेद समाप्त हो जाते हैं, यहां तक कि असीम समाधि की

अवस्था में 'आत्म' तथा 'ब्रह्म' का भेद भी मिट जायेगा। यही ज्ञान-योग का अन्तिम लक्ष्य है, पूर्ण ज्ञान है। इसी अवस्था में उसे पूर्ण 'एकत्व का' ज्ञान हो जाता है, जिस ज्ञान के बाद 'अज्ञान'अन्तिम रूप में समाप्त हो जाता है। यही आत्म का मोक्ष है। अतः ज्ञान-योग 'ज्ञान-मार्ग' है, जो 'ज्ञान' को मोक्ष-साधन मानता है, ज्ञान-प्रक्रिया से मोक्ष-प्राप्ति की अनुशंसा करता है।

कर्म-योग : कर्म की मूल विशिष्टताओं को स्पष्ट करते हुए विवेकानन्द कहते हैं, "Karma-Yoga... is a system of ethics and religion intended to attain freedom through unselfishness and by good works. The Karma-Yogi ned not believe in any doctrine whatsoever. He may not ask what his soul is, nor think of any metaphysical speculation. He has got his own special aim of realising selflessnes and he has to work it out himself."

जैसा कि इन विवरणों से स्पष्ट है, विवेकानन्द के अनुसार कर्म-योग नीतिविषयक तथा धर्मशास्त्रीय एक निश्चित व्यवस्था है। इस व्यवस्था में मूलतः दो प्रकार की अनुशंसा है, एक तो कुछ विशेष प्रकार के 'कर्म' की अनुशंसा है, जिन कर्मों को शुभ समझा जाता है, तथा दूसरी अनुशंसा है 'स्वार्थ से ऊपर उठने की'। इस मार्ग की विशेषता यह है कि यह किसी तात्विक सिद्धान्त पर बल नहीं देता, यह 'आत्म क्या है'- जैसे प्रश्नों में, अथवा किसी प्रकार का तात्विक परिकल्पना में उलझने के लिये भी नहीं कहता। बस स्वार्थ से ऊपर उठ कुछ शास्त्र-सम्मत एवं कुछ नैतिक दृष्टि से शुभ कर्मों को करना ही कर्म-मार्ग है। यह 'कर्म' पर बल देता है, इसका अर्थ है कि यह पलायनवादी नहीं है, तथा किसी प्रकार के 'सन्यास' की अनुशंसा नहीं करता। कर्ममार्गी जगत में रहना है, शुभ-अशुभ, दुख-क्लेश के मध्य रहना है, क्योंकि कर्म तो 'जीवन' में ही इस जगत में ही किये जा सकते हैं। तो उसे इनके मध्य रहकर सतत् अपने कर्मों को करते रहना है।

पुनः कहा गया है कि उसे स्वार्थ से ऊपर उठकर कार्य करना है, इसका अर्थ है कि उसके कर्म एक प्रकार से निष्काम ही होंगे। इसे स्पष्ट करते हुए विवेकानन्द कहते हैं कि कर्मों में लिप्तता नहीं होनी चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिये कि अब 'कर्म' ही बन्धन हो जाय, कर्म करने वाले पर लदकर बोझिल हो जाय। विवेकानन्द कहते हैं कि कर्ममार्गी को कर्मों का दास नहीं बनना है, उसे कर्म करना है। उसे कर्मो को संचालित तथा नियंत्रित करना है। वस्तुतः हम कर्मों के दास इसी कारण बन जाते हैं कि हम अपने स्वार्थ-मूलक इच्छाओं की पूर्ति के लिये कर्म करते हैं, हम इच्छाओं के दास बन कर कर्मों के दास बन जाते हैं। इसी कारण कर्ममार्गी के लिये इच्छाओं से ऊपर उठने की अनुशंसा की गयी है। विवेकानन्द गीता में अनुशंसित 'निष्काम कर्म' से बड़े प्रभावित हैं। उसी प्रभाव के अनुरूप वे कहते हैं कि कर्मों की वास्तविक सार्थकता इस बात में है कि हम कर्मों के प्रतिदान के रूप में कुछ पाने की आशा न रखें। कर्मयोगी को सदा 'दाता' के रूप में कर्म करना है, वह अपने कर्मों का स्वतः उन्मुक्त रूप में अन्य के लिये, तथा जगत के लिये दान करता है। यहां विचार यह है कि कर्ममार्गी का कर्म 'स्वार्थ' से संचालित नहीं, वह किसी इच्छित-वस्तु की प्राप्ति के लिये कर्म नहीं करता बल्कि उसके कर्मों की मूल प्रेरणा अन्तिम लक्ष्य-मोक्ष-है, अतः वह सामान्य वस्तुओं के भोग के लिये कर्म नहीं करता यही साधारण कर्म, तथा कर्ममार्गी के कर्म में अन्तर है। इसे स्पष्ट करने के प्रयत्न में विवेकानन्द गौतमबुद्ध के जीवन का उदाहरण लेते हैं, जो निर्वाण-प्राप्ति के बाद भी लम्बी अवधि तक कर्म करते रहे। उनके वे कर्म अपने लिये नहीं थे, फिर भी स्वतः सम्पादित कर्म थे। कर्ममार्गी के लिये कर्म का प्रतिमान कुछ उसी प्रकार का कर्म है। उनके कर्म निष्काम कर्म के आदर्श के अनुरूप है। सब कुछ त्याग कर निकल आने के बाद भी उनका कर्म निष्काम कर्म के आदर्श के अनुरूप हैं। सब कुछ त्याग कर निकल आने के बाद भी उनका बाद का जीवन पलायनवादी नहीं रहा, वे मनुष्य के मध्य ही घूमते रहे, उनके हिता का कर्म करते रहे, तथा प्रतिदानरूप में अपने लिये कुछ पाने का प्रश्न ही वहां नहीं था। यही 'कर्म' का सर्वोच्च आदर्श है। इस आदर्श से विश्व का स्वरूप बदला।

अब एक प्रश्न उठता है : इस प्रकार के कर्म से अमरता की प्राप्ति कैसे होती है? विवेकानन्द इस प्रश्न का उत्तर बडे सरल ढंग से देते हैं। 'अमरता की प्राप्ति' का अर्थ है 'सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाना'। इस बन्धन का मूलाधार मनुष्य की इच्छायें हैं, उसके सांसारिक प्रयोजन हैं, उसके शरीर-रूप स्व की मांगों का पूरा करना है। इसी कारण वह 'स्व' तथा 'शरीर' में सीमित रहता है - और यही बन्धन है। यदि वह सतत् स्वार्थ-रहित कर्म करता रहे, यदि अभ्यास से 'निष्काम' उसका सहज भाव बन जाय, तो इसका अर्थ है कि वह 'स्व' के बन्धन के ऊपर उठ गया है। इसी ऊपर उठने की चरम व्यापकता में उसे सब कुछ के एक रूप होने की अनुभूति होती रहेगी, वह 'स्व' और 'अन्य' के भेद से ऊपर उठ जायगा- और यही तो अमरता की प्राप्ति है।

****

महात्मा गाँधी

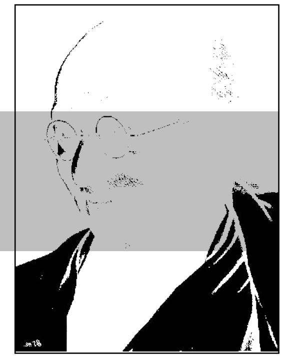

मोहनदास करमचन्द गाँधीका जन्म 2 अक्टूबर, 1869 ई. को काठियाबाड़ (गुजरात) के पोरबन्दर नामक स्थान पर एक धार्मिक परिवार में हुआ था। उनकी माँ साधु प्रवृत्ति की एक धार्मिक महिला थी । उनके पिता करमचन्द पोरबन्दर राज्य के दीवान थे। गाँधीजी की प्रारंभिक शिक्षा राजकोट में हुई। सन् 1888 में कानून की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे इंग्लैण्ड गये। सन् 1891 में भारत लौटने पर उन्होंने वकालत प्रारम्भ कर दी। सन् 1893 में एक गुजराती मुसलमान के मुकदमे की पैरवी करने के लिए दक्षिण अफ्रीका गये। यद्यति वे केवल एक वर्ष के लिये गये थे परन्तु वहाँ वे 20 वर्ष तक रह गये। दक्षिण अफ्रीका में रंगभेदवाद का व्यवहार तथा भारतीयों की दयनीय दशा देखकर उनको तीव्र आघात पहुँचा और यहीं से उनका सार्वजनिक जीवन प्रारम्भ हुआ। उन्होंने सन् 1893-1914 के दौरान दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार के विरूद्ध अपना अहिंसात्मक युद्ध लड़ा और सत्याग्रह का सफल प्रयोग किया।

भारत लौटने पर गाँधी ने राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय भाग लेना प्रारंभ किया। सन् 1917 में उन्होंने बिहार के चम्पारन जिले में अपने सत्याग्रह की नीति का सफल प्रयोग नीत की खेती में कार्यरत् भारतीय कृषकों पर गोरों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों के विरूद्ध किया। सन् 1919 में उन्होंने रॉलेट एक्ट का शान्तिपूर्ण प्रतिरोध किया। सन् 1942 में उन्होंने 'भारत-छोड़ो' आन्दोलन प्रारम्भ किया, जिसके दौरान उन्होंने 'करो या मरो' का नारा लगाया। माउण्टबेटन योजना के तहत भारत के विभाजन के मूलतः वे विरोधी थे, परन्तु भारत की स्वतंत्रता का और कोई उपाय न परिलक्षित होने पर अन्ततः उन्होंने विवशता में इसे स्वीकार कर लिया। 30 जनवरी, 1948 को एक प्रार्थना सभा के दौरान उनकी हत्या कर दी गई।

गाँधीजी की रचनाएँ : गाँधीजी ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन मुख्य रूप से अपनी दो पुस्तकों 'हिन्द-स्वराज', 'मेरी आत्मकथा' तथा 'मेरे सत्य के प्रयोग' में प्राप्त होती है। उनकी अन्य रचनाएँ हैं- 'शान्ति और युद्ध में अहिंसा', 'नैतिक धर्म', 'सत्याग्रह', 'सत्य ही इश्वर है', 'सर्वोदय' आदि। इसके अतिरिक्त गाँधी ने 'यंग इण्डिया', 'हरिजन', 'नवजीवन आदि पत्र-पत्रिकाओं में अनेक लेख लिखे।

गाँधीवाद का अर्थ : ''मैनें किसी नवीन सिद्धान्त का आविष्कार नहीं किया है, मैंने सिर्फ अपनी तरह के शाश्वत सत्यों का अपने दैनिक जीवन और उसकी समस्याओं में प्रयोग किया है। मेरा सम्पूर्ण जीवन दर्शन, यदि आप इसको 'दर्शन' जैसी बड़ी संज्ञा देना चाहें, मेरे वचनों में है। आपको इसे 'गाँधीवाद' नहीं कहना चाहिए, क्योंकि 'वाद' की तरह की कोई चीज यहाँ नहीं है। और इसके लिए व्यापक साहित्य या प्रचार की जरूरत नहीं है।''

संसार के तिमिर का नाश करने के लिये मानव इतिहास में गाँधीजी प्रकाश पुँज की भाँति आये थे। उनका जीवन कथनी का नहीं करनी का था, वे उपदेशक नहीं, सत्यशोधक थे। उनके पास किसी वाद को चलाने की फुर्सत नहीं थी, उनके सिद्धान्तों के नाम पर आज जो कुछ है वह है उनके लेखों और कृतियों में भारतीय जनमानस के परिप्रेक्ष्य में, राजनीतिक-आर्थिक और सामाजिक विचार - जिसे उन्होंने स्वयं के जीवन में व्यावहारिक रूप प्रदान किया। इस प्रकार गाँधीवाद से तात्पर्य है- उनके सिद्धान्तों, मन्तव्यों का संग्रह।

गाँधीजी ने किसी नये विचार को प्रतिपादित नहीं किया। गाँधी जी को अपने निष्कर्षों को स्थापित करने के लिये न तो विशेष प्रकार का प्रशिक्षण ही प्राप्त था और न उन्हें स्वयं ही उसमें कोई रूचि थी। उन्होंने शाश्वत सत्य का पाठ विश्व के महान सन्तों एवं मनीषियों से सीखा था। पारम्परिक शिक्षायें और उपदेशों को ही चयनित कर गाँधी जी ने उसे ठोसता और व्यावहारिकता प्रदान की- नवीन जीवन दृष्टि के साथ। गाँधीजी के विचारों को, शोधों को- दर्शन के मान्य सत्य प्रत्यनों के रूप में उपस्थित कर उसे सशक्त दर्शन के रूप में देखा जा सकता है। किन्तु उस रूप में नहीं - जैसे हॉब्स, लाक, रूसो, काण्ट, हीगल और मार्क्स थे। वास्तव में गाँधीजी विश्व को सत्य एवं अहिसा के आदर्शों पर चलता हुआ देखना चाहते थे -

भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति इस अभिप्राय को प्राप्त करने का एक साधन मात्र थी। 'गाँधीवाद' जैसे शब्द को वे आपत्तिजनक मानते थे; उनका विचार था, ''गाँधीवाद नाम की कोई वस्तु नहीं है और मैं अपने बाद कोई सम्प्रदाय छोड़ना नहीं चाहता। मैं कभी इस बात का दावा नहीं करता कि मैंने नया सिद्धान्त चलाया है। मैंने शाश्वत सत्य को अपने नित्य के जीवन और प्रश्नों से सम्बद्ध करने का प्रयास अपने ढंग से किया है.....आप लोग इसे गाँधीवाद न कहें, इसमें वाद जैसा कुछ भी नहीं है।''

परन्तु दक्षिण अफ्रीका और भारत के जनांदोलनों को गाँधी जी ने एक विशिष्ट पद्धति एवं दृष्टिकोण दिया- जो कि इतिहास में सर्वदा नवीन प्रयोग था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सत्य, अहिंसा और प्रेम के अध्यात्मिक अस्त्र से इतना बड़ा युद्ध कभी नहीं लड़ा गया है। और न जीता गया है। गाँधी जी ने इसका राजनीति के क्षेत्र में विशाल पैमाने पर प्रयोग किया और उन्हें सफलता भी मिली।

नैतिकता : गाँधीजी ने जीवन में नैतिकता को विशेष महत्व दिया है। उनकी मान्यता है कि किसी व्यक्ति का विकास एवं समाज का अस्तित्व एवं प्रगति नैतिकता के आधार पर ही अवलम्बित है। नैतिकता हमारे अन्तर के संघर्षों को बबाकर हमें सत् प्रवृत्तियों की ओर प्रेरित करती है। मानवीय विकास का दीर्घ प्रक्रिया को विकसित करने में नैतिकता का विशेष योगदान है। नैतिक संवित्ति मानव का आन्तरिक पथ-प्रदर्शक है।

प्रत्येक व्यक्ति सद् - असद्, स्वार्थी-निःस्वार्थी प्रवृत्तियाँ प्राकृतिक होती हैं, नैतिकता के बल पर इनका परिष्कार किया जा सकता है। गाँधी जी ने अहिंसा को सबसे बड़ी नैतिकता माना है। उनके अनुसार प्रेम की भावना और सत्य का ज्ञान नैतिकता के मापदण्ड हैं। नैतिकता के परिपालन के लिये उन्होंने ज्ञान-साधना पर अधिक बल दिया है। उन्होंने कहा है कि, 'कोई भी काम जो ऐच्छिक नहीं है, नैतिक नहीं कहा जा सकता। जब तक हम कोई काम यन्त्रवत् करते रहेंगे, उसमें नैतिकता का प्रवेश नहीं होगा। कोई काम तभी नैतिक कहा जा सकता है जब तक उसे सोच-समझकर कर्तव्य भावना से करते हैं। जो काम भय या बल प्रयोग के कारण होता है, वह कदापि नैतिक नहीं कहा जा सकता।

गाँधीजी ने सभी स्वार्थपूर्ण इच्छाओं को अनैतिक कहा है। अतः आत्म विश्लेषण पर उन्होंने विशेष बल दिया है। उन्होंने कहा था, 'हमें अपने बारे में उस तरह से भी देखना और सोचना चाहिए जैसा दूसरे लोग हमारे विषय में सोचते हैं। अतः सुस्पष्ट है कि सफल नैतिक जीवन के लिए ज्ञान आवश्यक है। गाँधी जी ने आत्म स्वातन्त्र्य पर बल दिया है, किन्तु यह भी स्वीकार किया है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी सीमा होती है क्योंकि प्रकृति के नियमों के कारण हमारी सीमाएँ हमें बाँधती हैं। मनुष्य की दुर्बलता और निरीहता का मुख्य कारण उसकी अहं बुद्धि और अंहकार है। अतः व्यक्ति में आत्मबल आवश्यक है, और वही व्यक्ति नैतिक हो सकता है जिसमें आत्माभिमान या आत्मबल हो।

श्री प्रभु के चरणों में आत्म समर्पण कर निमित्त मात्र बनकर स्वकर्तव्य का अनुपालन व्यक्ति की नैतिकता को उच्चस्तरीय स्वरूप प्रदान करता है। गाँधी जी गीता के 'निमित्त मात्रंभव सव्यसाचिन् ' से प्रभावित थे। उनका आदर्श वाक्य था - 'भगवान की इच्छा के अनुसार निमित्त मात्र बनकर कर्तव्य पालन करना चाहिए।'

नैतिकता के लिए नम्रता और शान्ति आवश्यक है। गाँधी जी ने कहा थाः 'सेवामय जीवन नम्रता से भरा होता है। सच्ची नम्रता सचमुच लोक संग्रह की भावना से किया गया पूर्णरूपेण दृढ़ एवं निरन्तर कर्मयोग है। ईश्वर अविराम कर्मरत है। इसलिए यदि हम उनकी भक्ति करना सोचते हैं या फिर उन्हीं में तदाकार हो जाना चाहते हैं तो हमें निरन्तर कर्म की साधना करनी होगी। यह कठोर साधना हमारे लिए सच्चा विश्राम होगा। यही अविराम कर्मयोग हमारी अवर्णनीय शान्ति की कुन्जी होगी।

नैतिकता के कतिपय सूत्र

(क) साधन एवं साध्य - विलियम जेम्स ने लिखा है कि 'हमारी अच्छी आदतें हमारे जीवन की सबसे बड़ी पूँजी है। अशुद्ध साधनों से कभी हमें जो शानदार सफलता मिल जाती है वह वास्तव में सच्ची सफलता नहीं है। यदि मनुष्य की आत्मा ही दब गई तो फिर उसकी समस्त सफलताएँ बेकार है।

स्पष्ट है कि, जैसा बोयेंगे, वैसा काटेंगे- यही साधन एवं साध्य का पारस्परिक सम्बन्ध है। साधन बीजस्वरूप होता है और साध्य पुष्पित, पल्लवित होने वाला वृक्ष। हमारा कर्मवाद भी यह कहता है कि जैसा हम कर्म करेंगे, उस प्रकार के फल के अधिकारी होंगे। गाँधी जी ने कहा था कि, 'लोग भले ही कहें कि साधन तो आखिर साधन ही है, लेकिन में यहीं कहूँगा

कि साधन ही सब कुछ है। साधन और साध्य के बीच वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। 'गाँधी जी ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए भी इसी सिद्धान्त को अपनाया।

(ख) अधिकार एवं कर्तव्य - गाँधी जी ने कर्तव्य एवं अधिकार को एक दूसरे का पूरक मानते हुए कहा कि बिना अपने कर्तव्य का पालन किये नैतिक रूप से समाज या राज्य से हम किसी भी अधिकार की अपनेक्षा नहीं रख सकते हैं। हमारे कर्तव्य पालन में हमारा अधिकार सुरक्षित है और बिना कर्तव्य के अधिकारों के पीछे भागना मृग-मरीचिका है।

(ग) सर्वोदय - गाँधीजी का विचार था, 'सेवा का आदर्श ऊँचा से ऊँचा होना चाहिए। हम दुर्बल प्राणी हैं। थोड़े से छिद्र मिलने पर ही हम स्वभावतः स्वार्थ और आलस्य आदि में फँस जाते हैं।' गाँधी जी ने सर्वोदय के सिद्धान्त पर विशेष रूप से बल इसलिए दिया था कि जनतांत्रिक प्रशासन में, बहुमत के द्वारा अल्प मत की उपेक्षा न हो सके। सर्वोदय के आदर्श के पीछे उनकी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना रही।

सर्वोदय के अन्तर्गत जिस आदर्श समाज की गाँधी जी ने परिकल्पना की है, वह समाज नैतिक, आध्यात्मिक एवं आर्थिक पुनरूत्थान पर आधारित होगा। सर्वोदय समाज का मार्गदर्शन आध्यात्मिकता एवं धर्म के द्वारा होगा और नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का ही वर्चस्व रहेगा। इस आदर्श समाज में व्यक्ति, व्यक्ति के भीतर जाति, धर्म या आर्थिक आधार पर कोई विभेद नहीं होगा। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने गाँधी जी को 'सर्वोदय का दूत' कहा है। परन्तु सर्वोदय समाजवाद या साम्यवाद से भिन्न है। इसमें किसी भी प्रकार के बल प्रयोग का निषेध है। गाँधी जी के अनुसार सर्वोदय का लक्ष्य व्यक्ति, समाज एवं राज्य तीनों में सामंजस्य स्थापित करना है। गाँधी जी के शब्दों में, ''मैं यह विश्वास नहीं कर सकता हूँ कि एक व्यक्ति सुख-सुविधा प्राप्त कर ले तथा उसके आस-पास के व्यक्ति परेशान रहें, मैं व्यक्ति तथा अन्य जीवधारियों की अनिवार्य एकता में विश्वास रखता हूँ। अतः मैं यह विश्वास रखता हूँ कि यदि एक व्यक्ति कोई लाभ प्राप्त करता है तो उसके साथ ही साथ सम्पूर्ण विश्व लाभान्वित होता है, एवं यदि किसी व्यक्ति का एक सीमा तक पतन होता है तो सम्पूर्ण विश्व का भी उस सीमा तक पतन होता है।''

(घ) आत्म शुद्धि - गाँधी जी ने व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक जीवन में इस सूत्र का पूर्ण रूप से प्रयोग किया। 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' में उनका विश्वास नहीं था। गाँधी जी आत्म शुद्धि पर जोर देते थे। उनका मंतव्य था कि जब तक व्यक्ति स्वयं ईमानदारी से अपने दोषों को दूर नहीं करता है तब तक उसे उपदेश देने का कोई हक नहीं है। इस प्रकार कहा जाता है कि नैतिक जीवन के लिये गाँधी जी ने सतत् सावधानी और निरन्तर पुरुषार्थ को आवश्यक माना।

गाँधी जी की कार्य पद्धति

सत्याग्रह : 'सत्याग्रह' संस्कृत के दो शब्द 'सत्य' और 'आग्रह' के योग से बना है। सत्याग्रह से तात्पर्यित है - किसी भी त्याग के मूल्य पर सत्य और न्याय को आरूढ़ रहने की शक्ति और संकल्प का बोध। गाँधी जी ने 'अहिंसक प्रतिकार' की जगह 'सत्याग्रह' शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने अहिंसा के सिद्धान्त को मूर्त रूप देने के लिए राजनीतिक क्षेत्र में सत्याग्रह कार्य-पद्धति का प्रयोग किया। स्मरणीय है कि जिस समय गांधी जी दक्षिण अफ्रीका में वहाँ बसे भारतीयों के तीव्र रोष एवं असन्तोष का नेतृत्व कर रहे थे, उस समय उन्होंने अन्याय का अहिंसात्मक प्रतिरोध करने के लिए 'निष्क्रिय प्रतिरोध' किया था। बाद में गाँधी ने इसे 'सत्याग्रह' शब्द में परिवर्तित कर दिया।

''इंडियन ओपीनियम में गाँधी ने लिखा था कि सत्याग्रह से लड़ने वालों के मार्ग को बाहरी कारणों से बिलकुल अड़चन नहीं आ सकती। उनके लिये तो केवल उनकी अपनी कमजोरी ही बाधक होती है। दूसरी ओर साधारण लड़ाई में जो पक्ष हारता है उसके सभी लोग मारे हुए माने जाते हैं। और वे हारते भी हैं। सत्याग्रह में एक की जीत से दूसरे की हार नहीं होती।'' सत्याग्रह का संचालन आत्मिक शुक्त के आधार पर किया जाता है । गाँधीजी के अनुसार यह आत्मबल का शरीरबल या पशु बल के साथ संघर्ष है जिसमें, पशु बल पर आत्मबल की विजय सुनिश्चित है, ब्रिटिश साम्राज्य से गाँधी जी ने अपने इसी अस्त्र पर लोहा लिया था। सत्याग्रही को आग्रह मुक्त होकर अपनी न्यायपूर्ण माँगों के विषय में संकल्पबद्ध होना चाहिए। सत्याग्रह का उद्देश्य सत्य और प्रेम के द्वारा अन्यायी के हृदय का संस्पर्शकर-स्वयं उसके ही अन्याय के विरोध में खड़ा करना है। अतः मनसा, वाचा और कर्मणा हिंसा की भावना का परित्याग आवश्यक है। सत्याग्रही हिंसा पर उतारू अन्यायी से डरता नहीं है। सत्याग्रही सत्यनिष्ठ होता है और किसी भी क्षण बलिदान करने के लिए तत्पर होता है।

सत्याग्रही के लिए आचरण पद्धति या नियम

(क) ब्रह्मचर्य- सामान्यतः ब्रह्मचर्य से इन्द्रिय निग्रह अर्थ लगाया जाता है। गाँधीजी इन्द्रिय संयम पर जोर देते थे। 'हरिजन' 13 जून, 1936 के अंक में उन्होंने कहा था- ''ब्रह्मचर्य के मूल अर्थ में सब याद रखें। ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म की-सत्य की साधना में चर्चा, अर्थात् सत् सम्बन्धी आचार। अतः सभी इन्द्रियों पर संयम रखना आवश्यक है। ''गाँधी का कहना था कि ब्रह्मचर्य से तात्पर्य यह नहीं है कि विवाह ही न किया जाय, अपितु ब्रह्मचर्य नियन्त्रित काम वासना है। उनके अनुसार प्रत्येक सत्याग्रही को अपनी शारीरिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति में वृद्धि करने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

(ख) आश्रम - सत्याग्रही के लिए निडर होना आवश्यक है। गाँधी जी ने स्पष्ट कहा है, ''कायर व्यक्ति कभी नैतिकता का पालन नहीं कर सकता। सदाचार और सद्गुण-ग्रहण के लिए भी अभय आवश्यक है। इसके बिना भला सत्य का अन्वेषण और प्रेम की साधना कैसे हो सकेगी।'' 26 नवम्बर, 1940 को उन्होंने अपनी डायरी में लिखा, 'अभय के माने हैं, सभी प्रकार के भय-मौत का भय, धन - दौलत लुट जाने का भय, अप्रतिष्ठा का भय, अपमान का भय, शस्त्रप्रहार का भय आदि - से मुक्ति।

(ग) प्रार्थना एवं उपवास - गाँधी जी के अनुसार सत्याग्रही के लिए प्रार्थना और उपवास आवश्यक है। सत्याग्रही जीवन धारण करने के लिए भोजन कराता है।

(घ) अस्तेय - गाँधी जी का विचार था कि, ''अनावश्यक रूप से कोई वस्तु लेना या रखना भी चोरी है, इसलिए अनावश्यक कोई भी वस्तु नहीं रखनी चाहिए। सत्याग्रही को भौतिक प्रलोभनों से मुक्त होना चाहिए।

(ङ) अपरिग्रह - अपरिग्रह अस्तेय के समीप है। गाँधी जी के अनुसार व्यावहारिक जीवन में इसका अर्थ केवल इतना ही है कि हम अनावश्यक वस्तु का परिग्रह न करें। 25 नवम्बर, 1944 को उन्होंने अपनी डायरी में लिखा, ''इस व्रत का आदर्श दैनिक उपयोग की वस्तुओं का अनुचित संग्रह रोकना भी है। आज की जो जरूरत है, बह उतना ही संग्रह करना चाहिए।''

गाँधी जी ने अपने जीवन में तो उसे उतारा ही, अपने समय में राष्ट्रीय आंदोलनों एवं सामाजिक कार्यों में कार्यकर्ताओं के सामने भी यह व्रत रखा। उन्होंने सत्याग्रहियों को बताया कि, ''परिग्रह वस्तुतः भविष्य की दृष्टि से किया जाता है। परमात्मा परिग्रह नहीं करता। वह अपनी आवश्यक वस्तु रोज-ब-रोज पैदा करता है। इसलिये यदि हमें उन पर दृढ़ विश्वास हो तो हमें भी समझना चाहिए कि वह हमें आवश्यक चीजें रोज-ब-रोज देता है और देता रहेगा।''

(च) सत्याग्रही को भौतिक परिश्रम के आधार पर जीवित रहना चाहिए।

(छ) उसे अपनी अतिरिक्त सम्पत्ति को, समाज के ट्रस्टी के रूप में धारण करना चाहिए।

(ज) सत्याग्रही को स्वदेशी के सिद्धान्त का पालन करना चाहिए।

(झ) सत्याग्रही का जीवन मानवता पर आधारित होना चाहिए। उसका प्रत्येक उत्साह मानव-मात्र की सेवा के लिये तत्तपर होना चाहिए।

(ञ) सत्याग्रही को धर्म निरपेक्षता का भाव रखना चाहिये और किसी धर्म को हीन नहीं समझना चाहिये।

सत्याग्रह के स्वरूप

गाँधी जी ने भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में सत्याग्रह के तीन रूपों का प्रयोग कियाः

1. असहयोग आन्दोलन (Non-Co-Operation)
2. सविनय अवज्ञा (Civil Disobedience)
3. व्यक्तिगत सत्याग्रह (Individual Satyagrah)

असहयोग आन्दोलन : गाँधीजी द्वारा 1920-21 में असहयोग आन्दोलन चलाया गया। गाँधी जी ने इस आन्दोलन के द्वारा इस बात पर बल दिया था कि ब्रिटिश सरकार की पराधीनता से मुक्त होने का एक मात्र उपाय है - भारतीयों द्वारा ब्रिटिश सरकार से सब प्रकार का असहयोग करना।

सविनय अवज्ञा : कोई भी कानून यदि जनहित की अवहेलना करता है, तो ऐसे समय में सविनय अवज्ञा नागरिकों के द्वारा प्रयुक्त किया जाने वाला वैद्य अस्त्र है। 1930-31 में गाँधी जी ने इस आन्दोलन को किया था उन्होंने ब्रिटिश सरकार द्वारा नमक पर लगाये गये कर को अन्यायपूर्ण बताते हुए, डाण्डी नामक स्थान पर नमक कानून तोड़ा।

व्यक्तिगत सत्याग्रह : 1940-41 में अंग्रेजों में भारत को द्वितीय विश्व युद्ध में घसीटना चाहा, ब्रिटिश सरकार के विरोध में महात्मा गाँधी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया।

सत्याग्रह के साधन

(क) असहयोग - असहयोग के द्वारा किसी देश की शासन सत्ता को झुकाया जा सकता है। गाँधी जी का कहना था कि, ''बुराई से असहयोग करना, भलाई से सहयोग के बराबर है।''

(ख) सविनय अवज्ञा - जन विरोधी कानून की जनता द्वारा अवहेलना करने से सरकार की अन्यायपूर्ण पद्धति प्रभावित होती है।

(ग) उपवास - सरकार से अपनी बात मनवाने के लिये सत्याग्रहियों के लिये उपवास एक ढाल स्वरूप है। उपरास के दो लाभ गाँधी जी ने बतायें है, प्रथम तो, आत्म शुद्धि, द्वितीय असत्य के विरूद्ध प्रतिकार।

(घ) हिजरत या देश त्याग- गाँधी जी का विचार था कि जब शासक का अत्याचार बढ़ जाये तो विरोध स्वरूप वहाँ की जनता को दूसरे स्थान पर चला जाना चाहिए।

(ङ) धरना - किसी अन्याय का प्रतिकार करने के लिये इस साधन का प्रयोग होता है । इसमें सारे व्यापार और कारोबार ठप्प कर दिये जाते हैं और जनता का ध्यान अन्याय की ओर आकृष्ट किया जाता है।

(च) हड़ताल- इस साधन के द्वारा सारे व्यापारिक क्रिया-कलाप को रोक कर जनता का ध्यान अन्याय की ओर आकृष्ट किया जाता है। किन्तु गाँधी जी हडताल का प्रयोग विशुद्ध अहिंसक चाहते थे।

(छ) सामाजिक बहिष्कार- गाँधीजी ने इस साधन का प्रयोग अहिंसक रूप में किये जाने पर बल दिया। इसका प्रयोग सीमित मात्रा में किया जाता है।

सत्याग्रह एवं निष्क्रिय प्रतिरोध में अन्तर

निष्क्रिय प्रतिरोध में रचनात्मक प्रवृत्ति का अभाव होता है, जबकि सत्याग्रह में सेवा की भावना होती है। सत्याग्रह निष्क्रिय प्रतिरोध नहीं है। सत्याग्रह में बुराई के प्रति सक्रिय प्रतिरोध अन्तर्गस्त होता है। निष्क्रिय प्रतिरोध में शत्रु को परेशान करने कीभावना पर बल दिया जाता है, किन्तु सत्याग्रह में किसी व्यक्ति का हृदय परिवर्तन करना होता है।

मूल्यांकन : सत्याग्रह के लिये नैतिक तैयारी की आवश्यकता होती है। राजनीतिक क्षेत्र में सत्याग्रह गाँधी जी की सबसे महत्वपूर्ण देन है। गाँधीजी का कहना था कि ''चूंकि सत्याग्रह सीधी कार्यवाही की सबसे प्रभावशाली पद्धति है, इसलिये सत्याग्रही सत्याग्रह आरम्भ करने के पूर्व सभी अन्य उपायों को आजमा लेता है। '' 15 अप्रैल, 1939 के 'हरिजन' अंक में गाँधी जी ने लिखा है कि, ''सत्याग्रही न तो अन्यायी को नीचा दिखाना चाहता है और न डराना ही चाहता है। उसका तो उद्देश्य ही है कि प्रेम से समझा-बुझाकर उनसे मस्तिष्क एवं हृदय को आश्वस्त कर उसका हृदय परिवर्तन किया जाए।

वैसे गाँधी जी के सत्याग्रह सिद्धान्त की अनेक अलोचकों ने आलोचना भी की है। उनके अनुसार सत्याग्रह का प्रयोग अहिंसा की धारणा के प्रतिकूल है और सत्याग्रह का प्रयोग सभी परिस्थितियों में सम्भव नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तो यह बे-असर है, किन्तु मेरी दृष्टि से आलोचनायें अर्थहीन हैं। गाँधी जी ने स्वयं-स्फूर्त ''आत्म त्याग'' के द्वारा जनता का हृदय जीत लिाय। भारत में अंग्रेजी राज्य को दूर करने राष्ट्रव्यापी संघर्ष में उन्होंने सत्याग्रह के अस्त्र से अंग्रेजों को लोहा मनवा दिया।

गाँधीवादी राजनीतिक विचार : आदर्श राज्य की अवधारणा

''स्वराज्य हमारी अपनी अंदरूनी ताकत और कठिन संघर्षों से सामना करने की हमारी क्षमता पर निर्भर करता है। जिस स्वराज्य की प्राप्ति एवं संरक्षण के लिये हम निरंतर बलिदान करने को उद्यत नहीं रहेंगे, वह स्वराज्य भी बेकार है।

मार्क्सवादियों एवं अराजकतावादियों की भाँति गाँधी जी भी राज्यविहीन समाज की परिकल्पना करते थे। दार्शनिक

आधार पर राज्य का विरोध करते हुए उन्होंने कहा है, राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास का मार्ग प्रशस्त नहीं करता है। राज्य अनैतिक है वह इसलिये कि हमें भय एवं कानून से, हमारी इच्छाओं को नियंत्रित करता है।

गाँधी जी ने राज्य का विरोध इसलिये भी किया है कि राज्य शक्ति पर आधारित होता है। गाँधी जी का विचार था, मैं राज्य की सत्ता में वृद्धि को बहुत ही भय की दृष्टि से देखता हूँ, क्योंकि जाहिर तौर से तो वह शोषण को कम से कम करके लाभ पहुँचाती है, परन्तु मनुष्यों के उस व्यक्तित्व को नष्ट करके वह मानव जाति को अधिकतम हानि पहुँचाती है जो सब प्रकार की उन्नति की जड़ है।''

इस प्रकार हम देखते हैं कि गाँधी जी की राज्य सम्बन्धी अवधारणा अराजकतावादी दार्शनिक क्रोपाटकिन और विशेषतः टालस्टाय के विचारों से प्रभावित है। गाँधी जी का विचार था ''राज्य केन्द्रीय और संगठित रूप में हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति एक सचेतन आत्मावान प्राणी है किन्तु राज्य एक ऐसा आत्महीन यंत्र है जिसे हिंसा से पृथक नहीं किया जा सकता क्योंकि इसकी उत्पत्ति हिंसा से हुई।'' किन्तु गाँधी जी राज्य को पूर्णतः समाप्त करने के पक्षधर नहीं थे। उनके अनुसार राज्य की राजनैतिक शक्ति नागरिकों को उनकी दशा में सुधार करने के लिये सक्षम बनाने का एक साधन होना चाहिए। उनके अनुसार सर्वोत्तम शासन वह है जो कम से कम शासन करे। इस प्रकार गाँधी जी का दृष्टिकोण सिद्धान्ततः अराजकतावादी और व्यवहारतः व्यक्तिवादी है। गांधी जी सत्ता के विकेन्द्रकरण के पक्ष में थे। राजसत्ता की बुराइयों को दूर करने के लिए गाँधी जी का सुझाव था कि राज्य का कार्य क्षेत्र न्यूनतम होना चाहिए। उनका विचार था कि राज्य को हमेशा जनता के सेवक की भाँति व्यवहार करना चाहिए, स्वामी की तरह नहीं।

आदर्श राज्य व्यवस्था के सन्दर्भ में कोई विस्तार से उन्होंने चर्चा नहीं की है। सचमुच वे तो इसमें विश्वास करते थे कि यदि साधन सुन्दर होगा, तो साध्य भी सुन्दर होगा।

गाँधी जी अपने आदर्श राज्य की परिकल्पना राम-राज्य के रूप में किये हैं, उनके आदर्श राज्य की तीन बातें थीं-

1. जिसमें जनता का सर्वांगीण विकास हो, जैसे रामराज्य।
2. जहाँ शासन अहिंसा और प्रेम पर चलता हो, जैसे अशोक का राज्य।
3. जहाँ एक वर्ग दूसरे वर्ग का शोषण नहीं करता हो।

गाँधीं जी स्वराज्य चाहते थे। गाँधी जी यह नहीं चाहते थे कि जनता निष्क्रिय होकर भेड की भाँति राज्य के निर्देशों का केवल अनुगमन करती रहे, अपितु वह अपनी प्रकृति एवं प्रतिभा के अनुरूप अपने भाग्य के निर्धारण में सक्रिय सचेष्ट रहें।

गाँधी जी बहुमत की सम्भावित निरंकुशता के प्रति जागरूक थे। 'यंग इंण्डिया' में उन्होंने लिखा, - बहुमत का सामान्यतः संकीर्ण अर्थ किया जाता है कि हमेशा और हर छोटे-बड़े मामलों में अल्पमत को बहुमत के आगे झुक जाना चाहिए, किन्तु उचित-अनुचित को ध्यान में बिना रखे बहुसंख्यक के आगे हमेशा घुटने टेक देना वस्तुतः दासता का परिचायक है। हमें आवश्यकता इस बात की है कि हमारा शासन अल्पसंख्यों को दबाकर नहीं, बल्कि उन्हें समझा-बुझाकर अपने साथ ले चलने में समर्थ हो।'' गाँधी जी भली-भाँति जानते थे कि 'प्रतिनिधि सत्तात्मक सरकारों के विशाल न्याय जंगल में अल्पमत आदि की अपेक्षा सम्भव है। इसलिए वे ग्राम समाज और संगठनों की बात किया करते थे।

ग्राम्य गणतन्त्र : गाँधी जी का विचार था, ''गाँव का शासन प्रतिवर्ष गाँव के सभी वयस्क स्त्री-पुरुषों की राय से जुने गये पाँच पंचों की राय से होगा। गाँव की यही पंचायत गाँव के लिये एक साथ न्यायपालिका, कार्यपालिका एवं संसद का कार्य करेगी।' ग्रामीण प्रजातन्त्र में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के आधार पर आदर्श प्रजातन्त्र की स्थापना की सम्भावना गाँधी जी को थी। गाँधी जी का विचार था कि इस प्रकार गाँव का शासन होने से कोई गाँव सम्पत्ति का अनावश्यक संग्रह भी नहीं करेगा और न किसी दूसरे को लाभ और लोभ की दृष्टि से देखेगा। फलतः सभी ग्रामवासी अधिक खुशहाल रहेंगे।

इस प्रकार राजनीतिक ढाँचे की मुख्य इकाई ग्राम होंगे। इन गाँवों की प्रभुसत्ता पंचायत में निहित होगी। ग्राम गणराज्य में अर्थव्यवस्था स्वदेशी पर आधारित होगी। सहकारिता का विकास होगा।

सच्चा प्रजातन्त्र : गाँधी जी प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्तत्र का समर्थन करते थे। गाँधी जी का कहना था, ''प्रजातन्त्र हिंसा के आधार पर टिक नहीं सकता। इसलिए इस पर किसी प्रकार का बाहरी दबाव हरगिज नहीं हो। यह तो स्वयं स्फूर्त होना चाहिए।'' प्रजातन्त्र जनता के विविध वर्गों को सम्पूर्ण भौतिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक सुख प्रदान करने वाला है। गांधी जी का यह भी विचार था कि समस्त समष्टि के कल्याणार्थ-व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं सामाजिक प्रतिबन्धों में

समंजस्य होना चाहिए।

व्यक्ति एवं राज्य : गाँधी जी के शब्दों में, ''व्यक्ति ही सर्वोपरि है। मैं तो राज्य शक्ति की वृद्धि के प्रत्येक चरण को भयावह मानता हूँ। ऊपर से तो इसमें हमें दिखता है कि राज्य हमारे शोषण का अन्त कर रहा है, किन्तु इसमें व्यक्ति का ही विनाश हो जाता है। इसे मैं मानवता की सबसे बड़ी क्षति मानता हूँ। गाँधी जी का विचार था कि राज्य पर पूर्णरूपेण आश्रिता स्वेच्छाचारिता और तानाशाही को जन्म देती है। प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक है, उसके व्यवहार से उसके पड़ोसियों को बाधा नहीं पहुँचनी चाहिए। गाँधी जी की मान्यता थी कि व्यक्ति अधिकारों एवं मूल्यों का केन्द्र है। राज्य सरकारों का अस्तित्व व्यक्ति पर ही निर्भर है। अतः राज्य का उद्देश्य कानून लागू करना, शोषण समाप्त करना, सुरक्षा,शान्ति एवं प्रगति का मार्ग प्रशस्त करना है। गाँधी जी ने कहा था कि यदि सरकार, स्वेच्छाचारी एवं अन्यायी लगे तो जनता का पवित्र कर्तव्य है कि वह राज्य का विरोध करे।

राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता : ''पूर्ण स्वराज्य की मेरी कल्पना का अर्थ यह नहीं है कि हमारा देश सबसे अलग रहकर स्वतन्त्रता का उपभोग करे, बल्कि विश्व के राष्ट्रमण्डल में उनका एक दूसरे से स्वस्थ एवं सम्मानपूर्ण सहयोग रहे। हमारी स्वतंत्रता किसी दूसरे राष्ट्र के लिये कोई खतरा नहीं बनेगी, जिस प्रकार हम अपना शोषण नहीं होंने देंगे, ठीक उसी प्रकार हम किसी दूसरे का शोषण भी नहीं करेंगे। अतः हम अपने स्वराज्य के द्वारा सम्पूर्ण विश्व की सेवा करेंगे। निर्विवाद रूप से गाँधी जी को राष्ट्रवादी कहा जा सकता है। राष्ट्रवाद तो उनकी जीवन-पद्धति का एक अंग था। किन्तु उनका राष्ट्रवाद संकीर्ण नहीं, अपितु व्यापक था और सही मायने में तो वे मानवतावादी थे। उनका विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने देश के प्रति कुछ कर्तव्य होता है और उसे पूरा किया जाना चाहिये।

गाँधी जी राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रवाद की बाधा नहीं मानते थे, वरन् उस ओर जाने वाला एक कदम मानते थे।गाँधी जी के ही शब्दों में, ''हमें अपनी सेवाओं के क्षेत्र को, अपने आस-पास के व्यक्तियों से राज्य की सेवाओं से बाहर तक विस्तृत करने के लिए, किसी भी प्रकार कीसीमा आरोपित नहीं की जा सकती है, क्योंकि ईश्वर ने किसी भी राज्य की सीमा का निर्माण नहीं किया है। यदि में अपने देश के लिए स्वतंत्रता चाहता हूँ तो मैं ऐसी स्वतन्त्रता के लिए पात्र नहीं हूँगा यदि मैं प्रत्येक अन्य जाति के समान अधिकारो तथा स्वतन्त्रता का समर्थन नहीं करता हूँ।''

गाँधी जी सम्पूर्ण विश्व में एकता लाना चाहते थे। वे शांति के पुजारी एवं मानववाद के मसीहा थे। उन्होंने कभी भी पाशविक शक्तियों का समर्थन नहीं किया। वे चाहते थे कि अहिंसा का विस्तार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हो, उनकी राष्ट्रीयता भी सदैव अन्तर्राष्ट्रीयतोन्मुख रही। उनका तादात्म्य सम्पूर्ण विश्व के साथ था। उन्हीं के शब्दों में- ''मैं भारत को स्वतंत्र एवं शक्तिशाली इसलिये देखना चाहता हूँ कि यह विश्व कल्याण के लिए निःस्वार्थ त्याग करने को उद्यत रहे। जिस प्रकार स्वतन्त्र व्यक्ति परिवार के हित के लिए, अपने व्यक्तिगत हित का बलिदान करता है, उसी प्रकार परिवार जनपद के लिए, जनपद सम्पूर्ण जिले के लिये, जिला सम्पूर्ण प्रांत के लिये, प्रान्त सम्पूर्ण देश के लिये और देश सम्पूर्ण विश्व के लिये अपना बलिदान करे।''

गाँधी जी ने राष्ट्रीयता के सम्बन्ध को अन्तर्राष्ट्रीयता से जोडा और कहा कि राष्ट्रवादी हुए बिना कोई अन्तर्राष्ट्रीयवादी नहीं हो सकता है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि - ''राष्ट्रवाद बुरी वस्तु नहीं है। बुरी वस्तु है मन की संकीर्णता, स्वार्थ और बहिष्कार की वृत्ति जो आधुनिक राष्ट्रों का अभिशाप है। आज प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे को नुकसान पहुँचाकर लाभ उठाना चाहता है और दूसरे का नाश करके ऊपर उठना चाहता है।''

गाँधी जी के आर्थिक विचार : गाँधी जी के आर्थिक विचारों पर टालस्टाय, थोरो, रस्किन, कारपेन्टर आदि पाश्चात्य विद्वानों के समाज चिन्तन का प्रभाव सुपरिचित है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि उनकी विचारधारा भारतीय नीति शास्त्र से अलग-थलग है। वास्तव में गाँधी जी का आर्थिक-दर्शन भौतिकवादी कम, मानवीय मूल्यों पर आधारित अधिक है।

गाँधी जी ऐसी अर्थव्यवस्था के समर्थक थे जो प्रतियोगिता पर आधारित न हो। वे ऐसी अर्थव्यवस्था के पक्षधर थे जिसमें समाज के नैतिक मूल्यों का सम्मान हो। उन्होंने सत्य का समान वितरण, ट्रस्टीशिप, स्वदेशी, स्वराज एवं सर्वोदय पर बल दिया। वे चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति शुभ करे। वे श्रम-विभाजन के महत्व को समझते थे, किन्तु फिर भी समवेतन पर उनका विशेष आग्रह था। उनके विचार से, ''एक वकील, एक डाक्टर या शिक्षक की आमदनी एक भंगी से अधिक नहीं होनी चाहिए। सभी समाज में श्रम की प्रतिष्ठा कायम होगी। इसके अलावा सुख और शान्ति का दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त : गाँधी जी आर्थिक विषमता को दूर करना चाहते थे। किन्तु साम्यवादियों की भाँति पूँजीपतियों

से उसकी सम्पत्ति छीन लेने के वे पक्षधर नहीं थे। वे पूँजीपति वर्ग को पूर्णतया नष्ट कर देने के समर्थक नहीं थे। गाँधी जी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त किसी भी धनी व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक जमीन एवं सम्पत्ति का संरक्षक मात्र बताता है। उनका यह विचार अपरिग्रह के आधार पर अवलम्बित है। गाँधी जी का विचार था कि मालिकों के पास जो सम्पत्ति है, उसका उन्हें संरक्षक (ट्रस्टी) मानना चाहिये और इस सम्पत्ति का विनियोग जन-कल्याण के लिये होना चाहिए।

ट्रस्टीशिप सिद्धान्तों के द्वारा गाँधी जी ने आर्थिक असमानता को दूर करने की बात की। उनकी यह मान्यता थी कि समाज में विषमता का तब तक उन्मूलन सम्भव नहीं है जब तक समाज का प्रत्येक अंग चाहे वह धनी हो या गरीब, अपने कर्तव्य और अपने दोषों के प्रति नैतिक रूप से सचेत और जाग्रत न हो जाए।

गाँधी जी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त के अनुसार सभी लोगों को स्वेच्छ या समझना चाहिये कि उनके पास जो धन है, वह समाज की धरोहर है। गाँधीजी ने लिका है कि ''मैं यह समझता हूँ कि गीता अपरिग्रह का संदेश देती है। अपरिग्रह का तात्पर्य है कि वे व्यक्ति जो पापों से मुक्ति चाहते हैं, को चाहिये कि ट्रस्टी के रूप में कार्य करें। गीता में केवल उतना ही संग्रह करने पर जोर दिया गया है जितना कि किसी व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति के लिये आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति आवश्यकता से अधिक संचय करता है तो वह चोर है एवं उसे दण्डित किया जाना चाहिये।''

गाँधी जी का कहना था कि, 'ट्रस्टी का जनता के अतिरिक्त अन्य कोई भी उत्तराधिकारी नहीं होगा।'' गाँधी जी ने अपनी ट्रस्टी सम्बन्धी अवधारणा स्नेल की पुस्तक 'Principles of Equality' और 'गीता' से लिया था। 'यंग इण्डिया', 26 मार्च, 1931 में गाँधी जी ने लिखा कि 'मजदूर और पूँजीपति मेल से, एक परिवार के रूप में साथ-साथ कार्य कर सकते हैं, प्रत्येक पारस्परिक भलाई एवं विकास के लिये कार्य करते हुए गाँधी जी, इस प्रकार चाहते थे कि पूँजीपति स्वयं को ट्रस्टी मानें, उनका जिसके परिश्रम पर अपनी पूँजी का विस्तार वे करते हैं। ट्रस्टीशिप का यह उद्देश्य पूँजीवाद को समाप्त करेगा न कि पूँजीपतियों को। गाँधी जी को मान्यता थी कि यदि अमीर लोग एक बार भी इस सिद्धान्त को स्वीकार कर ले तो आर्थिक असुरक्षा का संकट टल जाए। वे सम्पत्ति का न्यायोचित वितरण करना चाहते थे। उन्होंने अपने जीवन काल में, पूँजीपतियों को राजी करने की कोशिश की कि वे ट्रस्टी बन जायें किन्तु आचार्य कृपलानी के शब्दों में,

'अन्तिम दिनों में, गाँधी जी का मोह भंग हुआ और उन्होंने कहा कि उनके पूँजीपति मित्र कभी भी लोगों के ट्रस्टी नहीं बन सके। पूँजीपति उनके पास अधिकांशतः अपने स्वार्थों के लिये आये- किन्तु गाँधी जी, एक भी पूँजीपति के हृदय को मोड़ न सके। वे वही रहे जो वे थे।

विकेन्द्रीकरण : गाँधी जी विकेन्द्रीकरण के पक्ष में थे - राजनैतिक एवं आर्थिक दोनो ही प्रकार के विकेन्द्रीकरण। वे जीवन भर यही सोचते रहे कि मुख्य रूप से कृषि एवं कुटीर उद्योगों के आधार पर कैसे स्वावलम्बी बना जाए। उनके आदर्श राज्य की प्रमुख विशेषता विकेन्द्रीकृत सत्ता है। वे सम्पूर्ण भारत में प्राचीन ढंग से स्वतन्त्र एवं स्वावलम्बी ग्राम सभाओं की स्थापना करना चाहते थे जिसका आधार ग्राम पंचायते होंगी। 'हरिजन' जुलाई 26, 1942 में गाँधी जी ने लिखा है कि -

गाँव की सरकार का परिचालन, प्रौढ़-ग्रामीणों द्वारा वार्षिक चुने गये पाँच सदस्यों की पंचायत द्वारा होगा। इसमें स्त्री, पुरुष कम से कम निर्धारित योग्यता वाले भाग लेंगे। चूँकि कोई दण्ड विधान नहीं होगा, यह पंचायत कार्यपालिका, विधायिका एवं न्यायपालिका का समन्वित रूप होगी जो कि अपने कार्यों को सम्पादित करेंगी। कोई भी गाँव इस प्रकार का गणतन्त्र आज बन सकता है, बिना किसी हस्तक्षेप के यहाँ तक कि वर्तमान सरकार के।

गाँधीजी पूँजी के केन्द्रीकरण को शोषण अस्त्र मानते थे। इस प्रकार पूँजी का केन्द्रवाद गरीूबी को विकसित करने वाला है। इसलिये उन्होंने खादी और स्वदेशी की बात की। उन्होंने कहा कि घर में बनी वस्तुओं का प्रयोग हो और विदेश वस्तुओं का बहिष्कार हो। घरेलू उद्योगों की सुरक्षा के लिये यह आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना भारत गरीब हो जायेगा।

मानव की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक वास्तविकताओं से उन्होंने विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त निकाला था। व्यापक रूप में यह कहा जा सकता है कि अपने विकेन्द्रीकरण के विचार से वे कुछ निश्चित मूल समस्याओं का समाधान ढूँढना चाहते थे। डॉ. वी.टी. पाटिल ने अपने निबन्ध , 'गाँधीजी कॉन्सेप्ट ऑफ डिसेन्ट्रालाइजेशन : एनालिसिस' में लिखा है कि गाँधी जी के विकेन्द्रीकरण का तात्पर्य कुछ मूलभूत मुद्दों को हल करने से था, जैसे राज्य की निरंकुश शक्ति, असीमित हिंसा, मनुष्य का मनुष्य द्वारा आर्थिक शोषण, निर्धनता तथा सामाजिक आर्थिक असमानता को दूर करना आदि।

गाँधी जी की सामाजिक विचारधारा

वर्ण व्यवस्था : गाँधी जी का विचार था कि मेरी समझ में कोई मनुष्य न तो जन्म से और न कर्म से ही बड़ा हो जाता है। मेरा विश्वास है कि जन्म के समय सभी मनुष्य बराबर होते हैं। मेरी राय में दूसरे किसी मनुष्य से श्रेष्ठ होने का दावा करना मनुष्यता को लांछन लगाना है। जो अपनी उच्चता का दावा करता है, वह उसी क्षण मनुष्य होने का अधिकार भी खो देता है।

साम्प्रदायिक एकताः गाँधी जी हिन्दू, मुस्लिम, सिख एवं पारसी सभी सम्प्रदायों को एकता के सूत्र में बाँधना चाहते थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता के वे पुरोधा थे। जिन्ना की 'Two Nations Theory' से वे कभी भी सहमत नहीं हुए क्योंकि उनके अनुसार धर्म राष्ट्रीयता का आधार नहीं बन सकता है। गाँधी जी ने अन्तिम क्षण तक भारत विभाजन का प्रबल विरोध किया और साम्प्रदायिक एकता स्थापित करने के लिए ही आत्मोत्सर्ग भी कर दिया। बी.टी.पाटिल एवं एस.टी. केल्पर के शब्दों में ; "गाँधी जी ने विभाजन का तीव्र विरोध किया। उनका कहना था कि उनकी मृत्यु के पश्चात् ही विभाजन हो सकेगा; लेकिन उनको होनी स्वीकार करना ही पडा। यद्यपि इससे उनका हृदय टूट सा गया। अन्ततः उन्होंने अपना जीवन हिन्दुओं एवं मुसलमानों में भाई-चारे का भाव उत्पन्न करने के प्रयास में गवां दिया।" "स्वतंत्रता के आंदोलन में धार्मिक सहिष्णुता और धर्म-निरपेक्षता पर जोर देने वाला गाँधी जी से बड़ा कोई दूसरा व्यक्तित्व नहीं हुआ।"

शिक्षा : उन महान भारतीयों में गाँधी जी अग्रपंक्तेय हैं जिन्होंने भारत की शिक्षा की जटिल समस्याओं के प्रति, वैज्ञानिक पद्धति से अपने मस्तिष्क को प्रयोग किया है। यद्यपि कि वे एक राजनीतिक एवं समाज सुधारक थे परन्तु वे एक शिक्षाविद भी थे। वे शिक्षा को सामाजिक-आर्थिक प्रगति, राजनैतिक उत्थान एवं भौतिक विकास तथानैतिक उत्थान के लिये नवसंस्कार मानते थे।

गाँधी जी ने जिस शिक्षा पद्धति पर बल दिया उसे 'बुनियादी शिक्षा' के नाम से जाना जाता है। उनके अनुसार शिक्षा का सही उद्देश्य व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक, गुणों का विकास है। समुचित शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को निखारा जा सकता है। उनका कहना था कि शिक्षा में ज्ञान के साथ कर्म भी समन्वित है। गाँधी जी 'हरिजन' 8 मई, 1937 के अंक में लिखा है कि 'मस्तिष्क की सच्ची शिक्षा के लिये भी शारीरिक अवयवों का समुचित उपयोग आवश्यक है। शारीरिक शक्ति एवं कर्मेन्द्रियों के बुद्धिपूर्वक उपयोग से सुन्दर से सुन्दर और शीघ्र से शीघ्र मानसिक विकास सम्भव हो सकता है।"

बुनियादी शिक्षा के अन्तर्गत गाँधी जी बालक को प्रारम्भिक शिक्षा मौखिक रूप से प्रारम्भ में देने के पक्ष में थे। उनका मत था कि इससे पुस्तकीय ज्ञान से दस गुना लाभ होता है। उनका कहना था कि प्राथमिक शिक्षा सभी के लिये अनिवार्य होनी चाहिये। प्राथमिक या बुनियादी शिक्षा में शारीरिक प्रशिक्षण स्वच्छता एवं स्वावलम्बन पर जोर दिया जाना चाहिये। इस प्रकार की शिक्षा में इतिहास एवं भूगोल का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इस पद्धति के अनुसार किसी प्रकार के हस्तकौशल या कारीगरी के माध्यम से ही शिक्षा दी जानी लाभप्रद होगी।

वर्तमान संदर्भ में गाँधीवाद की प्रासंगिकता

सारे संरार को अहिंसा का पाठ पढ़ाने वाला वह लकुटी वाला महात्मा अपने दी देश में भुलाया जा रहा है; गाँधी के सारे सिद्धान्त हमारे व्यवहार से हटकर सिर्फ ठोल पीटने भर के लिये रह गये हैं।सिफळ नामोच्चार के लिये।

सम्प्रति विज्ञान और टेक्नोलॉजी प्रधान युग में गाँधी और गाँधी के आदर्शों, सिद्धान्तों तथा चिन्तन क्या; उनकी प्रतिपादित समूची जीवन पद्धति ही प्रासंगिकता के प्रश्नों के घेरे में आ फँसी है। उनका विचार दकियानूसी कहा जा रहा है; किन्तु क्या इस बात में दम है कि गाँधीजी वर्तमान में एकदम अप्रासंगिक हो गये हैं?

गाँधीवादी मूल्योंका मुखौटा ओढ़कर, गाँधी के नामों की स्तुति कर स्वार्थ-साधन में लिप्त नेतागण जनता को बेवकूफ बनाकर शोषण कर रहेहैं, हालॉकि गाँधी और गाँधी के सिद्धान्तों से रत्ती भर भी सरोकार किसी का नहीं है। ध्यातव्य है कि शोषण एवं अन्याय से त्राण पाने के लिये गांधी ने जिस सत्याग्रह के अस्त्र की बात की थी, उसे सत्ता गैरकानूनी घोषित कर देती है; अहिंसा कीढाल गाँधी जी की टूट चुकी है, रोज निहत्थी निरीह जनता गोलियों का शिकार हो रही हैं (जम्मू-काश्मीर, पंजाब या देश के अन्य भागों में) और गाँधी का जीवनादर्श-सत्य-सत्य वह ढाल बन चुका है; जिसे लेकर सर्वत्र असत्य की लड़ाई लड़ी जा रही है।

गाँधी जी सर्वधर्म समभाव के पक्षधर थे - किन्तु निहित स्वार्थों के लिये साम्प्रदायिक दंगे - राजनीति के खेल बन चुके

हैं; सारा चुनाव जातिवाद और धर्म तथा सम्प्रदाय के नाम पर लड़ा जा रहा है। गाँधी जी हरिजनोद्धार की बात करते थे, आज उन्हीं के देश में हरिजन इस समाज में सबसे अधिक उत्पीडित - 'रिजर्वेशन' के छलावे से उसे फुसलाया जा रहा है।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के शब्दों में, ''गाँधी नहीं रहे पर गाँधीवाद घसीटा जा रहा है। सैंकड़ों संस्थायें उनके नाम पर चल रही है। सरकार उनके नाम पर चलती हैं। सत्ता की नयी पौध उनके नाम पर पनपती हैं। विचारक, दार्शनिक उनके नाम पर बड़ी-बड़ी व्याख्या करते हैं और बताते हैं कि गांधी की रहा संसार में सुख की राह है, मानव कल्याण की राह है, विश्व शान्ति की राह है। यहाँ इस लेख बल्कि तकलीफ बयानी का उद्देश्य किसी सैद्धान्तिक बहस में पड़ना नहीं है क्योंकि वह सिद्धान्त जो कर्म से न जुड़ सके, पिरामिड में रखी खूबसूरत 'ममी' की तरह होता है।''

गाँधी जी की बुनियादी शिक्षा उनका कुटीर-उद्योग उनकी खादी-सभी बेकार रही। इस देश में गाँधीवाद की मिथ टूट चुका है। डॉ. शंकर दयाल शर्मा का विचार है, गाँधी जी की प्रासंगिकता चिरन्तन है। हमेशा रही, हमेशा रहेगी। उनके बताये रास्ते पर चलने से ही देश का भविष्य संवर सकता है। राजनीति और अर्थनीति में आज को कठिनाइयाँ हमारे सामने आ रही हैं, बहुत कुछ गाँधी जी के मूल्यों से कटने के कारण आ रही हैं। उनका मूल यंत्र था साध्य को पाने के लिये साधन की पवितत्रता की अनिवार्यता। अगर समाज उसी को अपना ले तो बड़ा काम हो जायेगा।

गाँधी जी की प्रासंगिकता के संदर्भ में, कभी युवातुर्क नेता, कभी के जनता पार्टी के अध्यक्ष (और वर्तमान में समाजवादी जनता दल के सशक्त नेता) चन्द्रशेखर ने दिनमान के 3-9 अक्टूबर, 82 के अंक में स्वीकार किया था, ''भारतीय राजनीति में गाँधी जी की प्रासंगिकता कभी भी समाप्त न हो सकेगी। कारण यह है कि सत्तर करोड़ का देश जिसमें आज भी गरीबी, बेबसी, शोषण और विषमता है, विकास की ओर तब तक उन्मुख नहीं हो सकता जब तक करोड़ों लोगों में आशा की एक किरण न जागे। यह तभी संभव है जब उनके आत्मविश्वास को सृदृढ़ किया जाये। उनके मन में यह भावना पैदा की जाये कि वे इस देश के निर्माता हैं। भारतीय राजनीति में गाँधी जी की सबसे बड़ी देन यही थी कि उन्होंने करोड़ों बेबस लोगों को आत्मनिर्भरता, आत्म शक्ति, संकल्प और स्वावलम्बन की एक नयी प्रेरणा दी।''

सुस्पष्ट है कि गाँधी की राजनीति नैतिकता के मूल्यों पर आधारित थी। उनका आर्थिक दृष्टिकोण भी तत्कालीन समाज और उसकी राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के विश्लेषण का पोषक है। लाल कृष्ण आडवानी के अनुसार ''जहाँ तक हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रश्न है, हरिजनों के उद्धार का प्रश्न है, इन विषयों की प्रासंगिकता चिरस्थायी है। मद्यनिषेध के बारे में अगर कहूँ तो मद्यनिषेध और भाषा दो ऐसे प्रश्न हैं जिनके बारे में गाँधी जी का दृष्टिकोण शुद्ध, वैज्ञानिक और सही है।''

गाँधी जी की कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं था। उनका दर्शन कार्य के स्तर पर सत्य, अहिंसा और प्रेम की कार्यशीलता पर आधारित है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गुन्नार मिर्डल का विचार है कि भारत के उद्धार और आर्थिक प्रगति का एकमात्र मार्ग गाँधीवाद है। लार्ड ब्रायड आर.के. का तो यहाँ तक कहना है कि ''मेरे विचार से अब वह समय आ गया है कि जब गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को विश्वव्यापी स्तर पर व्यवहार में लाना चाहिये, इसका प्रयोग अवश्य करना चाहिये। इनका प्रयोग अवश्य किया जायेगा, क्योंकि जनता यह अनुभव करती है कि इसके सिवाय विनाश से परित्राण की कोई आशा नहीं है।''

''बीसवीं सदी की दुनिया अपने बहुतेरे पुनर्संकारो के लिये जिन व्यक्तित्वों की ऋणी है, उन में महात्मा गाँधी भी एक हैं। सत्य पर अचल निष्ठा, उदात मानवीयता, एक अद्‌भुत प्रयोगधर्मिता जहाँ उन्हें एक संत की ऊँचाई प्रदान करते रहे, वहीं राजनीतिक-सामाजिक कर्म उनके नेतृत्व की धार और कुशलता, एक जनांदोलन खड़ा करने में उनकी सफलता, उन्हें एक महान सिपाही की तरह भी हमारे सामने रखती है। यह संत योद्धा जब तक जिया, पुरे भारत वर्ष का मार्गदर्शन करता रहा। मगर गाँधी जी के जीवन काल में भी और उनके निधन के बाद भी उनकी बहुत आलोचनायें भी हुयीं। यहाँ तक कि उनके मूलदर्शन- अहिंसा और हृदय-परिवर्तन भी अव्यावहारिक करार दिये गये। करने वाले उनकी नीयत पर शक करते रहे।'' गाँधी जी के निधन के बाद भी उनके प्रति अंध श्रद्धा और अंध-विरोध का एक दौर चला है। उन मूर्ति पूजकों और मूर्ति भंजकों के बीच लगता है कि असली गाँधीजी कहीं खो से गये हैं। आइन्सटीन ने कहा था कि आने वाली पीढ़ियाँ शायद विश्वास न करें कि ऐसी भी कोई शख्सियत हमारे बीच हुई थी।''

मार्क्सवादी विचारधारा के पुरोधा, ई.एम.एस. नंबूदरीपाद के अनुसार ''आजादी के बाद गाँधी जैसे सन्त राजनीतिक

नेता की सार्थकता ही नहीं रही।'' वास्तव में नंबूदरीपाद का दृष्टिकोण, कड़वा तो सुनने में लगता है किन्तु है सत्य। आजादी के पश्चात् गाँधी जी ने स्वयं कहा, ''और आज हिन्दुस्तान में कौन-सी ऐसी चीज हो रही है जिससे मुझे खुशी हो सके तो भी मैं पड़ा हूँ क्योंकि कांग्रेस बहुत बड़ी संख्या हो चुकी है। उसके सामने मैं उपवास नहीं कर सकता लेकिन आज मैं भट्टी में पड़ा हूँ और मेरे दिल में अंगार जल रहा है।''

ठीक है, कि गाँधी जी ने अपनी निजी जिन्दगी को सार्वजनिक आयाम देकर, अपने दर्शन को जमीन पर उतार कर आखिरी आदमी की लडाई लड़ने की कोशिश की; धनी से लेकर सर्वहारा, कृषक से लेकर जमींदार, बाबू से लेकर अधिकारी सभी के नेतृतत्व का भार उठाया; और राजनीतिक जगत् में उनका मुकाबला करने वाला अब तक कोई पैदा नहीं हुआ, विश्व में भी; तो भी 'सारे हिन्द के लिए के वैकल्पिक आर्थिक तन्त्र देने वाले महात्मा गाँधी किसी ऐसे नेता को पैदा न कर सके जो उनके सपने को ठोस आर्थिक और राजनैतिक सच्चाइयों में परिवर्तन कर सकता।'

और केवल इतना ही प्रासंगिक एवं चिरन्तन है - गाँधी जी अपनी मृत्यु के चार दशक पश्चात् भी लोगों के दिमाग में लिखित है क्योंकि भारत के लिए उसी प्रकार थे जिस प्रकार गंगा और हिमालय हैं।

****

डॉ. भीमराव अम्बेडकर

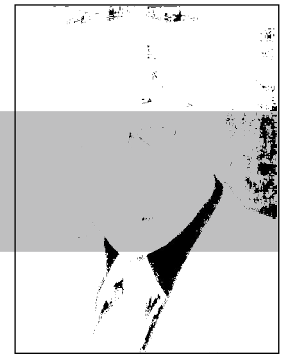

20वीं सदी के महानतम चिन्तकों में पांक्तेय डॉ. भीमराव अम्बेडकर का प्रादुर्भाव महाराष्ट्र के एक महर परिवार में 14 अप्रैल, 1891 को हुआ था। ज्ञातव्य है कि महर महाराष्ट्र में अछूत समझे जाने वाले लोग थे किन्तु इस जाति के लोग साहसी हुआ करते थे जैसा कि अम्बेडकर का मानना है। बाल्यकाल से ही अछूत होने का संत्रास अम्बेडकर को झेलना पड़ा था। सन् 1900 से 1904 तकराजकीय कॉलेज सतारा में जो कुछ दुर्व्यवहार वहाँ के अभिजात्य वर्ग के छात्रों ने जो कि उनके सहपाठी थे, उनके साथ किया, उससे उन्हें महसूस हुआ कि अछूत होना कितना बड़ा पाप है। अम्बेडकर अपने हाथ से पानी तक नहीं छू पाते थे। बौद्धिक क्षमता में उनसे कई गुना अधः स्थिति के सवर्ण उनके सहपाठी- उन्हें बर्तन तक नहीं छूने देते थे। यहाँ तक कि उन्हें पैदल ही यात्रायें करनी पड़ती थी क्योंकि बैलगाड़ी वाले भी उन्हें अस्पृश्य समझकर अपनी अपनी गाड़ी में नहीं बैठाते थे। विद्यालय के अध्यापकों का बर्ताव भी भेदभावपूर्ण था। अम्बेडकर की महती इच्छा थी कि संस्कृत का अध्ययन करें पर उनके संस्कृत अध्यापक ने उन्हें संस्कृत पढ़ाने से न केवल इन्कार किया अपितु कक्षा से बाहर कर दिाय। फलतः न चाहते हुए भी वे फारसी पढ़ने को विवश हुए।

इस प्रकार की घटनाओं ने अम्बेडकर के मस्तिष्क में एक ऐसी सोच को जन्म दिया जिससे वे महसूस करने लगे कि अछूत तो खरीदुआ गुलाम है और ऊँची जाति के लोग कभी यह बर्दाश्त नहीं कर सके। 1907 में हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करने पर एक हंगामा खडा हो गया और अविश्वास भी कि यह महर बालक हाई स्कूल की परीक्षा कैसे उत्तीर्ण कर सकता है। आगे पढ़ना कठिन था किन्तु बड़ौदा के महाराजा को उस बालक की प्रतिभा पर दया आयी और उन्होंने 25/- मासिक छात्रवृत्ति देने का निर्णय किया जिसके सहारे भीमराव अम्बेडकर एलीफेंट्स कॉलेज में प्रवेश लिये और 1912 में स्नातक की परीक्षा पास की। इस कॉलेज में भी उन्हें उपेक्षित एवं तिरिस्कृत किया गया। उन्हें आगे की सीट पर बैठने नहीं दिया जाता था। ऊंची जाति के विद्यार्थी उनको अपने से दूर रखते थे, अध्यापक तो स्पर्श से बचते थे, ग्रेजुएट होने के बाद विद्यालय के किसी भी ऊँची जाति के अध्यापक या छात्र को यह अच्छा नहीं लगा कि उन्हें ग्रेजुएट की उपाधि दी जाए।

स्नातक होने के पश्चात् अम्बेडकर ने बड़ौदा राज्य में एक छोटी सी नौकरी कर ली । कुछ समय पश्चात् बड़ौदा नरेश की कृपा से उन्हें 'गायकवाड़-स्कालरशिप' प्रदान की गयी और अम्बेडकर ने कोलम्बिया विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। यहाँ बहुत दिनों तक उन्होंने अध्ययन किया और खुले समाज को देखने को देखने का सौभाग्य भी उन्हें प्राप्त हुआ। इसी विश्वविद्यालय में अम्बेडकर को प्रोफेसर सेलिंगमैन और लाला लाजपत राय का सानिध्य मिला। 1915 में उन्होंने स्नातकोत्तर परीक्षा पास कर ली और 1917में उन्हें पी.एच.डी. की भी उपाधि मिल गयी।

अम्बेडकर में आत्म-विश्वास का भाव उदय हुआ और उन्होंने लंदन स्कूल ऑफ इकोनामिक्स में प्रवेश लिया परन्तु पैसे के अभाव में उन्हें अपनी इच्छाओं की तिलांजलि देनी पड़ी और 1918 में वे इंग्लैण्ड से भारत लौट आने को विवश हुए क्योंकि 'स्कालरशिप' की अवधि भी समाप्त हो चुकी थी। दरिद्रता ने प्रगति के मार्ग को अवरोधित किया। भारत आगमन पर उनके समक्ष पुनः जीविका की समस्या खड़ी हुई। पुनः बड़ौदा महाराजा ने सहानुभूति दिखायी और उन्हें बड़ौदा का मिलिटरी सेक्रेटरी नियुक्त कर दिया। लेकिन जो तिरस्कार एवं उपेक्षा अम्बेडकर को यहाँ झेलनी पड़ी इससे उनकी रूह काँप गयी और इस स्थान पर एक क्षण भी बने रहना दमघोटू हो गया। कारण था, ऊपर एवं नीचे तथा इर्द-गिर्द ऊँची जाति के अधिकारी थे। सवर्ण चपरासी भी अम्बेडकर को अपने से हेय समझता था और फाइल अम्बेडकर के हाथ में न देकर दूर से फेंकता था ताकि अछूत का स्पर्श न हो जाए। असह्य उपेक्षा-भाव एवं अपमानित हृदय से वे नौकरी छोड़ दिये और बम्बई चले गये और वहीं से प्रारम्भ होती है उनके राजनीतिक जीवन की शुरुआत। यहाँ पर उन्होंने और वही से प्रारम्भ होती है उनके राजनीतिक जीवन की शुरुआत। यहाँ पर उन्होंने 'Depressed Classes Conference' में सक्रिय रूप से हिस्सा लिया।

किन्तु अर्थाभाव में राजनीति भी फीकी लगी। सिडनहैम कॉलेज बम्बई में उन्होंने राजनीति अर्थशास्त्र के प्राध्यापक के रूप में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया किन्तु फिर वही अछूत उपेक्षा एवं तिरस्कार। वहाँ के प्राध्यापकों ने न केवल उनकी उपेक्षा की अपितु घोर अपमान एवं दुर्व्यवहार भी किया, उन्हें उस 'मेस' में खाना नहीं खाने दिया गया जिसमें ऊँची जाति के प्राध्यापक भोजन करते थे। फलतः त्याग पत्र देना ही बेहतर उन्होंने समझा। भारत उन्हें रास नहीं आया और वे पुनः लंदन चले गये। वहाँ 'साउथबरो आयोग' ने अपना सलाहकार नियुक्त कर लिया। वहाँ वी.आर. सिन्धे के साथ दलित वर्ग के उत्थान की बात की और एक पत्र 'मूकनायक' प्रकाशित किया जिसके वे स्वयं सम्पादक थे और उन्होंने इस पत्र के माद्य से सम्पूर्ण अछूत एवं दलित वर्ग से अपील की कि वे ऊँची जातियों का जोरदार विरोध करे और 1920 तक वे पूर्णतः राजनीतिज्ञ हो गये।

अम्बेडकर का चिन्तन भक्त कवि कबीर, महात्मा फूले और गौतम बुद्ध से अनुप्राणित हुआ। इसके अतिरिक्त अम्बेडकर के पास यूरोप, अमरीका एवं जर्मनी के समाज का भी गहरा अध्ययन था। विदेशी समाजों में वर्ण व्यवस्था जैसी बातों का अभाव उन्होंने देखा और यही वजह थी कि अम्बेडकर भारतीय समाज में उसी एकताा की आवश्यकता महसूस करते थे। परन्तु भारतीय परिवेश और यहाँ की सामाजिक संरचना के लिये अम्बेडकर की एकता की सोच अव्यावहारिक सिद्ध हुई।

सामाजिक चिन्तन

डॉ. अम्बेडकर संघर्ष के प्रतीक थे। जाति रूपी दुर्ग की रचना, जिसकी बुनियाद अन्याय एवं शोषण पर रखी गयी है, उसे ध्वस्त करना वे जरूरी समझते थे। अम्बेडकर की पीड़ा समाज के निम्न से निम्नतम एवं कमजोर से कमजोरतम व्यक्ति को स्वतन्त्रता दिलाने की थी। उन्होंने सामाजिक जीवन के विविध पक्षों का गहन एवं विस्तृत अध्ययन किया था। एक विद्वान का विचार है कि, 'अम्बेडकर के अध्ययन का विस्तार तथा उनकी दृष्टि की व्यापकता, विश्लेषण की गहनता व सोच की तार्किकता और र्का के लिये उनके द्वारा दिये गये मानवीय सुझाव लोगों को बरबस तत्पर व क्रियाशील बना देते थे।''

डॉ. अम्बेडकर की मान्यता थी कि शोषण के विरूद्ध श्रमिकों का संगठित होना आवश्यक है, किन्तु श्रमिकों को राजनैतिक रूप से जागरूक करने के पूर्व सामाजिक रूप से जागरूक करना वे ज्यादा जरूरू समझते थे। उनका मानना था कि - ''जाति भावनाओं से आर्थिक विकास रूकता है। इससे वे स्थितियाँ पैदा होती है जो कृषि तथा अन्य क्षेत्रों में सामूहिक प्रयत्नों के विरूद्ध है। जात-पाँत के रहते हुए ग्रामीण विकास समाजवादी सिद्धान्तों के विरूद्ध रहेगा।''

अम्बेडकर ने भारत की आर्थिक समस्याओं एवं व्यवस्थाओं पर विशेष रूप से ध्यान दिया। उनकी विश्लेषण पद्धति तर्कसम्मत एवं वैज्ञानिक है। हाँ, एक बात अवश्य है कि उनके सामाजिक विश्लेषण में वस्तुपरक तो है, किन्तु पूर्वाग्रह के साथ। शायद इसकी वजह यह रही है कि प्रायः वे उन्हीं समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किये हैं जिससे दलित वर्ग के शोषण का सम्बन्ध है और वे इतिहास के उन पक्षों की उपेक्षा कर बैठे जो भारतीय मानस के मूलभूत चिरन्तन सिद्धान्तों का आभास दिलाते हैं। फलतः उनके विचार अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी एकांगी लगते हैं। अम्बेडकर का यह मानना कि वर्ण व्यवस्था मात्र शोषण का परिणाम थी तर्क संगत प्रतीत नहीं होता है। मनु ने जो व्याख्या दी वह पूर्व से चली आ रही रीतियों का संकलन ही है। मनु की कुछ परम्परागत मान्यतायें निश्चयमेव तिरस्कार के अर्ह हैं किन्तु मनु की ऐतिहासिकता को पूर्णतः अस्वीकार करना युक्ति संगत नहीं होगा। क्योंकि इस विचार से इन्कार नहीं किया जा सकता है मनु महान विद्वान थे और उन्होंने तद्युगीन सर्वमान्य सिद्धान्तों का निरूपण किया। अतः अतीत को नकारना इतिहास की अवहेलना होगी।

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार संसदीय प्रजातंत्र वैयक्तिक स्वतन्त्रता को तो महत्व देता है किन्तु समानता की उपेक्षा करता है। अतः समाजवाद के साथ वैयक्तिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति का सबसे अच्छा तरीका संसदीय प्रजातन्त्र को बनाये रखते हुए राज्यसमाजवाद को संविधान के कानून में सम्मिलित करना है। उनका मानना था कि 'लोकतन्त्र सरकार का एक स्वरूप एवं पद्धति है जिसके द्वारा लोगों के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में बिना खून-खराबे के क्रान्तिकारी परिवर्तन लाये जाते हैं। यदि लोकतन्त्र लोगों के सामाजिक और आर्थिक जीवन में मौलिक परिवर्तन लाता है और यदि, लोग इन परिवर्तनों को बिना खून-खराबे के स्वीकार करते हैं तो वह सही अर्थ में लोकतन्त्र है।

अस्पृश्यता : डॉ. अम्बेडकर का सामाजिक दृष्टिकोण स्वप्निल आदर्श एवं कोरी कल्पना पर आधारित नहीं अपितु अनुभव एवं तथ्यपरक है। उनका मानना था कि अस्पृश्यता का मूल मृत अतीत के गर्भ में विलीन है जिसे कोई नहीं जानता। अस्पृश्यता की उत्पत्ति का पता लगाने में इतिहास की जो कड़ियाँ लुप्त हो गयीं है उनकी पुनर्रचना करके मैंने कोई गलत

कार्य नहीं किया है और न ही इस आधार पर मैंने जो मत कायम किया है वह त्रुटिपूर्ण है क्योंकि लुप्त कड़ियों का निर्माण मैंने केवल अनुमानतया कल्पना के आधार पर ही किया है।

अस्पृश्यता को अम्बेडकर दास प्रथा से भी बुरा मानते थे -''अस्पृश्यता और दास प्रथा में अंतर है, जिससे अस्पृश्यता एक परतन्त्र सामाजिक व्यवस्था की सबसे खराब मिसाल बन जाती है। दास प्रथा कभी बाध्यकारी नहीं थी, किन्तु अस्पृश्यता बाध्यकारी है। कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को अपने दास के रूप में रख सकता है। उस पर ऐसी कोई बाध्यता नहीं है कि वह नहीं चाहने पर भी रखे, किन्तु अछूत के पास कोई विकल्प नहीं है। एक अछूत के रूप में पैदा होने पर अछूत की सारी अयोग्यतायें उसे मिल जाती है। दास प्रथा का कानून छुटकारे की इजाजत देता है। इस बार का गुलाम, हमेशा गुलाम-ह गुलाम की नियति नहीं थी। अस्पृश्यता में बच किलने का कोई रास्ता नहीं। एक बार अछूत हमेशा अछूत।'' इस प्रकार अम्बेडकर दास प्रथा को अस्पृश्यता से सौगुना बेहतर मानते हैं। डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि अस्पृश्यता का समूल विनाश हुए बगैर दलित वर्ग के लोगों का उद्धार सम्भव नहीं है। जाति प्रथा को वे कुछ लोगों का षड्यन्त्र मानते थे, जो कि शोषण वृत्ति रखते थे। सवर्णों ने शूद्रों का सदा शोषण किया और निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों ने भले ही इनका शोषण नहीं किया किन्तु शूद्रों के प्रति उनका व्यवहार घृणात्मक था, बेहद उपेक्षापूर्ण।

जो लोग गंदा काम करते थे, उन्हें शूद्र मान लिया गया और कालान्तर में यह भावना एक सामाजिक मान्यता बन गयी और जो लोग इन गंदे कार्यों- मैला साफ करना, मरे जानवरों की खाल निकालना, जूते बनाना आदि कार्यों को करते थे वे शेष समाज से च्युत हो गये और उनकी जिन्दगी सीमित दायरे में सिमट कर रह गयी। वे सवर्णों के कुओं को छू नहीं सकते थे और सवर्णों की बस्ती से दूर रहने के लिये वे मजबूर थे, उनकी बस्ती की 'चमटोली' कहा गया।

शूद्रों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था, इतिहास इस बात का साक्षी है। पवित्रता की अवधारणा अपरिहार्य रूप वस्तुओं तक ही सीमित नहीं थी। कतिपय विशेष व्यक्तियों के ऐसे वर्ग भी थे जो पवित्र माने जाते थे किसी व्यक्ति द्वारा उनका स्पर्श किये जाने पर उनकी पवित्रता भंग हो जाती थी। आदिम अथवा प्राचीन लोगों में प्रदूषण की धारणा थी। ब्राह्मण अशुचिता से मुक्त थे ऐसी बात नहीं थी। जन्म एवं मृत्यु से होने वाली अशुचिता से वह भी प्रभावित थे और अशुचिता को दूर करने के लिये मनु ने प्रावधान भी बनाये थे।

भीमराव अम्बेडकर ने लिखा है कि 'हम कुछ विश्वास के साथ कह सकते हैं कि अस्पृश्यता की उत्पत्ति ईसा की मृत्यु के 400 वर्ष बाद हुई इसकी उत्पत्ति ब्राह्मणवाद एवं बौद्ध धर्म में प्रभुता की लड़ाई के लिये जो संघर्ष हुआ उसके कारण हुई जिसने भारत के इतिहास को पूर्ण रूप से बदल दिया तथा भारती इतिहास के छात्रों ने इस पर अध्ययन करने की जरूरत नहीं समझी और इसे तिरस्कृत किया। डॉ. अम्बेडकर ने दुराग्रह-पूर्वाग्रह से नहीं अपितु पूर्ण उत्साह के साथ वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया, अछूतोद्धार के कार्य में लगे रहे। ठीक है कि उनकी व्यक्तिगत पीड़ा ने अछूतोद्धार के कार्य में उन्हें संलग्न किया, किन्तु उनकी व्यक्तिगत पीड़ा जनहित की भावना से प्रेरित थी, मानते थे। उनका स्पष्ट कहना था कि जब तक अस्पश्यता का खातमा नहीं होगा, दलित वर्ग का उद्धार असम्भव है। अम्बेडकर का मानना था कि अछूतों को चाहिये कि वे अपनी संकीर्णता से ऊपर उठें और उन कार्यों को न करें जिनकी वजह से उन्हें अछूत समझा जाता है।

अम्बेडकर की आर्थिक अवधारणा

डॉ. अम्बेडकर मूलतः अर्थशास्त्री थे। अर्थाशास्त्र ही उनका मुख्य विषय था और अर्थशास्त्र के संदर्भ ही उन्हें समाजशास्त्र के अध्ययन का मौका मिला था। 'प्रोविन्सियल डिसेन्ट्रलाइजेशन ऑफ इम्पीरियल फाइनेंस इन ब्रिटिश इण्डिया'' शीर्षक पर उन्हें 1921 में एम.एस.सी. की उपाधि लन्दन विश्वविद्यालय से मिली और 'द प्राबलम ऑफ द रूपीः इट्स ओरिजिन एण्ड इट्स सोल्यूशन' पर 1923 में लन्दन विश्वविद्यालय से डी.एस.सी. की उपाधि मिली। उनका आर्थिक चिन्तन उनके समेकित सामाजिक चिन्तन का एक पक्ष है जो कि उनके यथार्थ के अनुभव से उद्धृत है। उन्होंने पाया कि वर्ण, जाति एवं जजमानी द्वार संचलित हिन्दू समाज का पारम्परिक सामाजिक आर्थिक ढाँचा न केवल अन्यायपूर्ण है अपितु अवैज्ञानिक भी है। प्रगति की दौड़ में एवं समाज के संतुलन में, विकास में सबकी भागीदारी आवश्यक है।

अम्बेडकर का मानना है कि जिस हिन्दू ढाँचे पर सामाजिक रचना है- जिनमें व्यक्ति को अपनी योग्यता एवं रूचि के अनुकूल व्यवसाय चुनने की आजादी नहीं है, जाति केवल व्यक्ति के पेशे का निर्धारण नहीं करती है अपितु उसे वंश दर वंश उसी पेशे से बाँध देती है- इसे समाज में वे लोग लाभान्वित होते हैं जो उत्पादन प्रक्रिया में प्रत्यक्षतः न तो भागीदार होते हैं और न ही कोई शारीरिक श्रम ही करते हैं। वे दूसरे के पसीनों पर अपने वैभव का महल बनाते हैं, और सवर्णों की सेवा करने

वाले, दिन रात पसीना बहाने वाले दलित को इतना पारिश्रमिक भी नहीं मिलता है कि वह इज्जत की रोटी खा सके।

वर्ण एवं जाति व्यवस्थाओं का जो श्रम विभाजन है वह अस्वाभाविक एवं दोषपूर्ण है। अम्बेडकर ने स्पष्टतः कहा था, ''चतुर्वर्ण श्रम विभाग नहीं है। यदि ऐसा होता तो इसमें श्रमिकों को स्वेच्छा से अपना पेशा चुनने का अधिकार होता। जो जैसा व्यवसाय चुनता उसके अनुरूप समाज में उसे मान्यता मिलती किन्तु ऐसा नहीं है। विद्वान बनिया, बनिया ही रहता है, वह ज्ञान प्रधान ब्राह्मण नहीं बन सकता। ब्राह्मण यदि कृषि करता है तो वह वैश्य नहीं ब्राह्मण ही रहता है। इसलिये चतुर्वर्ण श्रम विभाग नहीं है। यह श्रमिकों का विभाजन है जो जन्मजात रूढ़ है, जो जन्म से मृत्यु तक व्यक्ति की देह में चिपका ही नहीं वरन् देह में समाया रहता है और धर्म बन जाता है। विश्व में हिन्दू ही ऐसे अकेले लोग हैं जिनकी सामाजिक व्यवस्था-मनुष्य का मनुष्य के साथ सम्बन्ध, धर्म द्वारा प्रतिष्ठित है और उसे पवित्र, शाश्वत और अनुल्लंघनीय बनाया गया है।हिन्दू ही विश्व में केवल ऐसे लोग हैं जिनकी अर्थ व्यवस्था-कार्मिक का कार्मिक से सम्बन्ध, को धर्म द्वारा प्रतिष्ठित किया गया है और पवित्र शाश्वत एवं अनुल्लंघनीय बनाया गया है।

अर्थशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि यदि अम्बेडकर केवल अर्थशास्त्र की दिशा में काम करते तो वे निश्चित रूप से एक महान् अर्थशास्त्री होते। अम्बेडकर ने भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन पश्चिमी जगत के सिद्धान्तों के सहयोग से किया। प्रो. सेलिंगमैन, प्रो. केन्नान तथाअमेरिका, लन्दन, जर्मनी के कई दार्शनिकों के सम्पर्क में वे रहे और उनके विचारों से अनुप्राणित हुए।

अम्बेडकर ने महसूस किया कि जब तक दलितों के विरूद्ध आर्थिक शोषण होता रहेगा सामाजिक असमानता बनी रहेगी। उनका यह भी तर्क था कि चूँकि अछूत एवं दलित वर्ग के लिये अनेकों व्यवसायों पर प्रतिबन्ध हैं, इसलिये वे निर्धन एवं कमजोर हैं। प्रायः उनसे शारीरिक श्रम लिया जाता है। कृषियोग्य भूमि का उचित बंटवारा न होना भी दलित वर्ग की गरीबी का मुख्य कारण रहा है। वे मानते थे कि जमींदारी प्रथा के चलते कृषकों की गरीबी दूर नहीं हो सकती। जब तक भूस्वामी बने रहेंगे, भूमिहीन कृषक भी बने रहेंगे। वे जमींदारी-प्रथा के खात्मे के धुर समर्थक थे। अम्बेडकर की धारणा थी कि सहकारिता पर आधारित खेती से किसानों की दशा सुधर सकती है किन्तु कुछ दिनों बाद उन्हें भ्रम हुआ कि इस प्रथा का रूख वैज्ञानिक समाजवाद की ओर चला जायेगा और साम्यवादी तरीके उन्हें पसन्द नहीं थे। फलतः नेहरू की कृषि नीति मिश्रित अर्थ-व्यवस्था पर ही उन्होंने भरोसा किया।

अम्बेडकर ने कहा था कि, ''जाति भावनाओं से आर्थिक विकास रूकता है। इससे वे स्थितियां पैदा होती है जों कृषि तथा अन्य क्षेत्रों में सामूहिक प्रयत्नों के विरूद्ध है। जात-पात के रहते हुए ग्रामीण विकास समाजवादी सिद्धान्तों के विरूद्ध रहेगा।'' उनका मानना था कि पूँजीवाद आर्थिक विषमता उत्पन्न करता है, साम्यवाद असमानता और शोषण को समाप्त करता है किन्तु मजदूर की इच्छा का हनन भी करता है। स्वतन्त्रता एवं समानता समाजवाद से ही सम्भव है। समाज के बहुसंख्यक कमजोर वर्ग के लोगों को आर्थिक शोषण के विरूद्ध सुरक्षा प्रदान करने के लिये अम्बेडकर ने संविधान में समाजवाद को सम्मिलित किये जाने की सिफारिश की थी।

वे कृषि को राज्य उद्योग के रूप में विकसित करने के पक्षधर थे और उनका मानना था कि निजी क्षेत्र से औद्योगिक प्रगति सम्भव नहीं है। अम्बेडकर के अनुसार लोकतान्त्रिक पूँजीवादी अर्थरचना में जिसे हम स्वतन्त्रता कहते हैं, वह स्वतन्त्रता मजदूर अथवा भूमिहीन श्रमिक की नहीं है। यह स्वतन्त्रता भूस्वामियों की है जिससे वे किराया बढ़ा सकें, यह स्वतन्त्रता बड़े-बड़े पूँजीपतियों की है ताकि वे काम के घंटे बढ़ा सकें, यह स्वतन्त्रता उन लोगों की है जो श्रमिकों का वेतन कम कर सकें और शोषितों की मुसीबत बढ़ा सकें।

अम्बेडकर साम्यवादी व्यवस्था को पसन्द नहीं करते थे। उनका मानना था कि इससे पूँजीवाद का तो खात्मा हो सकता है परन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हमें लगा घोंटना पड़ सकता है। राज्य समाजवाद के माध्यम से ही समस्या का निदान हो सकता है। अम्बेडकर नये दृष्टिकोण को अपनाने के पक्षधर थे। उनका मानना था कि रूसी साम्यवाद मात्र एक धोखा है। दरिद्रता समाज में सदैव रही है और रहेगी, यहाँ तक कि रूस में भी दरिद्रता है किन्तु दरिद्रता की वजह से मानव स्वतन्त्रता की कुर्बानी नहीं दी जा सकती। असल में अम्बेडकर का विचार था कि मूलभूत सामाजिक सुधारों को लागू किये बिना आर्थिक सुधारों को लागू करना कठिन है। रूसी साम्यवाद के विरोध का कारण अम्बेडकर की कुंठा भी थी और बौद्ध धर्म के प्रति लगाव भी। सम्पत्ति संग्रह की प्रवृत्ति पर नियंत्रण कर व्यक्ति को सामाजिक उत्तरदायित्व का बोध वे बुद्ध के उपदेशों के अनुरूप कराना चाहते थे, जो कि मात्र एक छलावा था और अव्यवहारिक भी।

अन्ततः कहा जा सकता है कि अम्बेडकर की अर्थशास्त्र के प्रति गहरी रूचि थी; सामाजिक विषमताओं को समाप्त

करने के लिये आर्थिक चिन्तन जो उनके पास था, वह समाजवादी एवं समय सापेक्ष था, किन्तु वे अछूतोद्धार की समस्या से ही जीवन भर लड़ते रहे और अपने प्रतिपाद्य विषय की ओर उनका चिन्तन विशेष नहीं गया और वेसमाज सुधा सम्बन्धी कार्यों में ही लगे रहे। इनका मानना था कि - 'धर्म, सामाजिक परिस्थिति और सम्पत्ति सभी समान रूप से शक्ति और सत्ता के स्त्रोत हैं। इसलिये मूलभूत सामाजिक सुधारों को लागू किये बिना आर्थिक सुधारों को लागू करना कठिन होगा।

अम्बेडकर के धार्मिक विचार

धर्म के नाम पर पाखण्डवाद के अम्बेडकर विरोधी थे, किन्तु वे नास्तिक नहीं थे, धर्म को समाज के लिये आवश्यक मानते थे। मार्क्सरादी चिन्तन धर्म को अफीम मानता है। ऐसी अफीम जो गरीब और अमीर की खाई को चौड़ा करती है और कमजोर को अभावग्रस्त जीवन जीने का अभ्यस्त बना देती है, किन्तु अम्बेडकर की दृष्टि में धर्म मानवता के लिये आवश्यक है। धर्म के समाप्त होने में समाज के समाप्त होने का भय उन्हें था।

अम्बेडकर आर्थिक व सामाजिक अधिकारों के लिये संघर्षरत गरीब, कमजोर लोगों को धार्मिक उपदेश देकर संघर्ष से हटाना नहीं चाहते थे, लेकिन इतना अवश्य कहते थे कि दलितों के लिये केवल पेट भरना और जीवित रहना ही पर्याप्त नहीं है अपितु उनका मानसिक और नैतिक विकास भी आवश्यक है। उनका कहना था कि धर्म व्यक्ति के लिये होता है न कि व्यक्ति धर्म के लिये। धर्म को व्यक्ति के अस्तित्व एवं महत्व को स्वीकार करना चाहिए तथा उसके आध्यात्मिक एवं बौद्धिक विकास के लिये अनुकूल वातावरण का सृजन करना चाहिये। धर्म वह है जो लोगों को एकता के सूत्र में बँधें। धर्म दैवीय नियमन की एक आदर्श प्रयोजना है जिसका लक्ष्य उस सामाजिक व्यवस्था जिसमें कि लोग रहते हैं, को एक नैतिक व्यवस्था बनाना है।

धर्म का अस्तित्व मुख्यतः उसमें प्रतिपादित आदर्श प्रयोजना के रक्षार्थ एवं पोषणार्थ होता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि धर्म ग्रंथों की रचना ईश्वर ने की है अतः उसमें जिन नियमों, आदर्शों की प्रस्थापनायें हैं वे ईश्वरीय है जैसे ईसाई धर्म में बाइबिल, हिन्दू धर्म में वेद, गीता एवं स्मृतियां तथा इस्लाम में कुरान एवं हदीस धार्मिक संहितायें है जिनमें ईश्वरीय नियमों का प्रतिपादन है और ये ही धर्मावलम्बियों के आचरण एवं जीवन को नियंत्रित करते हैं।

धार्मिक ज्ञान का क्षेत्र संकुचित होने पर धर्म की सत्ता की खिसकती गयी। कापकनिक्स एवं डार्विन के वैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के परिणामस्वरूप भौतिक ज्ञान के साथ सामाजिक ज्ञान के विविध क्षेत्रों में भी धर्म की सत्ता लड़खड़ायी। चिन्तन के क्षेत्र में विज्ञान द्वारा एकक्रांति हुई, धर्मशास्त्रीय स्थापनाओं के सिद्ध विज्ञान ने नयी क्रांति पैदा की जिससे स्वतन्त्र चिन्तन का आविर्भाव हुआ और अंधविश्वास, रहस्यवाद तथा दैवीय भय की जड़ें उखड़ी और समाज की प्रगति का मार्ग प्रशस्त हुआ।

अम्बेडकर के विचार से विज्ञान के अभ्युदय से धार्मिक जीवन से जुड़ी अनेक अप्रासंगिक एवं अनावश्यक बातें स्वतः छंट गयी और वैज्ञानिक क्रांति ने धर्म को विशेष रूप से उसके चिन्तन के क्षेत्र एवं सत्ता को प्रभावित किया।

डॉ. अम्बेडकर का राजनीतिक चिन्तन

अम्बेडकर की उच्च शिक्षा पाश्चात्य समाज में हुई थी, फलतः उनका राजनैतिक चिन्तन उससे अप्रभावित नहीं रहा। वे कांग्रेस को सवर्णों की पार्टी मानते थे और उन्हें कांग्रेस के उद्देश्य और नीतियों पर विश्वास नहीं था। उसलिये उन्होंने कांग्रेस के साथ कभी भी स्वतन्त्रता आंदोलन में हिस्सा नहीं लिया। यहाँ तक खादी का भी मजाक उन्होंने उडाया और हमेशायहीकोशिश रही कि दलितों के लिये अंग्रेजी हुकूमत से कुछ हासिल किया जा सके।

उनका संघर्ष आत्म सम्मान का था। वे हरिजन नेता की भूमिका के रूप में बड़े कटु थे। उनकी राजनीति शुद्ध रूप से दलित राजनीति थी। उनके लिये दलित प्रश्न सर्वप्रमुख था किन्तु इसका आशय यह कत्तई नहीं है कि अम्बेडकर दलित भारत की स्थापना करना चाहते थे। वह सिर्फ दलित मुक्ति चाहते थे। वे दलितों के लिये जिये और दलितों के लिये मरे। उनकी इस एकांगिता में उनकी गहरी प्रतिबद्धता दिखाई पड़ती है।

अम्बेडकर लोकतन्त्र में विश्वास रखते थे और उनका मानना था कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था से ही सामाजिक समानता आ सकती है किन्तु हिन्दुस्तान में जहाँ तक बड़ी संख्या को अछूत समझा जाता है, लोकतान्त्रिक मूल्य बेमानी हो जाते हैं। अतः उनकी सबसे बड़ी चिन्ता थी अछूतों को अधिकार दिलाना। और यही वजह थी कि उन्होंने दलितों के लिये पृथक प्रतिनिधित्व की बात की। उनका विचार ताकि दलित वर्ग के लिए जनसंख्या के आधार पर पृथक निर्वाचन मंडल की

व्यवस्था होनी चाहिये। पं. मोतीलाल नेहरू ने इसका कड़ा प्रतिरोध किया और इसे देश के लिये हानिप्रद कहा। महात्मा गाँधी भी अम्बेडकर के इस विचार से सहमत नहीं थे कि पृथक निर्वाचन की बात की जाय। उनका मानना था कि इससे स्वतन्त्रता-उपलब्धि में अनेक कठिनाई होगी। लेकिन अम्बेडकर का मानना था कि कांग्रेस सत्ता के लिये जितनी चिंतित है उतनी अपने उद्देश्यों या सिद्धान्तों के लिये नहीं।

20 अगस्त, 1932 को जब ब्रिटिश प्रीमियर ने दलितों के लिये प्रांतीय विधानसभाओं में 71 विशेष स्थानों की घोषणा की, तब कांग्रेस और गाँधी जी को गहरा धक्का लगा और डॉ. अम्बेडकर के साथ 1932 में हुए प्रसिद्ध विवाद कि, 'हरिजन संयुक्त मतदाता सूची में रहे या स्वतन्त्र सूची में' के मसले पर गाँधी ने भारतीय समाज की संरचना का हवाला देते हुए कहा कि जो लोग संघर्ष की वकालत गाँवों के द्विस्तरीय विभाजन के आधार पर कर रहे हैं, उन्हें अपने देश की पहचान नहीं है। किन्तु इस राजनीतिक तनातनी से अम्बेडकर तनिक भी विचलित नहीं हुए और दलितों की पैरवी करते रहे।

1930-31 में अम्बेडकर ने खुलेआम कहना शुरु कर दिया कि दलित वर्ग के लिये 'हिन्दू' नहीं है। उन्हें 'अवर्ण हिन्दू' या 'प्रोटेस्टेन्ट हिन्दू' या 'नान कनफौर्मिस्ट हिन्दू' कोई भी नाम दिया जा सकता है। उनका मानन था कि दलितों की अस्मिता को नष्ट कर देने के लिए सवर्ण अत्यन्त चालाकी से उन्हें भाई कहते हैं। द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर अम्बेडकर ने पृथक प्रतिनिधित्व की वकालत की और कहा कि हर अल्पसंख्यक समुदाय को जनसंख्या के आधार पर पृथक प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये। गाँधी जी ने स्पष्टतः इसका विरोध किया।

प्रश्न यह उठता है कि क्या अम्बेडकर के व्यक्तिगत जीवन की कड़ुवाहट ने राष्ट्रहित को भुला दिया था? क्या वे वाकई दलितों का उत्थान चाहते थे या उन्हें और बदतर दशा में पहुँचा देना चाहते थे। अम्बेडकर का मानना था कि, ''हमने पृथक निर्वाचन मंडल की माँग करके, हिन्दू समाज का अहित नहीं सोचा है। हमने यह रास्ता इसलिये अपनाया है कि अपना भाग्य निर्धारित करने में हमें सवर्ण हिन्दुओं की कृपा पर निर्भर न रहना पड़े। ''

यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अम्बेडकर हरिजन नेता की भूमिका में यद्यपि बड़े कटु थे, किन्तु वे पूर्णतः राष्ट्रवादी थे। किन्तु उनके दृष्टिकोण से भारतीय समाज की अमानवीयता और अन्याय विदेशी शासन के अपमान से भी बदतर है। वे भी भारत में ब्रिटिश शासन का खात्मा चाहते थे, किन्तु वे वायसराय की उस कार्यपालिका समिति के सदस्य भी थे जो 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के दमनर्थ ब्रिटिश राज द्वारा किये गये निर्णयों का समर्थन भी कर रहे थे, अतः उनकी धारणा बन चुकी थी कि ब्रिटिश राज्य की तत्काल समाप्ति से दलितों के हित भी खतरे में पड़ जायेंगे।

महात्मा गाँधी ने ऐसे समय में अछूतों के मौलिक हित की बात की और कहा कि भारत की आजादी की खातिर भी इन हितों की तिलांजलि नहीं दी जा सकती। गाँधी हिन्दू समाज के विघटन से त्रस्त थे और उन्होने और उन्होंने सरकार को चेतावनी दी कि यदि सम्प्रादयिक पंचाट वापस न लिया गया तो वे आमरण अनशन कर देंगे। गाँधजी की यह चेतावनी अम्बेडकर को पाखण्ड लगी। जब 8 सितम्बर, 1932 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने पंचाट के अपने फैसले को वापस लेने की मनाही कर दी तो गांधी ने 20 सितम्बर से अपना आमरण अनशन प्रारम्भ कर दिया और कहा, ' यदि सामूहिक हिन्दू भावना अस्पृश्यता को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिये सार्वजनिक तौर पर तैयार नहीं है तो उसे बेशक और बिना झिझक मेरी कुर्बानी दे देनी चाहिये।

उधर अम्बेडकर भी अपने सिद्धान्त पर अड़े थे और इस दुर्भाग्यपूर्ण एवं तनावजनित स्थिति से निपटने के लिये पं. मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में एक बैठक हुई जिसमें डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, ठक्कर बापा, सी.डी. देशमुख, सावरकर, कमला नेहरू, सी.गिड़वानी, तेज बहादुर सप्रू, डॉ. अम्बेडकर, डॉ. मुंजे और डॉ. सोलंकी सम्मिलित हुए। तेज बहादुर सप्रू ने प्रस्ताव सुझाया जिस पर डॉ. अम्बेडकर, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, राजगोपालाचारी ने सहमति व्यक्त की और पूना जेल में डॉ. अम्बेडकर ने गाँधी से उदास आवाज में स्थिति का खुलासा किया, 'यदि आप हम अछूतों के उत्थान के लिये अपने आप को पूरे तौर पर समर्पित कर दें तो हमारे भी नेता हो सकते हैं।'

अन्ततः अनवरत् द्वन्द्व के बीच 1952 में डॉ. अम्बेडकर ने 'पूना पैक्ट' पर सहमति दी और सवर्णों की ओर से मालवीय तथा दलितों की ओर से अम्बेडकर ने पैक्ट पर हस्ताक्षर किये जिसके चलते ब्रिटिश राज द्वारा मुहैया करायी गयी 'स्वतन्त्र अनुसूचित मतदाता सूची' समाप्त हुई थी, किन्तु अनुसूचित जातियों को विधान पालिका ने दो गुनी सीटें मिली थीं। अम्बेडकर ने पूना पैक्ट पर हस्ताक्षर तो कर दिया किन्तु उनके मस्तिष्क से पृथक निर्वाचन की बात हटी नहीं और कुछ ही दिनों बाद पुनः साम्प्रदायिक पंचाट की मांग करने लगे और भयंकर विष भी उगलने लगे, 'अल्प संख्यक विस्फोट तत्व होते हैं अगर वे किसी दिन फट पड़े तो सरकार की धज्जियाँ उड़ा सकते हैं।'

अम्बेडकर की राजनीतिक महत्वाकांक्षा भी थी, उन्होंने 'इन्डिपेन्डेन्ट लेबर पार्टी' की स्थापना कर राजनीति क्षेत्र में अपनी सक्रिय भागीदारी निभाने की कोशिश की। उन्होंने दलित शब्द को थोडा व्यापक आधार देने के लिये अपनी पार्टी के उद्देश्यों की चर्चा करते हुए कहा, 'यह पार्टी श्रमिकों का संगठन है। क्योंकि इसका कार्यक्रम मुख्यतः श्रमिक वर्ग का कल्याण है। इसलिये 'दलित' के स्थान पर 'श्रमिक' शब्द को रखा है, श्रमिकों में दलित भी शामिल है।

धीरे-धीरे अम्बेडकर का झुकाव समाजवादी विचारधारा की ओर गया और साम्यवादियों से भी उन्होंने औद्योगिक बिल का विरोध करने के लिये समझौता किया किन्तु इसका आशय यह नहीं है कि वे साम्यवाद के प्रति कोई रूझान रखते थे।

कांग्रेस के वे कटु आलोचक हो गये और 1939 में तो जिन्ना के साथ 'मुक्ति दिवस' में सम्मिलित हुए। ज्ञातव्य है कि 1942 में गाँधी जी के 'भारत छोड़ो आन्दोल' को अम्बेडकर ने एक 'मूर्खतापूर्ण कदम' बताया और कहा कि इस आंदोलन को चलाने वाले राजनैतिक रूप से अपरिपक्व हैं। फलतः अम्बेडकर को लोग शंका की दृष्टि से देखने लगे।

अम्बेडकर ने 'इंडिपेन्डेन्ट लेबर पार्टी' को दूसरा नाम कर दिया, 'शिड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन' किन्तु 1946 में उनकी पार्टी की करारी हार हुई और यह नाम उन्हें नहीं जँचा। 1951 में 'हिन्दू कोड बिल' पर नेहरू एवं पटेल से मतभेद होने पर अम्बेडकर को त्याग पत्र देना पड़ा। ज्ञातव्य है कि नेहरू ने अपने मंत्रिमण्डल में दलित वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में उन्हें कानून मंत्री रखा था। नेहरू एवं अम्बेडकर का मतभेद गहराता गया और यहीं से अम्बेडकर की राजनीतिक जीवन की सक्रियता भी एक प्रकार से समाप्त हो गयी।

कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि अम्बेडकर की राजनीतिक भूमिका क्या स्वतन्त्रता प्राप्ति के मार्ग में बाधक रही? और क्या संकीर्ण वर्ग भेद के दायरे में उनकी राजनीतिक गतिविधियाँ हलचल करती रहीं? अम्बेडकर स्वाधीनता के पक्षधर थे, किन्तु वे अछूतोद्धार की समस्या को विशेष महत्व देते थे। उनका मूलोद्देश्य भारत की स्वतन्त्रता नहीं, दलितोद्धार था। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि स्वतंत्रता के इतिहास में उनका कोई योगदान नहीं था। अछूतोद्धार की समस्या भी उस समय विकराल थी और कम से कम एक समस्या से वे ईमानदारी के साथ लड़े। अम्बेडकर को राष्ट्रहित के विरूद्ध सोचने वाले संकीर्ण दायरे से उनका मूल्यांकन करते हैं। सामाजिक समानता किसी भी राष्ट्रीय हित की धुरी है। अम्बेडकर ने दलितों के उत्थान को जो विशेष महत्व दिया उसका मुख्य उद्देश्य सामाजिक समानता ही थी। ठीक है कि अपने कार्यक्रम को व्यापक राष्ट्रहित से वे दूर रखे, किन्तु उनकी निष्ठा पर संदेह नहीं किया जा सकता है।

यह स्वीकार करने में ऐतराज नहीं होना चाहिये, किसी को भी, कि असवर्णों के साथ उच्च वर्ग के लोगों ने अत्याचार किये हैं। ऐसे में सवर्ण विरोधी रूख अपनाकर अम्बेडकर ने कोई गलती नहीं की, वर्ग विशेष की अवहेलना तो इसमें होनी ही थी। हाँ, इतना अवश्य है कि जिस महान आदर्श की प्राप्ति के लिये वे संघर्षरत रहे, कदाचित् संकीर्णता का परित्याग कर देते, तो निश्चित रूप से उन्हें महत्वपूर्ण सफलता उपलब्ध होती और सामाजिक न्याया का सही और संतुलित स्वरूप सबके समक्ष आता। अम्बेडकर की विद्वता, कर्मठता पर प्रश्न चिन्ह लगाना सत्य से मुँह-मोडना होगा। उनकी सोच की अपनी सीमायें रहीं जिसके आगे उनकी व्यक्तिगत जीवन की भोगी हुई पीड़ा आकर खड़ी हो जाती है- जिसकी वे उपेक्षा भला कैसे कर पाते। यही वजह थी कि अछूतोद्धार के काम में उन्होंने अपना सर्वस्व लगा दिया और ईमानदारी से।

एक बात यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यदि अम्बेडकर के पास अछूतों/दलितों की सामाजिक लड़ाई का मामला नहीं होता तो शायद वे सक्रिय राजनीति में पदार्पण ही नहीं करते। वे दलितों को अधिकार दिलाना चाहते थे। वे जानते थे कि बिना सक्रिय राजनीतिक भागीदारी के वे अपने सामाजिक एकता के आदर्श को प्राप्त करनें सफल नहीं हो सकते। और जैसा कि हम देखते हैं राजनीतिक निष्क्रियता के साथ ही उनके विरोधियों की संख्या बढ़ गयी। राजनीति में अछूतों की हिस्सेदारी की बात बिलकुल सही थी और इसके लिये पृथक निर्वाचन मंडल से ही यह सम्भव था। चूँकि मुस्लिम सम्प्रदाय को अल्पसंख्यक मानकर पृथक मुसलमानों के साथ जो बात थी और जो बात उनकी मानी गयी उसके पीछे दो राष्ट्र सिद्धान्त की बात प्रमुख थी। किन्तु अछूत हमेशा हिन्दू समाज का अभिन्न अंग रहा है, उसे अल्पसंख्यक की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। अम्बेडकर ने शायद यह महसूस नहीं किया कि अछूतवर्ग की पृथक निर्वाचन मंडल की व्याख्या से देश का एक और टुकड़ा हो सकता है, लेकिन अम्बेडकर दूरदर्शी थे। वे राष्ट्रीयता के आधार पर अछूतिस्तान की माँग नहीं कर रहे थे। सत्य तो यह है कि उनका विश्वास हिन्दुओं से उठ गया था और इस कदर उठ गया था कि वे 'हिन्दू' शब्द से नफरत करने लगे थे। 'अवर्ण हिन्दू', 'नान कानफार्मिस्ट हिन्दू' या 'प्रोटेस्टेन्ट हिन्दू' जैसे अतार्किक एवं अनुचित शब्दों से पुकारा जाना वे बेहतर समझते थे, किन्तु अम्बेडकर की यह सोच घातक थी-अलगाववादी प्रवृत्ति को जन्म दने वाली। अस्पृश्यता निरारण के लिय शिक्षा आवश्यक है, इसी से अस्पृश्यता समाप्त होगी और सामाजिक समानता भी उत्पन्न होगी। साम्प्रदायिकता और

जातिवाद दोनो ही विषवमन करते हैं और समाज को यदि जिन्दा रखना है तो इनसे बचना होगा। अगर अम्बेडकर की बात, किसी भी कारण के उस समय मान ली गयी होती तो निःसंदेह हिन्दुस्तान का एक टुकड़ा और हो जाता।

अम्बेडकर द्वारा पृथक निर्वाचन मंडल का सिद्धान्त कत्तई स्वीकार्य नहीं था और न ही व्यावहारिक। हाँ, अस्पृश्यता निवारण के लिये जो उन्होंने संघर्ष किया, विभिन्न त्रुटियों के बावजूद भी वे समयानुकूल थे।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि अम्बेडकर की जाति के लोगों ने ही उनकी सक्रिय राजनीति में उनका साथ नहीं दिया था। उन्होंने जिस पार्टी को गठित किया किन्तु कोई विशेष सफलता हासिल न कर सके। स्वराज्य के सवाल पर उनके अपने ही नेताओँ से मतभेद थे। क्योंकि अम्बेडकर की इच्छा थी कि जब तक दलितों की समस्याओं का कोई समुचित निदान न हो जाय तब तक स्वराज्य की बात छोड़ दी जाय किन्तु उनके इस प्रस्ताव को किसी ने भी पसन्द नहीं किया और वे अलग-थलग पड़ गये। यहीं नहीं जिन्ना के साथ मिलकर उन्होंने 'भारत छोड़ो आन्दोलन' को 'बकवास' भी कहा था, जिससे उनके सहयोगी उनसे नाराज हो गये और देश के अन्दर वैमनस्य की भावना फैलाने वाला उनको मान लिया गया।

यह सर्वविदित तथ्य है कि अम्बेडकर ने सर्वदा ही कांग्रेस की निंदा की। किन्तु स्वतन्त्र भारत के प्रथम मंत्रिमण्डल में कानून मंत्री का पद लेने में हिचके नहीं। यह बात और है कि सरदार पटेल से असमति होने पर मंत्रिमडल से उन्होंने त्याग पत्र दे दिया, किन्तु वे त्यागपत्र यदि न देते तो शायद उनकी सक्रिय भूमिका मजदूरों, दलितों एवं अछूतों की समस्याओं को उजागर करने में और समर्थ होती। और शायद जिस लक्ष्य को लेकर चले थे, उसकी प्राप्ति करने में भी सहायक होते।

स्पष्ट है कि अम्बेडकर अपनी भूमिका में सर्वथा अकेले पड़ गये। यदि अपेक्षित धैर्य रखते तो सक्रिय और प्रभावी तरीके से अपने ध्येय को प्राप्त कर लेते, ऐसा कई चिन्तकों का विश्वास है, क्योंकि उस व्यक्ति में अभूतपूर्व कर्मठता एवं ईमानदारी थी। उनकी समस्त गतिविधियों का केन्द्र बिन्दु 'अछूतोद्धार' रह गया और यह कार्यक्रम कांग्रेस ने भी अपने पास रखा था।

अम्बेडकर का मानना था कि अछूत के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि वह यथासंभव अधिक से अधिक राजनीतिक शक्ति अर्जित करें। अम्बेडकर त्वरित निदान चाहते थे और यह जानते हुए भी कि इस विकृति का निदान केवल राजनीति से नहीं हो सकता है, उसके लिये समाज में स्वतः स्फूर्त बदलाव की भी आवश्यकता है।

अम्बेडकर के राजनीतिक चिन्तन के अन्य पहलू

अम्बेडकर ने राज्य की परिकल्पना मनुष्यों के एक राजनैतिक संगठन के रूप में की है जिसके पास अपनी विधायिका, कार्यपालिका और अपना प्रशासन तत्व होता है। वे राज्य मानव लक्ष्यों की प्राप्ति और बेहतर समाज की स्थापना का एक साधन है। चूँकि व्यक्ति ने राज्य की रचना की है अतः राज्य का यह कर्तव्य है कि वह व्यक्ति कीस्वतन्त्रता और नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा करे तथा उसके सम्मान एवं गरिमा को बनाये रखे।

अम्बेडकर कल्याणकारी राज्य के पक्षधर थे और आनुवांशिक शासन परम्परा के विरूद्ध थे। उनकी दृष्टि में लोकतन्त्र की सफलता के लिये आवश्यक है कि लोग सार्वजनिक महत्व के विषयों एवं निर्णयों पर तर्क से काम लें। शुरू-शुरु में अम्बेडकर तानाशाही के पक्षधर थे। उनका कहना था कि 'सामाजिक और धार्मिक विषयों में लोकतान्त्रिक तरीके से परिवर्तन लाना कठिन है। अतः इसके लिये कमाल पाशा या मुसोलिनी जैसे तानाशाह की भारत को जरूरत होगी।'

बाद में अम्बेडकर के विचार बदल गये और उन्होंने लोकतन्त्र का समर्थन किया। और कहा कि प्रजातन्त्र मुख्यतः श्रेयस्कर इसलिये है कि यह व्यक्ति के विकास के पूर्ण अवसर प्रदान करता है। उनके अनुसार विरोध के अभाव में कोई लोकतन्त्र कार्य नहीं कर सकता। स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनाव संसदीय जनतन्त्र का प्रमुख आधार है।

लोकतन्त्र में विधायिका के महत्व को स्वीकार करते हुए अम्बेडकर ने कहा है कि कानून का वास्तविक कार्य समाज की त्रुटियों को दूर करना है। ब्रिटिश संसदीय प्रणाली के अनुरूप उन्होंनें भारत के कार्यकारिणी के गठन का प्रावधान किया। उनका मानना था कि न्यायपालिका ही व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है और उन्हें संविधान द्वारा स्थापित सीमाओं के भीतर बांधकर रखती है।

डॉ. अम्बेडकर स्वतन्त्र न्यायपालिका की केवल स्थापना के पक्षधर नहीं थे वरन न्यायपालिका को व्यापक अधिकार दिये जाने के भी हिमायती थे।

अम्बेडकर का मानना था कि समाज में अधिक विषमता लोकतन्त्र के लिये दुखद है। यदि समाज में कोई उत्पीड़क वर्ग है और कोई पीड़ित वर्ग तो ऐसी स्थिति में लोकतन्त्र का प्रभावी होना कठिन है।

संसदीय लोकतन्त्र में राजनैतिक दलों की अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि राजनैतिक दल जनमत की अभिव्यक्ति एवं उसके क्रियान्वयन के अभिकरण हैं। उनका मानना है कि लोकतन्त्र की सफलता के लिये कम से कम दो दलों का होना अनिवार्य है। विरोध का सशक्त होना आवश्यक है।

अम्बेडकर का कहना है कि गाँवों में दलितों के साथ होने वाले अन्याय और अत्याचार के विरूद्ध यदि दलित एवं सवर्ण आवाज नहीं उठाते तो इससे दलितों और सवर्णों के बीच धीरे-धीरे दूरियाँ बढ़ेंगी और दलितों के मन में असंतोष घर करने लगेगा। यह असंतोष आगे चलकर विद्रोह का रूप ग्रहण कर सकता है। यदि ऐसा होता है तो यह लोकतन्त्र के लिए अत्यधिक अहितकर होगा। डॉ. अम्बेडकर सत्ता के विकेन्द्रीकरण के खिलाफ थे। उनका मानना था कि एक विशाल एवं वैविध्य भरे देश में प्रभावकारी शासन की स्थापना के लिये राज्यों के पास राजनैतिक सत्ता का हस्तातंरण आवश्यक है परन्तु मजबूत एवं संगठित केन्द्र को अधिक अधिकार प्रदान किया जाना चाहिए।

अम्बेडकर को ग्राम पंचायत पर भरोसा नहीं था। यही कारण था कि उन्होंने ग्राम पंचायत को अन्य स्थानीय निकायों के साथ नौवीं अनुसूची में रखा। उनका मानना था कि ग्राम पंचायतों दलितों एवं कमजोर पर अत्याचार करती है क्योंकि इसमें वर्चस्व सवर्ण जाति का होता है।

भाषा के सवाल पर अम्बेडकर ने कहा कि एक भाषा लोगों को संयुक्त करती है, दो भाषायें उन्हें बाँटती है। भारतीय, चूँकि परस्पर संयुक्त होना चाहते हैं और एक सामान्य संस्कृति विकसित कनरा चाहते हैं, इसलिये यह सभी भारतीयों का अनिवार्य कर्तव्य है कि वे हिन्दी को अपनी भाषा के रूप में स्वीकार करें। यदि कोई भारतीय एक भाषा के नियम को स्वीकार नहीं करता तो उसे अपने को भारतीय कहने का कोई अधिकार नहीं है।''

ज्ञातव्य है कि अम्बेडकर ने भाषायी आधार पर राज्यों के गठन को अंगीकृत किया परन्तु किसी राज्य की भाषा को वहां की राजभाषा बनाये जाने का उन्होंने सशक्त विरोध किया। उनके अनुसार भाषायी राज्यों का गठन हो किन्तु सभी राज्यों की राजभाषा अर्थात् सरकारी काम-काम की भाषा हिन्दी हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अम्बेडकर का राजनीतिक चिन्तन मानवीय मूल्यों की गरिमा एवं सम्मान की रक्षा का पोषक है। वे एक आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्य की अवधारणा रखते थे। वे नागरिक समानता पर आधारित जनतन्त्र के पुरोधा थे और इस मामले में नेहरू के काफी नजदीक थे।

विधिवेत्ता अम्बेडकर के संवैधानिक विचार

अम्बेडकर की उच्च शिक्षा विदेशों में हुई। बार-एट-लॉ की परीक्षा पास करने के पश्चात् उन्होंने बम्बई में कुछ दिनों तक वकालत भी किया। बाद में गवर्नमेंट लॉ कालेज में प्राचार्य नियुक्त हुए। उनकी प्रतिभा विधि के क्षेत्र में अपूर्व थी। कानून एवं संविधान सम्बन्धी पेचीदे सवालों का जवाब सहज वैज्ञानिक तरीके से वे प्रस्तुत करने में समर्थ हस्ताक्षर थे।

अम्बेडकर ने असपृश्यता निवारण तथा दलितों को वैधानिक अधिकार एवं संरक्षण प्रदान किये जाने के प्रश्न पर अपने संवैधानिक विचारों से सभी को प्रभावित किया था। भारत के किये जाने के प्रश्न पर अपने संवैधानिक विचारों से सभी को प्रभावित किया था। भारत के कोटि-कोटि दलितों, शोषितों को निर्योग्यताओं, सामाजिक उत्पीड़नों से मुक्ति दिलाना उनका लक्ष्य था। नौकरी छोड़कर अम्बेडकर ने वकालत का पेशा चुना ही इसलिये था कि वहाँ काम करने की आजादी थी और दलितों के वैधानिक अधिकारों की पैरवी करने की सहूलियत थी।

यह सर्वविदित तथ्य है कि अम्बेडकर कांग्रेस एवं गांधी के मुखर विरोधी थे किन्तु समय के साथ लोगों की भ्रांति दूर हुई। उनके द्वारा राष्ट्रीय महत्व के मुद्दों पर कांग्रेस के साथ सहमति एवं विधान सभा में रचनात्मक सहयोग को दृष्टिगत रखते हुए अतीत के मतभेद भुला दिये गये और 3 अगस्त, 1947 को स्वतन्त्र भारत के कैबिनेट मन्त्री बनाये गये और 15 अगस्त, 1947 को देश के आजाद होने पर नेहरू मंत्रिमण्डल में देश के प्रथम कानून मंत्री बने।

राष्ट्रीय संविधान के निर्माण का गुरुतर दायित्व अम्बेडकर को सौंपा गया। सात सदस्यीय समिति के अध्यक्ष डॉ. भीमराव अम्बेडकर थे। एन.गोपाल स्वामी अय्यर, सैयद मोहम्मद सईदुल्ला, अल्लादी, कृष्णा स्वामी अय्यर, के.एम. मुंशी, बी.एल. मित्तर तथा डी.पी. खेतान इसके सदस्य थे। ध्यात्व्य है कि पं. नेहरू ने संविधान निर्माण के लिये आइवर जेनिंग्स का नाम सुझाया था किन्तु गाँधी ने नेहरू के सुझाव को अनसुना करते हुए कहा कि मैं एक भारतीय संविधान विज्ञ-भीमराव अम्बेडकर का नाम सुझाता हूँ। अपनी पुस्तक 'ह्वाट कांग्रेस एण्ड गाँधी हैव इन टू द अनटचेवल्स' में कहा है कि, 'संविधान का उद्देश्य स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व के सिद्धान्तों पर आधारित एक नयी सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था की

स्थापना करना है जिसमें सत्ता पर किसी वर्ग विशेष का सदा आधिपत्य नहीं बना रहे। प्रत्यक्ष रूप से संविदान का उद्देश्य अपने सभी नागरिकों के लिये सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता तथा व्यक्ति की गरिमा एवं राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता सुरक्षित करना है।

नेहरू की कार्यपद्धति से असंतुष्ट होकर अम्बेडकर ने मन्त्रिमंडल से त्याग पत्र दे दिया था। अम्बेडकर ने ही हिन्दू कोड बिल का प्रारूप तैयार किया था जिसका उद्देश्य था हिन्दू स्त्रियों को कुछ विशेष अधिकार मुहैया कराना। इस बिल का घोर विरोध हुआ। जिसमें प्रमुख थे सरदार पटेल। अम्बेडकर का कहना था कि बिल का तात्पर्य है सारे हिन्दुओं के लिये एक ही कोड। किन्तु इस बिल ने संसद और संसद के बाहर तीव्र प्रतिक्रियायें उत्पन्न कीं। विरोध का परिणाम यह हुआ कि बिल की कई महत्वपूर्ण धारायें निरस्त करनी पड़ी।इससे अम्बेडकर को दुःख एवं निराशा हुई। वे अपने को असफल देश, त्याग पत्र देना ही उत्तम समझा। 1952 के चुनाव में उन्हें पराजय का मुँह देखना पड़ा।

भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप अम्बेडकर ने संविधान की रूपरेखा तैयार की थी। अछूतोद्धार के उद्देश्य को सफलता प्रदान करने हेतु उन्हें बेहतर अवसर मिला था। कतिपय लोगों ने उन्हें 'आधुनिक मनु' की संज्ञा दी है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने जो संविधान का प्रारूप तैयार किया वह पूर्णतया मनुस्मृति के विपरीत है। भारतीय संविधान में अपनी अमिट छाप अम्बेडकर ने संविधान में समानता, स्वतन्त्रता, केन्द्रीकृत सरकार एवं धर्म निरपेक्षता के तत्वों का समावेश करके इसे विशेष महत्व का बना दिया। सविधान निर्माता के रूप में उनकी भूमिका सराहनीय रही।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के महत्व पर प्रकाश डालते हुए अम्बेडकर ने लिखा है कि संविधौनिक उपचार के अधिकार को वे विशेष महत्व देते हैं, ''यदि कोई मुझसे यह पूछे कि संविधान का वह कौन सा अनुच्छेद है, जिसके बिना संविधान शून्य प्रायः हो जायेगा, तो मैं इस अनुच्छेद को छोड़कर और किसी अनुच्छेद की ओर संकेत नहीं कर सकता। यह तो संविदान का हृदय और आत्मा है। मुझे इस बात की बहुत प्रसन्नता है कि सदन ने इसके महत्व को समझा है। भविष्य में कोई संसद इस अनुच्छेद में अकिंत लेखों को छीन नहीं सकती, क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय की लेखादि निकालने की शक्ति, संसद की इच्छा से बनायी गयी किसी विधि पर आधारित नहीं, वरन् संविधान के द्वारा ही छीना जा सकता है। संवैधानिक संशोधन करने की विधि, संविधान द्वारा निर्धारित है, मेरे विचार में यह व्यक्ति की सुरक्षा का सबसे महत्वपूर्ण प्रमाण है।''

राजनैतिक सत्ता के केन्द्रीकरण के पक्ष में उनका कहना था कि भारत जैसे विशाल देश में शक्ति का बँटवारा तो आवश्यक है किन्तु कसी भी परिस्थिति में केन्द्र का सबल होना अनिवार्य है।

धर्मनिरपेक्षता की व्याख्या करते हुए अम्बेडकर ने कहा कि, ''धर्म निरपेक्ष राज्य का यह अर्थ नहीं है कि हम लोगों की धार्मिक भावनाओं की ओर ध्यान नहीं देंगें। इसका अर्थ केवल इतना है कि यह संसद, देश के लोगों पर कोई विशेष धर्म लादने का अधिकार नहीं रखती है। यही एक परिसीमा, संविधान-स्वीकार करता है।'' उनका धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त पाश्चात्य उदारवादी चिन्तन से अनुप्राणित है। उनका स्पष्ट कहना था कि धर्म निरपेक्षता अधार्मिकता के सिद्धान्त पर आधारित नहीं है, इसका तो एकमात्र अर्थ है सभी धर्मों का आदर करना। प्रत्येक व्यक्ति को आजादी है कि वह जिस धर्म को चाहे, उसे माने। आरक्षण के प्रश्न पर भी संविधान सभा की प्रारूप समिति में पर्याप्त विवाद हुआ था। अम्बेडकर ने भी स्वीकार किया कि आरक्षण गलत चीज है किंतु भारत की परिस्थितियों में सामाजिक समानता एवं सामाजिक न्याय को प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक भी है।उनका मानना था कि हिन्दुस्तान की गरीबी जातिगत है अतः अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिये आरक्षण की सुविधा देना आवश्यक है। कुछ लोगों का विचार था कि आरक्षण से लोकतन्त्र अमर्यादित होगा और समानता के सिद्धान्त का मखौल उड़ेगा। अतः संविधान में विकल्प स्वरूप कुछ ऐसी व्यवस्था रहनी चाहिये कि कमजोर वर्ग के लोगों को प्रगति के लिए सुअवसर उपलब्ध हो सके।

भारतीय संविधान के निर्माता के रूप में अम्बेडकर ने जो कार्य किया, निश्चित रूप से वह सराहनीय है और उनकी बौद्धिक क्षमता का सानी ढूँढना कठिन है।जीवन पर्यन्त कांग्रेस का विरोध करने वाले अम्बेडकर विधिवेत्ता के रूप में कहीं पूर्वाग्रह के शिकार नहीं हुए और न ही अपनी जातिगत भावनाओं को हावी होने दिया। एक बात तो अम्बेडकर ने स्वयं कहा - 'यह कांग्रेस पार्टी के अनुशासन का प्रमाण था कि एसेम्बली में संविधान का मसौदा तैयार हो सका। हर कानून और उसकी हर धारा पर समुचित विचार हो सका। संविधान का मसौदा इतनी सुघड़ता से तैयार किये जाने का श्रेय कांग्रेस पार्टी को ही जाता है।'

ऐसा प्रतीत होता है कि जो अम्बेडकर कांग्रेस को ब्रह्मणों की पार्टी मानते थे और गाँधी को पाखण्डी, संविधान निर्मात्री सभा के अध्यक्ष बन जाने पर शायद उन्हें लगा कि उनकी धारणायें निर्मूल रहीं। अम्बेडकर का मानना था कि किसी राज्य या राष्ट्र का कोई धर्म नहीं होता है। धर्म व्यक्ति का होता है। अतः राज्य को धर्म निरपेक्ष होना चाहिये। उन्होंने सामाजिक एकता को स्वीकार किया। उनका मानना था कि व्यक्ति को अधार्मिक नहीं होना चाहिये। अम्बेडकर एक ऐसे महान व्यक्ति थे जो भारतीय समाज के कल्याण की बात सोचते थे। स्वतन्त्रता के पश्चात् दलित वर्ग सम्बन्धी उनकी धारणायें संयत हो गयी।

गाँधीवाद बनाम अम्बेडकरवाद

गाँधी और अम्बेडकर क्या एक दूसरे के विरोधी थे अथवा पूरक? यह बहस निरर्थक हो सकती है किन्तु एक सार्थक उत्तर की अपेक्षा जरूर रखती है। इस बात से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता है कि दोनों को लेकर ढेर सारे सवाल आज उठ खड़े हैं। गाँधी और अम्बेडकर के बीच विचारधारात्मक अन्तर्विरोध थे, किन्तु गाँधी को केवल सनातनी हिन्दू बताकर और अम्बेडकर को मात्र एक दलित नेता कह कर बेबुनियाद भ्रम एवं मान्यता की प्रस्थापना उचित नहीं होगी. महात्मा गाँधी ने कहा था, जो धर्मशास्त्र अछूत व्यवस्था को बनाये रखना चाहते हैं उन्हें मैं स्वीकार नहीं कर सकता। अम्बेडकर के आन्दोलन का प्रमुख मुद्दा दलित समुदाय को दबी-कुचली जिन्दगी से उबारना आवश्यक था, किन्तु उन्हें समूचे राष्ट्र की चिन्ता थी। 5 फरवरी, 1950 को सदन को सम्बोधित करते हुए उन्होंने चेतावनी दी थी कि भारत शताब्दियों के बाद स्वतन्त्र हुआ है, स्वराज्य की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। भारत में किसी भी प्रकार की फूट हमारा स्वराज्य छीन लेगी।

दलित समस्या से चिन्तित दोनों थे किन्तु दोनो के बीच विचारधारात्मक स्तर पर कुछ मूलभूत मत-वैभिन्य भी था। गाँधी भारत के गाँवो को भारतीय सभ्यता और संस्कृति की आत्मा मानते थे, अम्बेडकर गाँवों में स्थापित व्यवस्था को दलितों के हितों के विरूद्ध मानते थे।

परम्पारिक जातिगत वंशानुगत पेशों की गरिमा बढ़ाने के गाँधी पक्षधर थे। शारीरिक श्रम को वे महत्व देते थे। किन्तु अम्बेडकर जाति आधारित वंशानुगत पेशे को खत्म करना चाहते थे। अंबेडकर ने इस पर अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लिखा है कि ''महात्मा जन्म से बनिया है। उनके पूर्वजों ने मंत्री पद पाने के लिये व्यापार करना छोड़ दिया था जो कि ब्राह्मण का पेशा है। अपने जीवन में महात्मा बनने से पहले, जब पेशा चुनने का अवसर आया तो उन्होंने तराजू की बजाय वकालत को प्राथमिकता दी। वकालत का परित्याग कर वह आधे संत और आधे राजनीतिज्ञ बन गये। उन्होंने व्यापार को कभी छुआ तक नहीं, जो उनका पैतृक पेशा है। उनका सबसे छोटा पुत्र जो वैश्य के घर में जन्मा लेकिन उनसे एक ब्राह्मण लड़की से विवाह किया तथा जिसने एक बड़े पूँजीपति के समाचार पत्र में नौकरी को चुना है। ऐसी जानकारी नहीं है कि महात्मा ने पैतृक पेशा न अपनाने के लिये उसकी कभी निन्दा की हो।''

चूँकि अछूत परिवार में अम्बेडकर का जन्म हुआ था, अतः अछूतों के साथ होने वाली अमानवीय यन्त्रणाओं का उन्हें गहरा अनुभव था, जो तिरस्कार, जो उपेक्षायें उन्होंने स्वयं झेली थी, ज्यादतियां वे कभी भुला नहीं पाये। गाँधी एक सवर्ण कुल में जन्में थे, अमानवीयता को वे खत्म करने के पक्षधर थे, किन्तु अझूत रहने एवं अमानवीय ज्यादतियां सहने की पीड़ा उनके पास नहीं थी। और वह हृदय परिवर्तन की बात करते थे जबकि अम्बेडकर अछूतों को संगठित कर अपने हकों के लिये संघर्ष करने का आह्वान कर रहे थे।

गाँधी जी के समक्ष अंग्रेजी शासन का खात्मा प्रमुख लक्ष्य था अतः वे विभिन्न जातियों, समुदायों के बीच एकता के पोषक थे। अम्बेडकर अंग्रेजों के विरूद्ध तो थे किन्तु भारत में व्याप्त जातिप्रथा को खत्म करना उनका प्रमुख लक्ष्य था। जाति प्रथा की सडांध से दलितों को बाहर निकालना चाहते थे।

इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि गाँधी ने हिन्दुस्तान के इतिहास में सर्वप्रथम अछूतों के विरूद्ध होने वाली ज्यादतियों पर रोक लगाने के लिये राष्ट्रीय स्तर पर मुहिम छेड़ा। इस प्रकार ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो गाँधी और अम्बेडकर एक दूसरे के विरोधी नहीं पूरक थे। गाँधी और अम्बेडकर द्वारा प्रतिपादित समाधानों में एकसमानता थी। दोनों ने दलितों की समस्या का हल लोकशाही के भीतर खोजा था।

राज्य के प्रयोग सम्बन्धी अवधारणा गांधी और अम्बेडकर के विपरीत थे और उनके चिन्तन का यह एक महत्वपूर्ण अन्तर है। अम्बेडकर दलितों की समस्याओं का समाधान लोकशाही के दायरे में 'स्टेट' के इस्तेमाल से करना चाहते थे। गाँधी समस्याओं को स्टेट की मदद के बिना हल करने के पक्षधर थे। सामाजिक परिवर्तन के लिये जनता की अधिक से

अधिक हिस्सेदारी और लगाव चाहिये, जिसकी बेहतर तकनीक गाँधी के पास थी, अम्बेडकर के पास नहीं। छुआछूत के विरूद्ध गाँधी की सोच ज्यादा स्थायी है, बनिस्बत डॉ. अम्बेडकर की सोच के। वे सभी ब्राह्मणों को शूद्र बनाना चाहते थे जबकि अम्बेडकर शूद्रों को द्विज बनाना चाह रहे थे। ठीक है गाँधी जी सवर्ण थे किन्तु वे रूढ़िवादी और पोंगापंथी सवर्ण नहीं, उदार एवं प्रगतिशील सवर्ण थे।

अम्बेडकर की विद्वता पर किसी को संदेह नहीं है किन्तु दुखद तथ्य यह रहा कि उन्होंने गाँधी के दलित प्रेम को हमेशा शंका की दृष्टि से देखा और गाँधी के आचरण को 'अन्तर्जातीय पाखण्ड' कहा। अम्बेडकर ने लिखा है कि, 'महात्मा जाति और वर्ग का समर्थन हमेशा क्यों कर रहे हैं, क्योंकि उन्हें डर है कि यदि उन्होंने इसका विरोध किया तो वे राजनीति में अपना स्थान खो देंगे। उनकी भ्रांति का कोई भी कारण हो, महात्मा को यह कह दिया जाना चाहिये कि वह अपने आपको धोखा दे रहे हैं। तथा वर्ग के नाम पर जाति की उपदेश देकर लोगों को धोखा दे रहे हैं।

वास्तव में अम्बेडकर गाँधी के ऊपर शक इसलिये कर रहे थे कि उनसे उनको बहुत अपेक्षा थी, एकमात्र गाँधी ही ऐसे व्यक्ति थे जिनकी बात देश मानता था, कांग्रेस मानती थी, और दलितों का प्रश्न यदि गाँधी प्रमुखता पर रखते तो स्थिति भिन्न होती। परन्तु अम्बेडकर की यह भूल थी। गाँधी के समक्ष उस समय देश का आजाद होना बहुत जरूरी था, हिन्दू-मुस्लिम सौहार्द जरूरी था, खादी और अहिंसा पर वे कोई समझौता करे को तैयार नहीं थे। दलित राजनीति केकारम स्वतन्त्रता संघर्ष में विशेष भागीदारी नहीं की, उनके लिये दलित प्रश्न ही सर्वप्रमुख था और दलितों के प्रति उनकी पीड़ा सच्ची थी। और गाँधी दलित प्रश्न को नम्बर एक पररखकर चले होते तो शायद देश बहुत बाद में स्वतन्त्र होता, दलितों का उद्धार होता या न होता। उन्होंने दलित प्रश्न की कहीं उपेक्षा नहीं की। अस्पृश्यता के विरूद्ध तो उन्होंने जंग ही छेड दी थी।

गाँधी ने कहा, 'अस्पृश्यता के खिलाफ चलाये जाने वाले हमारे आन्दोलन का हिन्दू धर्म को सबल बनाने से कोई सरोकार नहीं है। आपको मेरे इन शब्दों पर विश्वास कर लेना चाहिये कि मैं इस तरह से बिलकुल ही उदासीन हूं कि हिन्दू धर्म सबल हो रहा है या निर्बल, अथवा नष्ट हो रहा है।'

कुछ लोग कहते हैं कि दलितों की समस्या को प्रखर रूप से उठाने की गाँधी की कोशिश नहीं थी किन्तु वे लोग भूल जाते हैं कि जाति-प्रथा रातों रात खत्म नहीं हो जाति। अम्बेडकर को केवल दलितों का उत्थान दिखायी दे रहा था, गाँधी को दलितो के साथ सम्पूर्ण समाज दिखाई दे रहा था, उनके सामने सिर्फ छूआछूत और जाति-प्रथा का ही सवाल नहीं था। वे भारतीय समाज को अंधविश्वासों, रूढ़ियों और नारियों की दासता आदि से मुक्ति दिलाना चाहते थे।

अम्बेडकर ने गाँधी की अलोचना की, वे गांधी के बहुत से गुणों को नहीं देख पाये, लेकिन गाँधी ने कभी अम्बेडकर को दुत्कारा नहीं। उन्होंने तो यहाँ तक कहा- ''डॉ. तुम जन्म से अछूत हो और आई एम बाई एडाप्ट्स (यानि में दत्तक ग्रहण द्वारा अछूत हूँ) हम परस्पर एक और अविभाज्य रहें। मैं हिन्दू समाज के विघटन को रोकने के लिये अपना जीवन उत्सर्ग कर सकता हूँ।'' और 1932 में गाँधी जी ने अम्बेडकर के संदर्भ में लिखा -

''इसमें त्याग शक्ति है। कुर्बानी देने की शक्ति है। यह दावानल तो सुलगेगा ही हिन्दू सच्चे होंगे तो यरवदा समझौते की स्वर्ण भस्म बना सकेंगे नहीं तो चार करोड़ अस्पृश्य सारे हिन्दुस्तान का भक्षण कर जायेंगे।''

अनुसूचित जातियों को गाँधी ने 'हरिजन शब्द से पुकारा था। इस बात में भी सच्चाई है कि डॉ. अम्बेडकर ने इसे कभी पसन्द नहीं किया, बले ही अनुसूचित जाति के लोग अम्बेडकर की विचारणा के विरूद्ध रहे। अम्बेडकर के प्रबल अनुयायी दादा साहब गायकवाड़ ने 1936 में कहा कि, अगर हरिजन खुदा की संतान है तो क्या उच्च जातियां शैतान की संतान है।' यह भी एक फर्क है। वास्तव में गाँधी जी अनुसूचितों और सवर्णों के मध्य की दूरी को 'खुदा की संतान' कहकर मिटाना चाहते थे किन्तु अम्बेडकर हिन्दुओं को स्थायी शत्रु मानते थे। चूँकि स्वतंत्रता आंदोलन के लिये अनुसूचित जातियों और उच्च जातियों के बीच विद्वेष की स्थिति हानिकारक हो सकती थी, अतः मानवीय दृष्टि के साथ गाँधी ने यह नाम सुझाया था, तिरस्कार भाव से नहीं। और यों भी गाँधी जी ने हरिजन शब्द भक्ति परम्परा के कवि नरसी मेहता के भजनों से लिया था।

गाँधी की बहुत आलोचनायें संभव है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि वे दलित विद्वेषी थे। गाँधी जी कहा करते थे, ''अस्पृश्यों पर थोपी गयी अस्पृश्यता एक ऐसा जहर है जो अपने प्रभाव क्षेत्र में रहने वाले सभी लोगों पर चढ़ गया है। इसलिये हिन्दु, मुसलमान, ईसाई आदि अन्य धर्मावलम्बी सभी आपस में एक दूसरे के लिये अस्पृश्य बन गये हैं। अस्पृश्यता के वास्तविक निवारण से ही हम सभी एक दूसरे के नजदीक आयेंगे और इस प्रकार भारत के विभिन्न समुदायों के बीच हार्दिक एकता पैदा होगी।''

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि डॉ. अम्बेडकर ने जाति व्यवस्था समाप्त करने के लिये अछूतों/दलितों को संघर्ष

करने का आह्वान किया और महात्मा गाँधी ने हृदय परिवर्तन द्वारा दलितोद्धार और सामाजिक भेदभाव मिटाना चाहा। एक इस देश का राष्ट्रपिता निर्विवाद कहलाया, दूसरा 'भारतीय संविधान का जनक'। साम्प्रदायिकता एवं जातिवाद की विघटनकारी शक्तियाँ दोनो को दुखीं की। महात्मा गाँधी और अम्बेडकर मात्र दो नाम नहीं, अपितु एक ही कालखण्ड की दो ऐसी समानान्तर विचारधारायें थीं, जो स्वाधीनता और स्वराज्य के विराट शिखर से निःसृत हुई और विस्तार पाते-पाते अनेक उपसमितियों में विभाजित होती गयीं। एक के पास (अम्बेडकर) जातिवाद के कटु अनुभवों और विदेशों से प्राप्त की गई शिक्षा से उपजे तर्क थे, दूसरे (गाँधी) के पास सम्पूर्ण जीवन पद्धति थी। अम्बेडकर के पास केवल संघर्ष था, दलितं के आर्थिक उद्धार के लिये संभवतः कोई कार्यक्रम नहीं था। गाँधी के पास व्यापक कार्यक्रम था- ''मुझे बेचारे एक अकेले व्यक्ति के बस की बात तो है नहीं कि करोड़ों को रोजी जुटा सकूँ। यह तो समूची जनता के सम्मिलित प्रयत्न और ईश्वर कृपा से ही हो सकता है। लेकिन यदि हरिजनों के लिये मंदिरों के द्वार खोल दिये जाय और अस्पृश्यता मिटा दी जाये तो एक ऐसा बोझ उनके सीने से हट जायेगा जिसके भार के नीच वे दबे-पिसे जा रहे हैं और तब उनको भी समाज के शेष सदस्यों के साथ-साथ ईमानदारी से अपनी रोजी कमाने के समान अवसर सुलभ हो जायेंगे।

****

सर्वपल्ली राधाकृष्णन

राधाकृष्णन का जन्म मद्रास से चालीस मील दूर उत्तर-पश्चिम की ओर स्थित तीरूतनी नामक एक छोटे से कस्बे में 5 सितम्बर 1888 को हुआ था। उनका प्रारंभिक जीवन तीरूतनी तथा तीरूपटी में व्यतीत हुआ। ये दोनो स्थान तीर्थस्थल के रूप में प्रसिद्ध थे। शायद इसी प्रारम्भिक प्रभाव के फलस्वरूप उनकी अभिरूचि धर्म के प्रति बढ़ी। वे स्वयं स्वीकारते हैं कि उसी समय से उनके मन में अदृश्य जगत की वास्तविकता के प्रति एक दृढ़ विश्वास उत्पन्न हुआ- जो विश्वास सदैव उनकी आस्था का अंग बना रहा। उनकी स्कूल तथा कॉलेज की शिक्षा ईसाई मिशन की संस्थाओं में हुयी। इस अवधि में वे ईसाई धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों से परिचित हो गये, और साथ-साथ उन्हें यह भी जानकारी मिल गयी कि ईसाई मत के समर्थक किन स्थलों पर हिन्दू मत की आलोचना करते हैं। इस प्रभाव में उन्हें हिन्दू दर्शन तथा हिन्दू धर्म ग्रन्थों का विशद एवं गहन अध्ययन किया। अचेतन रूप में उनके मन में हिन्दू मत के विवेकानन्द जैसे प्रबल प्रतिपादकों के लिये बड़ा आदर उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उनकी प्रारम्भिक धार्मिक प्रवृत्तियां इन विभिन्न प्रभावों के फलस्वरूप संवती चली गयीं। इस प्रकृति का अभिव्यक्ति के रूप में उनका लेखन कार्य बीस वर्ष की उम्र से ही प्रारम्भ हो गया। 1908 में ही उनकी पहली पुस्तक Ethics of theVedanta प्रकाशित हुई। एम.ए. की परीक्षा के लिये उन्होंने इसे शोध-लेख के रूप में लिखा था।

उनके दर्शन का स्वरूप - जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, राधाकृष्मन की विलक्षणता इस बात में थी कि उन्हें भारतीय तथा पाश्चात्य-दोनों विचारों की पूरी जानकारी थी। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा भारतीय परम्परा के अनुरूप हुयी तथा बाद में अपनी लगन से उन्होंने पाश्चात्य विचारों का विशद अध्ययन किया। अतः उनके लिये बड़ा सरल हो गया कि वे इन दोनो विचारों के समन्वय का प्रयास करें।

फिर भी, यह तो कहा ही जा सकता है कि उनकी बौद्धिक मान्यताओं की जड़े भारतीय परम्परा में ही पनपी है। उनके अपने दार्शनिक विचारों की मूल अवधारणायें सामान्यतः भारतीय दर्शनों से तथा प्रधानतः वेदान्त से ली हुयी हैं।किन्तु उनकी विशेषता यह रही कि भारतीय विचारों को भी स्पष्ट रूप में पाश्चात्य विचारों के माडलों एवं भाषीय ढंगों में व्यक्त किया। फलतः भारतीय दर्शन का उनके द्वारा प्रस्तुत इतिहास अपने पारम्परिक बन्धनों से मुक्त हो, नवीन रूप प्रदत्त हुआ। यह मौलिकता भी उनकी प्रतिष्ठा को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुयी।

जोड ने राधाकृष्णन की दार्शनिक दृष्टि का विवरण करते हुए कहा है कि राधाकृष्णन का एक प्रकार से पूर्व तथा पश्चिम के बीच का 'सम्पर्क अधिकारी' (Liaison Officer) कहा जा सकता है। उन्होंने पूर्व के पारम्परिक ज्ञान तथा पश्चिम के नवीन ज्ञान के मध्य एक सेतु बनाया है। इस विवरण में तथ्य है क्योंकि राधाकृष्णन का सतत प्रयत्न रहा है कि वे इन दोनो विचारों के समन्वय के आधार पर दार्शनिक संरचना करें।

अतः कहा जा सकता है कि उनकी मूल दार्शनिक दृष्टि में एक प्रकार से अद्वैत वेदान्त तथा पश्चात्य निरपेक्ष आध्यात्मवाद (Absolute idealism) का समन्वय है। वे अद्वैत वेदान्त में प्रतिपादित सत् के मूल अद्वैत ऐक्य को केन्द्र बनाते हैं, किन्तु इसमें निरपेक्ष आध्यात्मवाद के कुछ पक्षों को जोड़ देते हैं। वेदान्त के समान वे भी कहते हैं कि सत् एक है। निरपेक्ष आध्यात्मवाद के समान वे यह भी दिखाते हैं कि सब कुछ इस एक के अनिवार्य पक्ष है पहलू हैं। उनके विचारों के इस समन्वयात्मक रूप के कारण उनके विचारों पर प्रचलित नामों का कोई लेबल चिपकाना कठिन प्रतीत होता है।

फिर भी, सामान्य रूप में उनके दर्शन को एकवादी आध्यात्मवाद (Monistic Idealism) का नाम दिया जा सकता है। इसे एकवादी तो स्पष्टरूप में कहा ही जा सकता है क्योंकि उनके अनुसार सत् एक है। उनके दर्शन का आध्यात्मवाद का दर्शन कहने का आधार अनेक हैं। यह तो है ही कि उनका आध्यात्मवाद तात्विक (Metaphysical) है, क्योंकि यह सत् के स्वरूप से सम्बन्धित सिद्धान्त है। किन्तु तात्विक आध्यात्मवाद 'भाववादी' हो सकता है (idea-ism) या 'आदर्शवादी' हो सकता है (Ideal-ism)। पहले का अर्थ है कि सत् का स्वरूप भाव-रूप है- विचार-रूप है, वह या मानसिक हो या आध्यात्मिक।

राधाकृष्णन के अनुसार सत् आध्यात्मिक भाव-रूप है, अतः उन्हें आध्यात्मवादी कहा जा सकता है। आदर्शवाद (Ideal-ism) इससे भिन्न है। इसमें कुछ आदर्शों एवं मूल्यों के चरम रूप पर बल दिया जाता है। सच पूछा जाय तो राधाकृष्णन आध्यात्मवादी के इस रूप को अधिक मान्यता देते हैं।

राधाकृष्णन स्वयं स्वीकारते हैं कि उनकी दृष्टि आदर्शवादी है (Idealistic point of view)। यह दृष्टि इतना मान कर अग्रसर होती है कि एक ऐसा आध्यात्मिक आदर्श है जिस ओर ही सम्पूर्ण जगत-प्रक्रिया अग्रसर हो रही है।

वस्तुतः राधाकृष्णन ने 'Idea' शब्द तथा 'Idealism' शब्द के विभिन्न अर्थों का विश्लेषण किया है- और इस आधार पर तय करने का प्रयत्न किाय है कि 'Idea'शब्द का मूल अर्थ क्या है? मान लें किसी वस्तु के निर्देश पर या किसी कार्य के सम्बन्ध में हम पूछते हैंकि 'इसमें आपका Idea क्या है?' तो यहां वस्तुतःहम क्या जानना चाहते हैं? राधाकृष्णन कहते हैं कि इस प्रश्न से हमारा साधारण तात्पर्य यही जानना रहता है कि इसके पीछे क्या विचार था क्या सिद्धान्त है या इस भाव की सार्थकता तथा प्रयोजन क्या है?- या यह जानना रहता कि इसका लक्ष्य या इसका मूल्य है? तो इसका अर्थ है कि जब भी हम किसी 'भाव' या 'विचार' का तात्पर्य जानना चाहते हैं तो मूलतः हम यही समझना चाहते हैं कि वह हमें किस ओर प्रेरित कर रहा है- किस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अग्रसर कर रहा है।

आदर्शवाद (Ideal-ism) भाव या 'Idea' शब्द के इसी अर्थ पर आधृत है। अतः कहा जा सकता है कि यदि हम इस बात पर बल दें कि जगत एक यन्त्रवत् चलने वाली अन्धी प्रक्रिया नहीं है, बल्कि वह किसी लक्ष्य की ओर प्रेरित है, अथवा हम यह मानें कि जगत प्रक्रिया कोई अबौद्धिक प्रक्रिया नहीं, बल्कि इसमें सतत् किसी आदर्श-प्राप्ति की और उन्मुखता है, तो हमारा विचार आदर्शवाद का उदाहरण बन जाता है। इस दृष्टि से आदर्शवादी विचारक मानता है कि जगत की अपनी सार्थकता है- उसका अपना कुछ लक्ष्य है- और इसकी सभी प्रक्रियायें उस लक्ष्य उस प्रयोजन (Teleos) की प्राप्ति के मार्ग हैं। इस दृष्टि से आदर्शवादी प्रयोजनवादी (Teleologist) बन जाता है, यन्त्रवाद (Mechanism) का समर्थक नहीं रहता। अब हम कह सकते हैं कि राधाकृष्णन Idealist के दोनो अर्थों में हैं। वे 'आध्यात्मवादी' भी हैं और 'आदर्शवादी' भी। वे आध्यात्मवादी हैं क्योंकि वे मानते हैं कि सत् का स्वरूप अभौतिक है- आध्यात्मिक है। किन्तु वे पूर्णतया आदर्शवादी हैं, क्योंकि वे इस विचार पर बल देते हैं कि जगत प्रक्रिया से कुछ प्रयोजन सिद्ध होते हैं- यह प्रक्रिया सतत् किसी लक्ष्य की और अग्रसर हो रही है।

ऐसा प्रतीत होता है कि राधाकृष्णन को चेतना है कि वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास के फलस्वरूप आधुनिक जीवन यन्त्रवत् जीवन हो गया है, फलतः मानव की आत्म-अनुभूति शक्ति कुण्ठित हो गयी है। इसी कारण आधुनिकता का मानस जगत प्रक्रिया के इस आदर्शरूप की उपेक्षा कर देता है। अतः उन्हें प्रतीत होता है कि अभी सर्वाधिक आवश्यकता आत्म को जगाने की है, आध्यात्मिक आस्था को पुनःप्रतिष्ठित करने की है। अतः उनके दर्शन का लक्ष्य एक ओर विवरणात्मक तथा दूसरी ओर मूल्यात्मक एवं आदर्शमूलक हैं। विवरणात्मक पक्ष में वे यथाशक्ति यह स्थापित करना चाहते हैं कि जीवन तथा जगत की वास्तुविकता और सार्थकता आध्यात्मिकता में है। अपनी आदर्शमूलक अनुशंसा में वे यह दिखाना चाहते हैं कि जब तक मानव की आध्यात्मिक शक्ति जाग्रत नहीं होती है, तब तक मानव-जीवन दिशाहीन निरर्थक एवं अशुभ ही प्रतीत होगा। इस प्रकार आध्यात्मिक मूल्यों एवं आध्यात्मिकता को चरम बनाने के प्रयत्न में राधाकृष्णन किसी-किसी स्थल पर रहस्यवादी (Mystic) भी प्रतीत होते हैं, किन्तु उनका दर्शन रहस्यवादी नहीं है - रहस्यवाद (Mysticism) का दर्शन नहीं है। रहस्यवाद के अंश का प्रवेश उनके दर्शन में कुछ उसी रूप में हो गया- जिस रूप में हर आदर्शवादी एकवाद में प्रवेश कर जाता है।

परम सत् का स्वरूप : राधाकृष्णन का कहना है कि दार्शनिक अन्वेषण का मूल लक्ष्य जगत की व्याख्या प्रस्तुत करना है। जिस मूल 'तत्व' के आधार पर जगत की व्याख्या होती है, उसे ही 'परम सत् ' कहा जाता है, क्योंकि हर वास्तविक सत् तत्वों की व्याख्या का आधार वही है। इस प्रकार 'परमसत् ' का विचार इस ढंग से रूप लेता है कि उस विचार में जगत-सम्बन्धी क्यों तथा कैसे प्रश्नों का समुचित समाधान मिल जाय।

अपने परमसत् -विचार को राधाकृष्णन वेदान्त के विचारों का समुचित उपयोग करते हैं। वेदान्त दर्शन के अनुसार ब्रह्म ही परमसत् है जो जगत का पूर्ण ब्रह्माण्ड का तार्किक आधार है। वस्तुतः वेदान्त की मान्यता है कि ब्रह्म को सिद्ध करने का अथवा ब्रह्म की सत्ता स्थापित करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो हर विचार की पूर्वमान्यता है, क्योंकि यदि इसे नहीं स्वीकारा जाय तो विचार ही सम्भव नहीं होगा। राधाकृष्णन भी कुछ वेदान्त के समान परमसत् को ब्रह्म अथवा निरपेक्ष सत् (Absolute) कहते हैं और हर वास्तविक एवं अस्तित्ववान तत्व का तार्किक आधार मानते हैं।

इस स्थल पर ही प्रकृतिवादी विचारक कह सकते हैं कि विश्व की व्याख्या के लिये किसी अनुभवातीत तत्व की

कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं क्योंकि प्रकृति की व्याख्या तो प्राकृतिक तत्वों के आधार पर हो सकती है। किन्तु राधाकृष्णन का प्रकृति-वाद के इस विचार का स्पष्ट उत्तर है कि प्राकृतिक व्याख्यायें 'काल' की वास्तविकता के पूर्वाग्रह पर आधृत होती है, अतःयह व्याख्या काल-स्थित तत्वों तक ही सीमित हो जाती है। इस व्याख्या से यह सूझता ही नहीं कि 'काल' के परे भी जाया जा सकता है। यह तो जगत को एक स्वचलित मशीन बना देता है, जो यन्त्रवत् , बिना दिशाज्ञान के चलता रहे। यह कालिक जगत का आधार अचेतन तत्वों को बना देता है, तथा चेतना को भी उन्हीं तत्वों का उपोत्पाद या उपफल मान लेता है। इसी कारण यह मान लेता है कि जगत-मशीन की जानकारी इसके विभिन्न अंशों एवं भागों की जानकारी पर आधृत है। राधाकृष्णन का कहना है कि इस प्रकार से दी गयी व्याख्या न व्याख्या हो सकती है, और न यह 'परमसत्' का विचार ही स्थापित कर पाता है।इसका दावा है कि वह विश्व की व्यवस्था की व्याख्यान प्रस्तुत कर रहा है, किन्तु व्याख्या अन्धी नहीं हो सकती, जहां विश्व-प्रक्रिया का कोई दिशा-निर्देश नहीं है, वहां व्याख्या दी ही नहीं गयी है। राधाकृष्णन के अनुसार प्राकृतिक व्याख्याओं में यह मूल दोष है।

अतः प्राकृतिक व्याख्याओं की स्पष्ट अयथेष्टता को समझने के कारण राधाकृष्णन व्याख्या की सूक्ष्मताओं में प्रवेश करते हैं, तथा परम सत् विचार तक पहुंच जाते हैं। उनका कहना है कि 'परमसत्'- विचार में व्याख्या की दो मांगो पर ध्यान देना आवश्यक है - प्रथमतः तो जगत की समुचित व्याख्या प्रस्तुत हो, तथा यह भी कि जिस के द्वारा व्याख्या की जा रही है उसकी व्याख्या की आवश्यकता न रहे। अर्थात परमसत् वही हो सकता है जो विश्व की समर्थ व्याख्या कर सके और अपने में स्वतः स्पष्ट हो। राधाकृष्णन का कहना है कि भौतिक जगत में ऐसा कुछ नहीं है जो दूसरी शर्त को पूरा कर पाये, कुछ ऐसा नहीं है जो अपनी व्याख्या भी अपने आप ही कर दे। भौतिक जगत में तो एक भौतिक तत्व की व्याख्या दूसरे भौतिक तत्व से होती है, सम्पूर्ण भौतिक जगत की व्याख्या का कोई साधन भौतिक जगत में उपलब्ध नहीं। इसी कारण परमसत् के विचार के लिये भौतिक जगत के परे जाना अनिवार्य हो जाता है। और साथ-साथ यह भी आवश्यक हो जाता है कि परमसत् के स्वरूप को ही भौतिक तत्वों के स्वरूप से भिन्न समझा जाय। इसी आधार पर राधाकृष्णन कहते हैं कि परमसत् अभौतिक है- आध्यात्मिक है।

मूल अवधारणा : आध्यात्मिक-का पूर्ण स्पष्टीकरण तो अभी सम्भव नहीं है, वह शनैः-शनैः स्पष्ट होता जाएगा। किन्तु अभी हम इसके विषय में एक प्रारम्भिक भाव बना सकते हैं- वह भी अभावात्मक ढंग से। कहा जा सकता है कि 'आध्यात्मिक' भौतिक से भिन्न तथा उच्चतर तो अवश्य है। अद्वैत वेदान्त के समान राधाकृष्णन स्वीकारते हैं कि परमसत् का पूर्ण निश्चित विवरण देना तो सम्भव ही नहीं। इसके लिये हमारी भाषा असमर्थ, किन्तु कुछ निकट के विवरणों के द्वारा हम कुछ प्रारम्भिक भाव बना सकते हैं।

अब हम वैसा ही कुछ प्रयास कर रहे हैं। इतना तो स्पष्ट ही हो गया कि राधाकृष्णन के परमसत् विचार की विवेचना का अर्थ है उनके निरपेक्ष सत् (Absolute) या ब्रह्म के विचार का स्पष्टीकरण।

निरपेक्ष सत् या ब्रह्म : राधाकृष्णन इस परमसत् को सूचित करने के लिए दोनो 'नामों' का उपयोग करते हैं; पाश्चात्य परम्परा के अनुरूप वे इसे 'निरपेक्ष सत्' (Absolute) कहते हैं, तथा भारतीय परम्परा के अनुरूप इसे ब्रह्म कहते हैं। किन्तु 'नामों' का उपयोग आकस्मिक नहीं है । उनके इस ब्रह्म-विचार में कुछ अंश तो अद्वैत वेदान्त के हैं, तथा कुछ अंश हेगेल तथा हेगेल-परम्परा से भी लिये हुए हैं। अद्वैत वेदान्त के समान वे भी ब्रह्म को पूर्ण अद्वैत 'एक' मानते हैं, और हेगले के समान वे यह भी मानते हैं कि यह एक पूर्ण अमूर्त भाव नहीं है, और न अमूर्तिकरण की प्रक्रिया से प्राप्त भाव है बल्कि सब कुछ का वास्तविक आधार है।

राधाकृष्णन ने परमसत् के एकस्वरूप का विचार बड़े ही विशिष्ट ढंग से किया है। उनकी मान्यता है कि विश्व की जो समुचित एवं अन्तिम व्याख्या हो सकती है वह एकवादी भी कहते हैं कि निरपेक्ष में एक कोई आन्तरिक भेद-कोई स्वगत भेद-भी नहीं है। उसमें जो अनेक रूपता प्रतीत होती है, वह तभी प्रतीत होती है जब हम सृष्टि की ओर से, सृष्टि के परिप्रेक्ष्य में उसे देखते हैं। यह ठीक है कि एक प्रकार से सृष्टि में भी जो व्यक्त है वह निरपेक्ष सत् की ही अभिव्यक्ति है, किन्तु इन अभिव्यक्तियों से उसका मूल एकतत्व-रूप प्रभावित या खण्डित नहीं होता। राधाकृष्णन स्वीकारते हैं कि - "The same Absolute reveals itself in all these but differently in each. The ultimate reality sleeps in the stone, breathes in the plants, feels in the animals, and awakens to self-consciousness in man." फिर भी वे इस बात पर बल देते हैं कि अपने सत् पूर्ण अद्वैत ब्रह्म है - जो इन अभिव्यक्तिोयं से प्रभावित नहीं होता।

वस्तुतः ब्रह्म की इस एकरूपता का प्रमाण इसी को अभिव्यक्तियों में भी -जगत में भी उपलब्ध है। जगत-प्रक्रिया को

ध्यान से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि उस प्रक्रिया में भी अनर्गल अथवा अव्यवस्थित ढंग से कार्यरत नहीं रहती, उनमें एक संगठन रहता है। इस में संगठित हों, एकरूप हों। उसे अनेक मानने से प्रक्रियाओं में भी विभिन्नता ही रहेगी, संगठन नहीं रहेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व की प्रयोजनात्मकता (Teleology) भी परमसत् की एकरूपता के पक्ष में एक साक्ष्य है। राधाकृष्णन 'निरपेक्ष सत्' को 'शुद्ध चेतना' (Pure Consciousness), 'शुद्ध स्वतंत्रता' (Pure Freedom) तथा 'अनन्त सम्भावना' (Infinite Possibility) कहते हैं। इनमें प्रथम दो लक्षणों का विवरण अद्वैत वेदान्त के समान है, तथा तीसरे लवन के विवरण में राधाकृष्णन हेगले के समान विवरण प्रस्तुत करते हैं। निरपेक्ष को 'शुद्ध चेतना' कहा गया है क्योंकि चेतना ही ऐसा तत्व है जो अमिट है, जिसका पूर्ण निषेध सम्भव नहीं। हम अस्तित्व के किसी ऐसे आयाम की कल्पना भी नहीं कर सकते जहां चेतना न रहे। निरपेक्ष को 'अनन्त सम्भवाना' इस आधार पर कहा गया है कि इसकी अभिव्यक्ति अनन्त जगतों में हो सकती है। यह जगत अनन्त सम्भावनाओँ में एक है। इसे 'शुद्ध स्वतंत्रता' कहा गया है क्योंकि जब भी इसकी कोई सम्भावना रूप लेती है - व्यक्त होती है तो वह निर्धारक तत्व से निर्धारित होकर नहीं, बल्कि वह एक स्वतंत्र क्रिया है। यह भी कोई मजबूरी नहीं कि यही जगत व्यक्त हो। किसी विशेष सम्भावना की अभिव्यक्ति हो, या अन्य किसी सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति न हो - यह सब निरपेक्ष की स्वतंत्रता के रूप हैं, उनके सम्बन्ध में निर्धारक तत्वों की खोज का प्रश्न ही नहीं उठता।

वस्तुतः राधाकृष्णन को लगता है कि विश्व में जो अस्तित्व की विधायें हैं, जो व्यवस्था, प्रयोजन विकास के ढंग आदि है, उनकी व्याख्या के लिये उन सबों के पीछे कोई मूल 'तात्तिव आधार' का होना अनिवार्य है, अन्यथा इनकी व्यापकता की कोई सार्वभौम व्याख्या सम्भव ही नहीं होगी, और यह तात्विक आधार 'निरपेक्ष' के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। यह प्रश्न तो उठता ही है कि आखिर असितत्व है ही कैसे। यदि सब कुछ लुप्त हो जाय- समाप्त हो जाय, तो शून्यता के अतिरिक्त कुछ बचता नहीं। तो अस्तित्व के हर रूप अपूर्ण हैं, अस्थायी है। जो अस्तित्ववान है उसकी अस्तित्वहीनता भी सम्भव है, और जो अस्थायी है, कालिक है वह अपने में, बिना किसी सहारे के रह नहीं सकता। और इस प्रकार भी यह स्पष्ट होता है कि अस्तित्व के हर रूप, तथा हर ढंग पर विचार करने पर हमें 'अस्तित्व' से परे जाना ही पड़ता है - इनके पीछे परमसत् की प्राथमिकता को स्वीकारना ही पड़ता है।

"Why is there existence? Why is there anything at all? If everything disappeared there would be utter nothingness. If that nothingness did not provide or wasnot itself the possibility of being, there could not havebeen anything at all. Theexistences of the world are imperfect and impermanent and nothing that is imperfect can subsist of itself or by itself, for in so far as it is imperfect it is not. The upanishads lead us from the imperfect existences in the world to the Supreme and Absolute Being...... theexistence of the world means the primacy of Being." इस प्रकार स्पष्ट है कि जगत का अस्तित्व भी उस परमसत् के पक्ष में एक साक्ष्य है। परम सत् हर अस्तित्व का मूलाधार है, और इसी कारण राधाकृष्णन इस निरपेक्ष परम सत् को जगत का तार्किक आधार- इसकी तार्किक मान्यता (LOfical Prius) कहते हैं।

परमसत् के विवरण में बार-बार राधाकृष्णन इसे शुद्ध 'आध्यात्म-रूप' (Spritual) कहते हैं। इसका कारण मात्र यही है कि जगत के सभी ज्ञात तत्व इसकी सम्पूर्णता की व्याख्या में सर्वथा असमर्थ है। यदि कोई प्राकृतिक व्याख्या प्रस्तुत भी होती है। तो वह अनिवार्यतः किसी एक दृष्टिकोण से की गयी व्याख्या होती है। उस व्याख्या को अयथेष्टता एवं सीमितता इस बात से स्पष्ट है कि व~इस सम्भावना से आंख मूंदे है कि उसकी व्याख्या के अनेकों भिन्न-अन्नत सम्भावनायें है। फलतः जगत की सम्पूर्णता की व्याख्या के लिये हमें 'ज्ञात' के क्षेत्र से ऊपर उठना पड़ता है- इनके परे जाना पड़ता है। आध्यात्मिक दृष्टि की यह विशिष्टता है कि यह सदैव जो प्रस्तुत है, समक्ष है उसके 'परे' का संकेत देती है। इसी आधार पर कहा जाता है कि विश्व की सम्पूर्णता की व्याख्या जिससे भी हो, वह आध्यात्मरूप है, तथा इसी दृष्टि से निरपेक्ष को आध्यात्मरूप कहा जा रहा है।

निरपेक्ष को 'स्वतंत्र' सत् कहा गया है। यह स्वतंत्र है क्योंकि इसे सीमित करने वाले तत्व है ही नहीं। इससे परे का भी प्रश्न नहीं उठता। अतः इसका सत् रूप अबाधित है, और इसी अर्थ में इसे स्वतंत्र कहा गया है।

इसे असीम भी कहा गया है। यह असीम है क्योंकि यह सीमित हो ही नहीं सकता। जो ससीम है वह सीमित इसी कारण है कि वह अन्य पर निर्भर है। परमसत् पर तो सब कुछ निर्भर है, और उससे पृथक कुछ है नहीं। अतः वह पूर्णतया आत्म-आधृत है, और इस अर्थ में स्वतंत्र है।

यह असीम है, अतः 'अपरिवर्तनशील' है। यह आत्म-आधृत है, अपने में सर्वथा पूर्ण है। परिवर्तन का अर्थ है कि जो परिवर्तित हो रहा है वह कुछ ऐसा बनने जा रहा है जो वह पहले से नहीं था। इससे यह भी आपदित है कि जो परिवर्तित होता है उसमें कुछ 'कमी' है, जिसे दूर करने के लिये परिवर्तन होता है। किन्तु निरपेक्ष सत् में कोई कमी नहीं है, और इसलिये उसके परिवर्तन का प्रश्न ही नहीं उठता। इसे 'शाश्वत' तथा 'नित्य' कहा गया है। यह विशेषता 'आत्म-आधृत एवं अपरिवर्तनशील' के लक्षण से ही निकल आती है। किन्तु जब निरपेक्ष को शाश्वत या नित्य कहा जा रहा है तो इनके कालिक अर्थ में नहीं। इसे नित्य कहने का यह अर्थ नहीं कि निरपेक्ष हर काल में 'है'। यह नित्य इस अर्थ में है कि काल का प्रश्न ही इसके लिये अप्रासंगिक है। यह काल के 'परे' है।

राधाकृष्णन के अनुसार निरपेक्ष 'सर्वरूपेण पूर्ण' है। पूर्णता में मात्रा का अन्तर सम्भव है, कुछ तत्व कुछ अन्य तत्व से अधिक पूर्ण कहे जाते है। किन्तु इस क्रम-विचार में भी यह विचार तो आता ही है कि पूर्णता की परिणति के रूपें एक सर्वरूप में पूर्णता है। निरपेक्ष उस अन्तिम अर्थ में पूर्ण है।

निरपेक्ष के इसी प्रकार के विचार के आधार पर राधाकृष्णन कहते हैं कि निरपेक्ष अपनी अभिव्यक्तियों से परे है। जगत उसी की अभिव्यक्ति है, किन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता कि वह जगत से एकरूप है। उसकी अभिव्यक्तियाँ उसके मूलरूप को नहीं छूतीं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि राधाकृष्णन का निरपेक्ष-विचार सर्वेश्वरवाद (Pantheism) का उदाहरण नहीं है, यह एक प्रकार से आंतरिक ईश्वरवाद (Panetheism) तथा ईश्वरवाद (Theism) के मध्य की स्थिति है।

किन्तु राधाकृष्णन के अनुसार हमें यह सदा स्मरण रखना है कि इस प्रकार के सभी विवरण निरपेक्ष के चित्रण के हमारे अयथेष्ट प्रयास मात्र हैं। हमारी अवबोध-शक्ति अभी इतनी समर्थ नहीं है कि वह निरपेक्ष का यथार्थ चित्रण कर सकें। वे कहते हैं, "Pure Being which is the Absolute can onlybe indicated. It can be alluded to but not described.

निरपेक्ष सत् और ईश्वर : अपने दर्शन में राधाकृष्णन निरेपक्ष के साथ-साथ ईश्वर का भी उल्लेख करते हैं। इस प्रकार का उल्लेख शंकर के विचार में भी आता है, शंकर भी ब्रह्म एवं ईश्वर दोनो की चर्चा करते हैं। शंकर के दर्शन में मूलतः 'ईश्वर' के लिये ब्रह्म के परमार्थ-रूप में कोई स्थान नहीं। उन्होंने'पारमार्थिक' एवं 'व्यवहारिक' दृष्टियों में भेद किया है, तथा ब्रह्म तथा ईश्वर का अन्तर इन दोनो दृष्टियों के कारण है। ईश्वर का अस्तित्व मात्र व्यवहारिक स्तर पर है, पारमार्थिक दृष्टि से बस ब्रह्म है।

राधाकृष्णन भी 'ब्रह्म' तथा 'ईश्वर' में भेद करते हैं, किन्तु उनके विचार में इस भेद का आधार दो दृष्टियों का अन्तर नहीं है। उनकी दार्शनिक संरचना में 'ईश्वर' के लिये एक जगत में जो व्यवस्था, प्रयोजन आदि दिखाई देते हैं, उसकी व्याख्या का एक स्पष्ट आधार हो। व्हाइट हेड के समान राधाकृष्णन भी मानते हैं कि इनकी व्याख्या के लिये यह मानना आवश्यक हो जाता है कि इनके पीछे एक स्पष्ट सर्जनात्मक शक्ति है। उनका विचार है कि इस सर्जनात्मक शक्ति को जगत से श्रृष्टा के रूप में सोचना आवश्यक है। वह श्रृष्टा इस कारण है कि इसी रूप में उस मूल प्रश्न का समाधान मिल जाता है कि कैसे अर्निर्दिष्ट श्रृष्टा के रूप में 'ईश्वर' का विचार आवश्यक हो जाता है। 'इस दृष्टि से श्रृष्टा-रूप ईश्वर निरपेक्ष सत् तथा जगत-प्रक्रिया के बीच की कड़ी है।'

इसी रूप में राधाकृष्णन ने अपनी दार्शनिक संरचना में ईश्वर के लिये स्थान बनाया है। कहा जा सकता है कि परम सत् का विचार दो रूपों में स्पष्ट होता है- 'निरपेक्ष' तथा 'ईश्वर'। कार्यरत निरपेक्ष ईश्वर है, वह सृष्टिकर्ता है। अपने में परमसत् - सृष्टि-क्रिया से परे का सत् रूप ही निरपेक्ष है-ब्रह्म है। राधाकृष्णन कहते हैं कि दार्शनिक चिन्तन के लिये बौद्धिकता का मांगों तथा सामान्य अनुभव की मांगों-दोनों को सन्तुष्ट करना आवश्यक है। तात्तिवक वृत्ति तथा धार्मिक भावना- दोनो को सन्तुष्ट करना आवश्यक हो जाता है। वहीं दार्शनिक चिन्तन संगत प्रतीत होता है जिसमें इन दोनो मांगों की पूर्ति इस प्रकार हो कि दोनो में कोई विरोध न रहे- दोनो पूर्णतया समन्वयित रहें। तो राधाकृष्णन का कह ना है कि तात्विक वृत्ति का आदर्श निरपेक्ष है तथा धार्मिक भावना का लक्ष्य ईश्वर है।

इस स्थल पर राधाकृष्णन के विचारों को शंकर के विचारों के आलोक में देखना उपयोगी है। शंकर के दर्शन में अन्ततः ईश्वर भी सत् नहीं है, माया तथा अज्ञान के साथ ही 'ईश्वर' का भी उल्लेख होता है। उनके तिरोहित होने के साथ ईश्वर-चेतना का प्रश्न कभी समाप्त हो जायेगा। किन्तु राधाकृष्णन के विचार में 'ईश्वर' को सत् ही माना गया है क्योंकि राधाकृष्णन सृष्टि को भी भ्रामक या असत्य नहीं मानते। निरपेक्ष की अभिव्यक्ति भी असत् नहीं हो सकती, और उसी प्रकार उस अभिव्यक्ति का कारक भी असत् नहीं हो सकता। ईश्वर सत् का ही रूप है - निरपेक्ष का ही रूप है। निरपेक्ष 'अनन्त

सम्भावना' है. इनमें एक सम्भावना रूप लेती है जो सृष्टि है। निरपेक्ष की ही सम्भावना होने के कारणवह भी सत् है। अब इस व्यक्त सम्भावना के संदर्भ में निरपेक्ष को ही सम्भावना होने के कारण वह भी सत् है। अब इस व्यक्त संभावना के संदर्भ में निरपेक्ष का जो रूप स्पष्ट होता है वह ईश्वर है। इस सृष्टि के संदर्भ में निरपेक्ष अनन्त सम्भावना प्रतीत नहीं होता- बल्कि इस सम्भावना का कारक प्रतीत होता है, सृष्टिकर्ता प्रतीत होता है। निरपेक्ष का यही रूप ईश्वर है। इसे स्पष्ट करते हुए राधाकृष्णन सरल रूप में कहते हैं "We call the Supreme the Absolute when we view it apart from the cosmos, God in relation to the cosmos. The Absolute is the pre-cosmic nature of God, and God is the Absolute from the cosmic point of view. " इस प्रकार निरपेक्ष और ईश्वर एक रूप ही है, ये दोनो पक्ष दो ढंगों से उजागर होते हैं।

जब ईश्वर का इस प्रकार का विचार रूप लेता है, जब ईश्वर सृष्टिकर्ता के रूप में प्रतिष्ठित होता है, तो राधाकृष्णन के 'ईश्वर' में भी ईश्वर के उन सभी लक्षणों का आरोपण हो सकता है जो सामान्यतः ईश्वर पर आरोपित होते हैं, तथा साथ-साथ ईश्वर-समर्थक वे सभी युक्तियां सार्थक हो जाती है जो सामान्यतः ईश्वर-अस्तित्व के समर्थन में प्रस्तुत की जाती हैं। अब राधाकृष्णन के लिये सुगम हो जाता है कि वे भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शनों के इतिहास में प्रवेश कर वे उन सभी ईश्वरीय लक्षणों तथा उन सभी ईश्वरीय-समर्थक युक्तियों को एकत्रित कर लें जिनकी चर्चा इन दोनो परम्पराओं में होती रही है।

वैसे कभी-कभी राधाकृष्णन के लेखों में ईश्वर समर्थन के 'कारणता युक्ति' की भी चर्चा हुयी है। इसमें वे डेकार्ट के कारणता युक्ति जैसी युक्ति देते हैं। डेकार्ट के समान राधाकृष्ण भी कहते हैं कि हमें अपनी व्याख्या के लिये, अपने अस्तित्व की व्याख्या के लि एक ऐसे कारण का विचार करना पड़ता है जो हमारे जैसे आत्म-रूप जीवों का कारक हो सके। वह कारण स्पष्टतः साधारण कारणों के समान नहीं हो सकता, क्योंकि सभी साधारण कारण अपने ही किसी अन्य कारण पर निर्भर रहते हैं। ऐसी निर्भरता उस कारण में नहीं हो सकती जो हमारे जैसे आत्म-रूप जीरों का कारण है। अतः वह कारण ईश्वरीय कारण है।

राधाकृष्णन ने ईश्वर-अस्तित्व के समर्थन में दी गयी 'प्रयोजनात्मक युक्ति' को सर्वाधिक महत्व देते हैं। उनकी मान्यता है कि जगत-प्रक्रियायें अनर्गल अथरा अव्यवस्थित तथा विज्ञानहीन नहीं है। वे सतत् किसी लक्ष्य की ओर प्रेरित है, उनके कुछ प्रयोजन सिद्धि होती है जगत के इस प्रयोजनात्मक रूप की व्याख्या तब तक नहीं हो सकती जब तक इसके कारक के रूप में, इसके पीछे इक ईश्वरीय बुद्धि को न स्वीकारा जाय। प्रयोजन की व्याख्या के लिये एक ऐसे मन को मानना आवश्यक है जो इस प्रयोजन को रूप देता है, और वही प्रयोजन कारक मन ईश्वर है।

राधाकृष्णन की नैतिक युक्ति कुछ इस प्रकार चर्चित हुयी है। उनका कहना है कि हमारे नैतिक जीवन की यह पूर्वमान्यता है कि इस जगत के पीछे एक नैतिक अधिष्ठाता है- एक नैतिक नियामक है। हमारे नैतिक प्रयत्नों का महत्व तथा हमारी नैतिकता की भावना की यर्थार्थता इसी विश्वास पर आधृत है कि शुभ-अशुभ के अन्ततः परिणाम भी शुभ-अशुभ ही होंगे। किन्तु इस विश्वास का आधार भी यही मान्यता है कि इस विश्व के पीछे एक नैतिक नियामक है - जो हर शुभ-अशुभ कृत्यों पर दृष्टि रखता है। वही नैतिक नियामक ईश्वर है।

किन्तु राधाकृष्णन के अनुसार ईश्वर-अस्तित्व के पक्ष में सबसे प्रमाणिक तथा सबसे महत्वपूर्ण साक्ष्य ईश्वररूप को अन्तर्दृष्टि की सम्भावना है। उनका कहना है कि हर व्यक्ति में आध्यात्मिक अनुभूति की क्षमता निहित है। हममें यह क्षमता है कि हम अपने सामान्य एवं साधारण अनुभवों एवं शक्तियों से ऊपर उठ सकें। यही तो आध्यात्मिक अनुभूति की क्षमता का प्रमाण है। इन्ही अनुभूतियों के माध्यम से हमें प्रतीत होता है कि विश्व में अनर्गलता नहीं है, यह सतत् किसी लक्ष्य की ओर प्रेरित है। अब राधाकृष्णन कहते हैं कि यह सम्भव है कि कुछ लोग इस विशिष्ट क्षमता को अधिक प्रखर बनाते जायें। ऐसे उदाहरण हैं, और उन लोगों के लिये यह भी सम्भव हो जाता है कि वे ईश्वरीय-रूप की झांकी ले सकें, उसे अनुभूत कर सकें। इन विशिष्ट अन्तर्दृष्टि-आधृत अनुभूतियों के साक्ष्य पर ईश्वर की स्थापना हो जाती है। राधाकृष्णन इस अन्तर्दृष्टि तथा इन विशिष्ट अनुभूतियों की यथार्थता को इतना महत्व देते हैं कि वे कहते हैं कि ईश्वर-अस्तित्व अन्ततः इन्ही साक्ष्यों पर आधूर्त है।उनकी तो मान्यता है कि सच पूछा जाय तो ईश्वर-समर्थन में मुक्ति देने की आवश्यकता ही नहीं, वह तो इन्ही अनुभूतियों के साक्ष्य से स्पष्टतः प्रमाणित है।

अब हम ईश्वर के कुछ लक्षणों का उल्लेख करेंगे। राधाकृष्णन ने कुछ मूल ईश्वरीय लक्षणों की चर्चा की है। ईश्वर को 'परम मन' (Supreme Mind) कहा गया है।

परम मन-रूप होने से ही ईश्वरीय बुद्धि सृष्टि को रूप दे पाती है। राधाकृष्णन ईश्वर को 'प्रेम-रूप' तथा 'परम शुभ' (LOve an goodness) भी कहते हैं। हिन्दू विचार के त्रिविध-रूप ईश्वर में निहित ब्रह्मा, विष्णु, तथा शिव के भावों का उपयोग करते हुए रधाकृष्णन कहते हैं कि ईश्वर सृष्टिकर्ता है, संरक्षक एवं पालक है, तथा अन्तिम निर्णायक है। यह तो एक ही, किन्तु इन तीन रूपों में यह सृष्टि में प्रतिष्ठित होता है। इसका स्पष्ट विवरण देते हुए वे कहते हैं, "The one God creates as Brahma, redeems as Vishnu an djudges as Shiva, These represent the three stages of the plan, the process and the perfection. The source from which all things come, the sprintgs bywhich they are sustained and the good into which they enter are one. God loves us, creates us and rules us. Creation, redemption and judgment are different names for the fact of God."

ईश्वर तथा सृष्टि के सम्बन्ध में राधाकृष्णन के विचार व्हाइट हेड के ईश्वर-विचार के अनुरूप प्रतीत होते हैं। व्याइटहेड के समान वे भी दोनो का सम्बन्ध मानते हैं- इन दोनो को एक दूसरे से पृथक करना असम्भव है। वे एसा नहीं मानते कि ईश्वर प्रारम्भ में कुछ शक्तियों को स्थापित क़र देता है- जो सृष्टि के द्वितीयस्तरीय कारण के रूप में सृष्टि का संचालन करती रहती है। राधाकृष्णन के अनुसार ऐसा ईश्वर जो केवल प्रारम्भ में सृष्टि कर सृष्टि से अलग बैठा हो, वह ईश्वर सतत् क्रियाशील है- सृष्टि से सम्बन्ध है। एक दृष्टि से कहा जा सकता है, जैसा व्हाइट हेड ने स्पष्ट कहा है, कि सृष्टि के विकास के साथ ईश्वर भी विकसित हो रहा है, क्योंकि सृष्टि का हर विकास भी तो ईश्वर की ही सृष्टि है। यह ठीक है कि 'ईश्वर' तथा 'सृष्टि' को एक रूप भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस सृष्टि की सम्भावनायें हर क्षण विकसित हो रही हैं, सृष्टि हर क्षण अपनी अपूर्णता से पूर्णता की ओर अग्रसर हो रही है, और ईश्वर इन सभी सम्भावनाओं का रूप है। सृष्टि-विकास के रह पग में कुछ सम्भावनायें व्यक्त होती है, किन्तु अव्यक्त सम्भावनायें तो रह ही जाती हैं- इसी अर्थ में ईश्वर सृष्टि से 'परे' है, वह पूर्णरूपेण सृष्टि में परिवर्तन नहीं हो सकता।

किन्तु, तब यह प्रश्न उठता है कि जब इस सृष्टि की सम्पूर्ण सम्भावनायें सृष्टि में व्यक्त हो जायेंगी तो क्या वह 'सृष्टि का अन्तिम रूप' ईश्वर में परिणत हो जाएगा। राधाकृष्णन कहते हैं कि उस अवस्था में तो इस सृष्टि का प्रयोजन ही पूर्ण हो जाएगा, और ईश्वर में पुनः अपने ब्रह्म-रूप में लीन हो जाएगा। राधाकृष्णन कहते हैं कि इस दृष्टि से 'निरपेक्ष सत् या ब्रह्म' तथा 'सृष्टि' की सम्पूर्ण सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति की स्थिति दो छोर हैं, और ईश्वर की सृष्टि का खेल इन दोनो छोरों के बीच तक ही सीमित है। बड़े स्पष्ट रूप में वे कहते हैं, "The beginning andthe end are limiting conceptions, and the great interest of the world centres in the intermediate process from the beginning to the end."

आत्म का स्वरूप : राधाकृष्णन के आत्म के स्वरूप-सम्बन्धी विचार को समझने के लिए प्रारम्भ में ही दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। प्रथमतः तो यह स्पष्ट ही है कि उनका आत्म-विचार भारतीय विचार परम्परा के अनुरूप ही है, अतः आत्म का केन्द्रीय रूप आध्यात्मक-रूप है, अभौतिक है- जिसे 'आत्म रूप' ही कहा गया है। किन्तु इस विश्वास के साथ उन्हें मानव की वर्तमान स्थिति-मानव-अस्तित्व विधाओं की भी स्पष्ट अवगति है। अतः उनके आत्म विचार की दूसरी विशेषता है कि वे यह भी समझते हैं कि आध्यात्मिकता पर बल देना का यह अर्थ नहीं है कि मानव की भौतिक, जैविक, तथा मानसिक वृत्तियों की सर्वथा उपेक्षा हो जाय। उनकी यह धारणा मानव की आधुनिक अस्तित्वमूलक विधाओं की स्पष्ट अनुभूति के कारण और दृढ़ हो जाती है। सामान्यतः मानव मनौवैज्ञानिक - भौतिक मानव होता है, जिसके जीवन में सहज प्रवृत्तियां, इच्छाओं, प्रयोजन आदि का प्रबल महत्व रहता है। यदि मानव-सम्बन्धी कोई विचार इनकी ओर ध्यान नहीं देता तो वह विचार ही वास्तविकता से हटा प्रतीत होता है। इस प्रकार राधाकृष्णन को लगता है कि मानव एक विचित्र मिश्रण है- भौतिक तथा अभौतिक तत्वों का स्वार्थमूलकता तथा आत्मोत्सर्गता की प्रवृत्तियों का, स्वार्थ और सार्वभौम प्रेम का। मानव-सम्बन्धी हर विचार को, और इसलिये राधाकृष्णन के आत्म-विचार को भी मानव के इस विचित्र स्वरूप पर ध्यान रखते हुए रूप लेना आवश्यक हो जाता है।

वैसे उनके लिये भी बड़ा सुगम था कि वे मानव के इस जैविक-भौतिक पक्ष को वास्तविक नहीं मानते, उसे असत् कह देते। कुछ प्राचीन भारतीय विचारकों ने ऐसा किया भी है। किन्तु राधाकृष्णन जैसे आधुनिक काल के विचारक को इस प्रकार का निषेध ही स्वीकारते हैं कि मानव अन्ततः आत्म-रूप ही है, आध्यात्मिकता उसका स्वरूप है, किन्तु वे यह भी कहते हैं कि मानव का जैविक-भौतिक पक्ष भी अवास्तविक नहीं है, इनकी अपनी सत्ता, अपना महत्व एवं मूल्य है। और वे यह भी कहते हैं कि इन दोनों विचारों को एक साथ स्वीकारने में कोई तार्किक असंगति भी नहीं है। उनका कहना है कि मानव के भौतिक पक्ष की अपनी सत्ता है, और इस विचार को स्वीकारने से मानव का मूल आत्म-रूप खण्डित भी नहीं होता। यह

राधाकृष्णन के आत्म-विचार की मूल दृष्टि है, और इसी दृष्टि के अनुरूप उनका आत्म-विचार सर्जित हुआ है।

पहले हम यह देखें कि राधाकृष्णन की आधुनिकता की अवस्था को किस रूप में देखते हैं, क्योंकि उस पृष्ठभूमि में उनका विचार आगे बढ़ता है। उनका कहना है कि वैसे ऊपर से देखने पर, बाह्यरूप में आज का मानव अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक सम्पन्न प्रतीत होता है, उसे सुख, सुविधा के ऐसे साधन उपलब्ध हैं जिनकी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। वैज्ञानिक उपलब्धियों ने आवश्यकता ही की नहीं, बल्कि आराम तथा ऐश्वर्य के साधन भी उसके निकट रख दिया है। किन्तु ध्यान से देखने पर प्रतीत होता है कि समृद्धि, आराम आदि के होते हुए भी आज का मानव 'अशान्त' प्रतीत होता है। जीवन का उत्साह, जीने की उत्कंठा को वह खो रहा है, वह अनावश्यगक ढंग से कार्यरत है तथा उसका जीवन एक प्रकार से 'ऊब' का जीवन हो गया है। अब कोई कार्य ऐसा नहीं है जो उसे बांध सके, वह हर कार्य से शीघ्र ही ऊब जाता है। 'मन नहीं लगता' यह आज के मानव का आम रोग हो गया है। राधाकृष्णन कहते हैं कि इन बातों को प्रमाणितकरने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि ऐसे उदाहरण तो हर समय ही दिखाई देते रहते हैं उनका कहना है कि इस स्थिति का एक कारण तो यह भी है कि मशीनी उपलब्धियों के साथ जीते-जीते हमारा जीवन भी मशीनी हो गया है, और मानव के इस मशीनीकरण के फलस्वरूप हम अपनी भावना-अपनी मानवीयता को ही खोते जा रहे हैं। राधाकृष्णन के लिये यह एक प्रश्न है- मानवीयता का इस प्रकार का हनन क्यों हो रहा है?

उन्हें प्रतीत होता है कि इसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि हम 'वैज्ञानिकता' पर आवश्यकता से अधिक बल दे रहे हैं। विज्ञान की प्रवृत्ति है कि वह मानव का चित्रण भी यन्त्रवादी ढंग से ही करता है, इसका दावा है कि मानव के हर पक्ष को वैज्ञानिक ढंग से जाना जा सकता है, यह मानव शरीर के हर अवयवों की क्रियाओं को जानने का दावा करता है। किन्तु, राधाकृष्णन का कहना है कि विज्ञान यही नहीं समझ पाता कि, उसका सारा ज्ञान बाह्यता का ज्ञान है, और वह 'मानव' का ज्ञान नहीं है। शरीर के अंगों-अवयवों की क्रियाओं को जानना 'मानव' को जानना नहीं है। अतः उनका कहना है कि मानव का जो चित्र विज्ञान प्रस्तुत करता है, वह मानव का वास्तविक चित्र नहीं है। यह एक संकीर्ण तथा अपूर्ण चित्र है। विज्ञान मानव का भी अध्ययन कुछ उसी ढंग से करता है जैसे वह भौतिक तत्वों का अध्ययन करता है। किन्तु वह नहीं समझ पाता कि मानव की वास्तविकता को उस प्रकार समझा ही नहीं जा सकता। फिर भी आधुनिक मानव विज्ञान के प्रभाव में विज्ञान के द्वारा चित्रित मानव को ही अपना यथार्थ स्वरूप समझ लेता है और अपने को छोड़ देता है मशीनीकरण के लिये। फलतः वैज्ञानिक प्रयोगों का विषय मात्र बन जाता है। यह वस्तुतः उसके लिये अपनी मानवीय विशिष्टता का विस्मरण है, और यही विस्मरण उसके अमानवीकरण का कारण है।

किन्तु इस विवेचना से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि मानव का यह वैज्ञानिक चित्र सर्वथा अयथार्थ एवं असत् है। राधाकृष्णन कहते हैं कि यह मानव के मात्र एक पक्ष का चित्र है- भौतिक पक्ष है। उसकी भूल यही कै कि इस आंशिक चित्र को ही वह मानव का पूर्ण चित्रण मानता है। वह समझ ही नहीं पाता कि मानव के ऐसे पक्ष भी हैं जिन्हें इन्द्रियां, मस्तिष्क तथा वैज्ञानिक प्रयोग पकड़ ही नहीं सकते। राधाकृष्णन विज्ञान के विरूद्ध नहीं, किन्तु अति वैज्ञानिकता में जो अतिशयता है, उसका स्पष्ट निर्देश कर देते हैं।

अब यह स्पष्ट हो गया कि राधाकृष्णन के अनुसार मानव-आत्म के दो पक्ष है- एक तो वह पक्ष जिस पर ध्यान केन्द्रित कर विज्ञान मानव का चित्र उतारता है, तथा दूसरा वह पक्ष जो विज्ञान की अन्वेष्य दृष्टि से परे है। राधाकृष्णन को इन दोनो पक्षों को 'शरीर' और 'आत्मा' के नामों से विभूषित करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऐसा कहने से धारणा बनती है कि 'आत्मा' में वैसे ही गुण हैं जो 'शरीर' में सर्वथा अनुपस्थित हैं। अतः राधाकष्णन इन दोनो पक्षों का निर्देश अपने ढंग से करते हैं। पहले को वे मानव-आत्म का 'ससीम पक्ष' (Finite aspect of Man) कहते हैं, तथा दूसरे को 'असीम पक्ष' (Infinite aspect of Man) कहते हैं। यह ठीक है कि ससीम पक्ष में अधिकतर प्रवृत्तियां एसी हैं जो शारीरिक है, किन्तु शारीरिक प्रवृत्तियों में भी आध्यात्मिकता का साक्ष्य उपलब्ध रहता है। राधाकृष्णन ने 'आत्म' शब्द का प्रयोग बहुत ही विस्तृत अर्थ में किया है, यहां तक कि ऐसी शारीरिक क्रियायें इनमें 'स्व' से ऊपर उठने की प्रवृत्ति दिखाई देती है- वैसी क्रियाओं को भी वे आत्म-क्रियायें ही कहते हैं। अतः उनके 'आत्म' शब्द के इस विस्तृत अर्थ को समझने के लिये मानव आत्म के दोनो पक्षों का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है।

किन्तु इसके पहले मानव-आत्म की उन विशिष्टताओं को प्रकाश में लाना आवश्यक है जिनके कारण ही वह अन्य जीवों या अन्य तत्वों से सर्वथा भिन्न हैं।

मानव-आत्म की एक विशिष्टता, जो किसी अन्य जीव या पदार्थ में नहीं है, यह है कि मानव को उसके जाति-गुणों के आधार पर नहीं जाना जा सकता। प्रकृति हर अन्य पक्ष में जाति-गुण की प्रधानता रहती है। यदि कोई किसी स्फटिक या किसी पौधा या किसी निम्नतर जीवन के जाति-गुण को जान लेते हैं तो उसका अर्थ हो जाता है कि हमने उसे पूरी तरह जान लिया, क्योंकि इन सबों में जो एक उदाहरण केलिये सत्य है, वह उस जाति के सभी सदस्यों के लिये सत्य है। एक चूहे पर किये गये प्रयोग के आधार पर स्थापित निष्कर्ष सभी चूहों पर लग जाता है। किन्तु मानव के साथ ऐसा नहीं हो सकतऽ, मानव के सामान्य लक्षणों कीजानकारी के आधार पर हम नहीं कह सकते कि हमने सभी व्यक्तियों को जान लिया। एक ही परिस्थिति में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की प्रतिक्रियायें भी भिन्न-भिन्न होती हैं। मानव-आत्म के संदर्भ में वैयक्तिक गुणों की प्रधानता रहती है- जाति-गुणों की नहीं। इसी कारण राधाकृष्णन प्रायः टैगोर के समान ही कहते हैं कि मानव के विवरण में 'वैयक्तिक विशिष्टता' को प्रधानता देना आवश्यक है। इसकी उपेक्षा से मानव-आत्म का विवरण अयथार्थ हो जाएगा।

आत्म के कार्यों में एक अन्य विशिष्टता भी दिखाई देती है जिस पर भी हर मानव-आत्म-विवरण को पूर्ण ध्यान देना अनिवार्य है। मानव-जीवन के विश्लेषण से यह बात स्पष्ट होती है। मनुष्य अन्य जीवों से इस प्रकार भी भिन्न है कि वह कार्य-योजना बना सकता है, कोई पग उठाने के पहले अच्छी तरह सोच-विचार एवं चिन्तन कर ले सकता है। वह यदि चाहे तो पहले ही से अपना लक्ष्य निर्धारित कर ले सकता है, और उसकी प्राप्ति के लिये योजनाबद्ध एवं व्यवस्थित प्रयत्न कर सकता है। दार्शनिक भाषा में इस बात को इस रूप में व्यक्त किया जा सकता है कि मनुष्य में आगे-आगे जीने (Living ahead) की क्षमता है। राधाकृष्णन इस विशिष्टता को इस क्षमता को 'आत्म-अनुभवतीतता' (Selftranscendence) की क्षमता कहते हैं। इसका अर्थ है कि मानव में यह शक्ति है कि अपनी सामान्य क्षमताओं से ऊपर उठ सके। उसकी सामान्य क्षमतायों उसकी शक्ति की सीमा निर्धारित नहीं करती। वह किस दिशा में आत्म को ऊपर उठ सकता है यह पूर्व निर्धारित नहीं, किन्तु इसकी शक्ति उसमें हैं। राधाकृष्णन के अनुसार आत्म की सक्रियता कायह बड़ा ही महत्वपूर्ण पहलू है।

पुनर्जन्म-सिद्धान्त : अनेक आत्म का विचार तथा मृत्यु की वास्तविकता को देखते हुए राधाकृष्णन अपने दर्शन पुनर्जन्म-सिद्धान्त के लिये भी स्थान बना लेते हैं। यदि विभिन्न आत्माओं को सृष्टि के अन्त तक अस्तित्ववान रहना है तो इससे यह भी आपदित है कि उस समय तक उन्हें किसी न किसी रूप में जीवित रहना है - मृत्यु उनका अन्त नहीं है। अतः पुनर्जन्म-सिद्धान्त की प्राथमिक कड़ी है यह विचार कि मृत्यु अन्त नहीं है - आत्म मृत्यु के बाद भी 'है'। और तब प्रश्न उठता है कि मृत्यु के उपरान्त वह जीवित किस रूप में रहता है? राधाकृष्णन इसी के उत्तर में कहते हैं कि वह पुनः जन्म लेता है। इस पुनर्जन्म की प्रक्रिया का चित्रण सरल नहीं है। किन्तु इसकी सम्भावना का विचार निराधार नहीं है, अटकल नहीं है, बल्कि साक्ष्यों पर आधृत अनुमान है। यह सामान्य अनुभव है कि व्यक्ति की मृत्यु तक भी उसकी अनेकों इच्छायें, कार्य-प्रेरणायें, स्वचालित प्रवृत्तियों अतृप्त रह जाती है। तो यह मानना पड़ता है कि उनसे जो शक्ति जनित हुयी है, वह कार्यरत होगी ही; उन अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति के लिये पुनः अवसर मिलेगा। कोई स्पष्टरूप मिलेगा। आत्म में निहित सम्भावनायें एक जीवन में व्यक्त नहीं हो पातीं, तो पुनः जीवन प्राप्त होने का विचार अनर्गल नहीं है।

पुनर्जन्म को अस्वीकारने का सबसे प्रबल आधार यही है, इसका किसी रूप में स्पष्ट साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया जाता। न किसी को विगत जीवन की स्मृति है, न आगे की कोई सूझ। किन्तु राधाकृष्णन को इस प्रकार के तर्क के आधार पर पुनर्जन्म को अस्वीकार करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। मां के गर्भ में कोई कैसे पहुंचा- इसकी भी किसी को कोई स्मृति नहीं, किन्तु मात्र इतने ही से इसे अस्वीकारा नहीं जाता, क्योंकि अन्य साक्ष्यों पर-गर्भाधान की प्रक्रिया - गर्भ में विकास आदि के आधार पर उसका अनुमान स्वीकार्य है। स्मृति तो शरीर-आश्रित क्षमता है, अतः शरीर के अन्त के साथ उस क्षमता का भी अन्त हो जाता है। तो विगत जीवन की स्मृति तो नहीं ही रह सकती। किन्तु जीवन में एसी प्रवृत्तियों के यथेष्ट साक्ष्य उपलब्ध है जिनके आधार पर विगत के जीवन की सम्भावना को स्वीकारा जा सकता है। नवजात शिशु की प्राथमिक क्रियायें, व्यक्ति के व्यवहारों से कुछ विचित्रतायें, या आकस्मिकतायें आदि ऐसे तथ्य हैं जिनकी कोई व्याख्या नहीं हो पाती। उनके आधार पर विगत जीवन की सम्भावना को स्वीकारना तर्कसम्मत अनुमान है। और तब पुनर्जन्म विचार को युक्तिसंगत आधार मिल जाता है।

धर्म का सार-रूप : तो अब यह स्पष्ट हो गया कि जो जीवन धार्मिक अनुभूति की चरमता तथा परम महत्व पर बल दे वही धार्मिक जीवन है। अतः धार्मिक अनुभूति से ही धर्म का वास्तविक स्वरूप निर्धारित होता है।

धर्मों के इतिहास में हर प्रकार के उदाहरण उपलब्ध है, कहीं धर्म को भावना, संवेगात्मक भाव तथा भावनात्मक आभिवृत्ति के साथ जोड़ा जाता है, तो कहीं इसे मूल प्रवृत्ति, या धार्मिक प्रथाओं या पारम्परिक रीतिरिवाजों में उतारने की

चेष्टा होती रही है। राधाकृष्णन का कहना है कि ऐस सभी विचारों में कुछ सच्चाई तो है ही किन्तु जिस प्रकार वे अपनी बात पर बल देते हुए अन्य तथ्यों को नकार देते हैं, वह यथार्थ नहीं है। वे जिन 'तत्वों' का उल्लेख करते हैं, वे सभी कुछ न कुछ अंश में धर्मों में विद्यमान है, किन्तु उनका यह कहना कि धर्म में मात्र उतना ही है स्पष्टतः गलत है। धर्म इन सभी तत्वों का समन्वयित रूपहै। इसमें ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा क्रियात्मक सभी अंश है, इनमें धार्मिक प्रथा, रीतिरिवाज आदि के लिये भी स्थान है।

राधाकृष्णन कहते हैं कि वस्तुतः सभी धार्मिक मतभेदों या विवादों के पीछे मूलतः यही बात रहती है कि हर पक्ष धर्म के किसी एक पहलु पर पूरा बल दे देता है तथा अन्य पहलुओं की उपेक्षा करता है जिन अन्य पहलुओं पर दूसरे बल देते हैं। यदि हम सभी धर्मों के मूल में जाकर देखें, तो स्पष्ट हो जायगा कि सभी धर्मों में एक ऐसी मूल एकरूपता है जो इनकी विभिन्नताओं से ऊपर उठी हुयी है। विवाद या मतभेद तब उत्पन्न होता है जब कोई धार्मिक पक्ष धर्म के किसी एक लक्षण पर बल देता हुआ उसे ही धर्म का सार-रूप मान लेता है।

अतः राधाकृष्णन का कहना है कि इस प्रकार के धार्मिक विवाद धर्म के सार-रूप से सम्बन्धित विवाद नहीं है। बल्कि वे तो धर्म के सार-रूप को नहीं समझ पाने के कारण उत्पन्न होते हैं। हम सभी किसी विशेष धार्मिक समुदाय के अन्तर्गत ही जन्म लेते हैं, तथा उसी समुदाय की धार्मिक परम्परा के अनुरूप हमारा लालन,पालन, शिक्षण आदि होता है। फलतः काल-क्रम में हम उसी रूप में सीखे हुए प्रतीकों के द्वारा 'परम सत्' को समझने की चेष्टा करते हैं। हमारे सभी ढंग या प्रतीक इसी प्रकार की परम्परा से सृजित हैं। फलतः हम भूल जाते हैं कि जिसे हम इन सीखे हुए माध्यमों के द्वारा समझने की चेष्टा कर रहे हैं, वह वस्तुतः इन सबों से परे है। हमारे ढंग तो आकारिक प्रतीक हैं, जिनकी हमें जीवन में आवश्यकता है, किन्तु हमारे लिये 'प्रतीक' तथा 'उससे जो सूचित हो रहा है' इसके भेद का विस्मरण वांछनीय नहीं है। प्रतीक विभिन्न हो सकते हैं, किन्तु उन सबों से सूचित होने वाला 'सत्' एक है। प्रतीकों के भेद के कारण ही विभिन्न प्रकार के धर्मों का उद्‌भव हो जाता है, किन्तु यह स्मरण रखना है कि उनका सार-रूप एक है, क्योंकि वे सभी एक सत् को व्यक्त करने के प्रयत्न हैं।

धर्मों का यह सार-रूप क्या है? वह मूल सार्वभौमभाव क्या है जो सभी धर्मों में निहित है। राधाकृष्णन कहते हैं कि वस्तुतः धर्म कोई सिद्धान्त या निर्देश नहीं है, यह तो 'सत् की अन्तर्दृष्टि' है । वे कहते हैं, "Religion is not a creed or a code, but an insight into reality." इस अन्तर्दृष्टि को समझने से एक सार्वभौम तथ्य स्पष्ट होता है कि मानव के ही अन्तर में 'कुछ' है, जो मानव के दृश्यरूप से उच्चतर हैं। वही 'कुछ' सत् -रूप है जो मानव-आत्म में स्थित है, तथा वही मानव के सीमित तथा असीम रूपों के मद्य सेतु-रूप है। इसी बात को समझ धर्म के सार-रूप की समझ है। अतः राधाकृष्णन कहते हैं कि धर्म की वास्तविकता धर्म का सार-रूप जीवन के उस ढंग के व्यक्त होता है जिस ढंग से मानव अपने सामान्य स्वभाव को इस प्रकार परिणत कर ले कि उसके जीवन में 'ईश्वरत्व' व्यक्त हो सके, आत्म में निहित उस 'सत्त-रूप-कुछ' की अभिव्यक्ति हो सके। "[a way of life which enables man to] make a change in his own nature to let he Divinein him manifest himself." धर्म का अर्थ है परम आध्यात्मिक मूल्यों तथा उन्हें प्राप्त करने के ढंगों में आस्था।इस आस्था में परात्म के प्रति उन्मुखता निहित है, अतः यह विश्वास निहित है कि परात्मकता की अनुभूति सम्भव है। यही कारण है कि श्रेष्ठ धर्मों के आधार वे ही 'सत्य' बने हुए हैं जिन्हें पैगम्बरों, द्रष्टाओं ने देखा तथा समझा था। अतः कहा जा सकता है कि 'धार्मिक अनुभूति की भावात्मक वास्तविकता में आस्था' ही धर्म का वास्तविक स्वरूप है - उसका सार-रूप है। वे कहते हैं, 'Religon is theaffirmation of the ultimacy of religious experience.'

****

प्लेटो

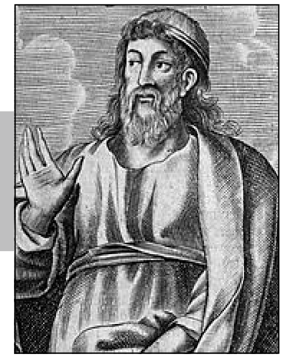

ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के विषय में अनेक दार्शनिकों और चिन्तकों ने ऐसी सर्वश्रेष्ठ उक्तियों को प्रकट किया है, जिसके विषय में किसी ने आज तक प्रतिवाद नहीं किया है। किसी ने कहा कि ''प्लेटो का दर्शन विचारों का खजाना सिद्ध हुआ है।'' कोई प्लेटो को 'ग्रीक का सबसे बुद्धिमान पुरुष' कहता है तो कोई कहता है कि 'प्लेटो तत्वज्ञान है और तत्वज्ञान ही प्लेटो है।' कुछ लोग कहते हैं कि 'प्लेटो यदि दार्शनिक न हुआ होता तो वह बहुत बड़ा कवि होता।' यहाँ तक कि प्लेटो को पूर्ण ग्रीक (Complete Greek) तक की उपाधि मिली है। प्लेटो के व्यक्तित्व के विषय में फ्रैंक थिली की इस उक्ति को सहज रूप में स्वीकार कर लेना बड़ा ही स्वाभाविक प्रतीत होता है। उनके शब्दों में ''प्लेटो एक कवि और रहस्यवादी तथा दार्शनिक थे। उनके भीतर दो बड़ी शक्तियों तार्किक विश्लेषण और अमूर्त विचारों का अनोखे रूप में मिश्रण तो था ही उसके साथ-ही-साथ कवित्व की कल्पना का उड़ान तथा गहन रहस्वादी भावना की उपस्थिति भी थी। उनका ही-साथ कवित्व की कल्पना का उड़ान तथा गहन रहस्यवादी भावना की उपस्थिति भी थी। उनका चरित्र उत्तम था। वह जन्म से कुलीन तथा स्वभाव से ऐसे आदर्शवादी थे, जो किसी अन्यायपूर्ण कार्यों से समझौता नहीं करते थे।'' प्लेटों को 'अफलातून के नाम से भी अभिहित किया जाता है। कहते हैं कि प्लेटो का वास्तविक नाम तो ''ऐरिस्टोक्लीज'' था, चूँकि प्लेटो का कंधा चौड़ा था, अतः उनके शिक्षक द्वारा उनका नाम प्लेटो रखा गया। ग्रीक भाषा में 'प्लेटो' शब्द का प्रयोग चौड़े कंधे के लिये किया जाता है, अतः 'प्लेटो' का यह नाम इस अर्थ में सार्थक सिद्ध होता है। ग्रीक भाषा में प्लेटो शब्द का उच्चारण 'प्लातीन' किया जाने के कारण अरबी भाषा में प्लेटो को ''अफलातून'' भी कहा जाने लगा। परन्तु सार्वप्रिय और प्रचलित नाम प्लेटो ही है।

प्लेटो का जीवन : प्लेटो एथेन्स के एक संभ्रान्त कुल में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम एरिस्टॉन (Ariston) तथा माता का नाम पेरिक्टोन (Perictone) था। पिता एथेन्स के अन्तिम राजा 'काड्रास' के वंश से थे और माता का सम्बन्ध अत्यधिक प्रसिद्ध कानूनवेत्ता 'सीलन' के वंश से था। इस प्रकार दोनो पक्षों से प्लेटो का संबंध एक कुलीन परिवार से था। कुलनीता का प्रभाव उनके ऊपर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। धनाढ्य और संभ्रान्त परिवार की परम्परा के अनुसार ही उन्हें संगीत, साहित्य (काव्य), चित्रकला एवं दर्शन की शिक्षा मिली। प्लेटो के जीवन की सबसे बड़ी घटना सुकरात से मिलने की कही जा सकती है। बीस वर्ष की अवस्था में प्लेटो की मुलाकात सुकरात से हुयी और लगभग आठ वर्ष की अवधि तक ही दोनो महापुरुषों का साथ रहा परन्तु प्लेटो के ऊपर सुकरात का प्रभाव आजीवन था। प्लेटो अपने को सुकरात का शिष्य और भक्त होने में गौरव का अनुभव करते थे।

प्रत्ययवाद (Theory of Ideas)

प्लेटो के प्रत्ययवाद की व्याख्या प्रस्तुत करने के पहले आवश्यक होगा कि प्रत्यय (Ideas) को स्पष्ट कर लिया जाय। प्रत्यय (Idea अथवा concept) का अर्थ है विशेषों में सामान्य रूप से पाए जाने वाले सारभूत गुण। अर्थात् वस्तुओं में सार्वभोमिक रूप में पाए जाने वाले मूल तत्व (essence)। 'प्रत्यय' को लक्षण या परिभाषा भी कहा जा सकता है। परिभाषा जाति का निर्देश होता है और 'विशेष गुण' का उल्लेख भी होता है। उदाहरण के लिये मनुष्य की परिभाषा (या लक्षण) करें तो 'मनुष्य' जाति का निर्देश होता है और मनुष्य में सामान्य रूप से पायी जाने वाली विशेषता या मूल गुण का उल्लेख भी होता है। उदाहरण के लिये मनुष्य की परिभाषा (या लक्षण) करें तो 'मनुष्य' जाति का निर्देश होता है और मनुष्य में सामान्य रूप से पायी जाने वाली विशेषता या मूल गुण का उल्लेख भी होता है। मनुष्य का विशेष गुण व्यक्ति (मोहन) का गुण विशेष न होकर सामान्य (जाति) मनुष्य का गुण होगा जो अन्य जाति या वर्ग के गुण से भिन्न होगा। जैसे 'मनुष्य' 'पशु' से अपने विशेष गुण के कारम ही पहचाना जाता है। मनुष्य व्यक्ति के रूप में गोरा, काला, लम्बा हो सकता है। यह उसका (व्यक्ति)

विशेष गुण है। परन्तु मनुष्य जाति का विशेष गुण या सारभूत तत्व (मूल तत्व) 'बौद्धिक प्राणी' है, जो पशुजाति से भिन्न है। इस प्रकार परिभाषा या लक्षण और कुछ नहीं, किसी प्रत्यय को शब्दों में प्रकट करना है। सारांश में किसी भी वर्ग के सामान्य गुण (लक्षण या परिभाषा) को 'प्रत्यय' कहा जाता है। तीन भुजाओं से घिरी आकृति त्रिभुज की परिभाषा भी है और 'प्रत्यय' भी है। त्रिभुज कहने मात्र से हमारे मनस में त्रिभुज का यही प्रत्यय उभरकर आता है।इस प6त्यय के सम्बन्ध में सुकरात और प्लेटो दोनो कहते हैं कि-सत्य ज्ञान प्रत्ययों का ज्ञान है (All knowledge is knowldedge through concepts) प्लेटो की समस्या का हल इसी प्रत्यय (या विज्ञान या जाति प्रत्यय अथवा सामान्य) के आधार पर होता है। यही प्लेटो की नयी तत्वमीमांसा है।

सारांश में प्लेटो के प्रत्ययवाद को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है -

(1) प्लेटो का प्रत्यय सिद्धान्त वास्तविक, अस्तित्ववान या तात्विक है। (2) प्रत्यय वस्तु-जगत की तुलना में अधिक तात्विक है। (3) प्रत्यय ही तात्तिवक है और इन्द्रियों से जाने वाले पदार्थ तात्विक नही है। इनमें अनित्यता है, सन्देह है,सापेक्षता है। इन्हें ज्ञान का विषय नहीं कह सकते। हमारे ज्ञान के विषय तो प्रत्यय हैं। ये प्रत्यय नित्य, सार्वभौम, सन्देह से रहित हैं। यही हमारे ज्ञान के विषय हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि इन्द्रिय-जगत की वस्तुएँ असत् हैं। प्लेटो इन्हें प्रतीति का विषय मानते हैं। कुछ लोगों के अनुसार प्लेटो इन्द्रिय-जगत को प्रत्यय-जगत का 'अंश' या 'प्रतिबिम्ब' मानते हैं और कुछ लोगों के अनुसार प्लेटो इन्द्रिय-जगत को प्रत्यय-जगत की 'अभिव्यक्ति' मानते हैं। प्लेटो का अभिप्राय यह है कि प्रत्यय के बिना हमें जगत का इन्द्रियानुभव भी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यय ही ज्ञान का वास्तविक विषय है। (4) प्रत्यय केवल मानसिक विचार नहीं है। इनका अस्तित्व स्वतंत्र रूप से मन के बाहर है। यही प्रत्यय इन्द्रिय-जगत की वस्तुओं के मूल तत्व हैं। इन्ही प्रत्ययों का वास्तविक ज्ञान होता है। अतः इन प्रत्ययों को केवळ मानसिक विचार नहीं कहा जा सकता। प्लेटो के प्रत्ययवाद को ैर अधिक स्पष्ट करने के लिए उसकी मूल विशेषताओं का उल्लेख किया जा सकता है। इससे प्रत्ययवाद का स्वरूप स्पष्ट हो सकता है।

प्रत्ययों की विशेषता

(1) प्रत्यय सामान्य (Universal Concepts) हैं- प्रत्यय का स्वरूप यह स्पष्ट करके बताया जा सकता है कि जगत के अनेक विशेषों या व्यक्तियों की सत्ता सामान्य के कारण ही संभव है। प्रत्यय 'सामान्य' के रूप में कहा जाता है। यह प्रत्यय की विशेषता भी है और स्वरूप भी। प्रत्यय 'सामान्य' के रूप में अपनी जाति के विशेषों में सामाहित रहते हैं और उनके कारण ही अन्य जाति के विशेष अलग सिद्ध होते हैं। इस प्रकार 'सामान्य' का कर्ा अपनी जाति के विशेषों में एकता उत्पन्न करना और उनका अन्य जाति के विशेषों से अलगाव उत्पन्न करना है। अतः सामान्य अनेक विशेषों में समाहित एकता है। 'सामान्य' की विशेषता यह है कि वह नित्य है।इसकी न उत्पत्ति होती है और न ही इनका विनाश ही होता है। ये बुद्धि द्वारा उत्पन्न की गयी कल्पना 'भी नहीं' है। इनकी सत्ता यथार्थ है। विशेष (व्यक्ति) इन सामान्यों का अनुकरण करते हैं।फिर भी विशेष सामान्य जैसे नहीं बन जाते।संसार में जितनी सुन्दर या कल्याणकारी वस्तुएँ हैं वे सभी 'सौन्दर्य' और 'शिव' (कल्या) के प्रत्यय के कारण हैं। अर्थात् इनके अनुकरण हैं। इसी को यह भी कहा जा सकता है कि विशेष 'सामान्य' में 'भाग लेते' हैं या विशेष सामान्य के ही 'प्रतिबिम्ब' या प्रतिरूप हैं। यहाँ प्लेटो एक दिव्य लोक की बात करते हैं और बताते हैं कि कैसे 'स्मृति' हमारे प्रत्यय है। ''ये सामान्य दिव्य प्रत्यय लोक में रहते हैं जहाँ अमर आत्मा इनका साक्षात्कार करती है। जब आत्मा संसार में आकर शरीर में सीमित होती है तो इसे ये सामान्य याद आते हैं। और यह 'स्मृति' ही हमारे प्रत्यय है जो इन सामान्य के प्रतिबिम्ब है।''

(2) प्रत्यय द्रव्य-स्वरूप होते हैं- द्रव्य वह है, जिसकी सत्ता स्वतन्त्र हो, जो निरपेक्ष हो अर्थात् जिसको किसी की अपेक्षा न हो। जो स्वयंभू हो अर्थात जो किसी से उत्पन्न न हुआ हो, जो अपना कारण स्वयं हो। द्रव्य गुणों का आधार होता है। परन्तु वह निराधार होता है। द्रव्य के इन सभी लक्षणों के आधार पर देखने से स्पष्ट होता है कि प्रत्यय में ये सभी लक्षण विद्यमान है। प्रत्यय निरपेक्ष, स्वतन्त्र और सारभूत तत्व है। प्रत्यय किसी पर आश्रित नहीं है। यह किसी के मन की कल्पना नहीं है। जगत की सारी वस्तुएँ इस पर आश्रित हैं।विशेष सामान्य पर आश्रित हैं। प्रत्यय सबका कारण है परन्तु स्वयं अकारण है। प्रत्यय स्वयंभू है।

(3) प्रत्यय वस्तुरूप नहीं विचाररूप होते हैं- प्रत्ययों का वस्तुगत अस्तित्व है। इसका अर्थ यह नहीं कि ये भौतिक वस्तु की तरह अपना अस्तित्व रखते हैं। प्लेटो के अनुसार इनका विचार रूप अस्तित्व है। फिर भी ये प्रत्यय किसी व्यक्ति के

विचार नहीं है। यही नहीं प्लेटो इन्हें ईश्वर के मन के विचार के रूप में भी नहीं मानते। प्रत्ययो को दैवी मन के प्रत्यय (Ideas of Divine mind) भी कहा गया है। इसका अर्थ यह नहीं कि ईश्वर के विचार हैं। इस कथन का अर्थ केवल काव्यात्मक रूप में लिया गया है। इनका स्वतः में अस्तित्व है। हमें इनके स्वतः में अस्तित्ववान होने की शंका इसलिए होती है कि विचार बिना विचार के नहीं हो सकते. परन्तु प्लेटो प्रत्यय को विचार रूप मानते हुए भी इसको किसी के मन की उपज नहीं मानते। प्रत्यय व्यक्तिनिष्ठ तो नहीं है परन्तु वस्तुनिष्ठ है। उनकी सत्ता किसी पर निर्भर नहीं है। उनकी सत्ता स्वयं है।

(4) प्रत्येक प्रत्यय इकाई होते हैं- इसका अर्थ होता है - अनेकता में एकता। एक जाति या वर्ग की वस्तुओं के लिये प्रत्यय एक ही होता है। इसीलिए प्रत्यय इकाई (Unit) कहे गये हैं। जैसे मनुष्य अनेक हैं परन्तु मनुष्य का प्रत्यय तो एक ही है। यही बात जगत की प्रत्येक प्रकार की वस्तु के लिए लागू होगी। अर्थात् हर वस्तु के लिए एक से अधिक प्रत्यय नहीं हो सकते। यदि प्रत्यय अनेक हों तो कई ऐसे विषय होंगे जिनके विषय में हम एक मत नहीं हो सकते, और मनमाना कार्य करेंगे।जैसे न्याय और शुभ के विषय में प्रत्यय की विविधता के कारण हमारा व्यवहार मनमानी होगा।

(5) प्रत्यय पूर्ण (Perfect) होते हैं - प्रत्ययों की विशेषता उनके पूर्ण होने में है। वस्तु या व्यक्ति किसी-न-किसी दृष्टि से अपूर्ण होते हैं। जैसे कोई सुन्दर वस्तु का प्रत्यय 'पूर्ण सुन्दर' प्रत्यय का रूप होगा। कोई वस्तु पूर्ण रूप से सुन्दर नहीं हो सकती। संसार की वस्तुएँ पूर्ण प्रत्यय की ओर अग्रसर हो रही हैं। जो वस्तु (पदार्थ) जितना ही अधिक प्रत्यय के निकट है, उतना ही सत् है अन्यथा असत्। अर्थात् जो वस्तु प्रत्यय के जितना निकट होगी उसमें उतनी ही अधिक पूर्णता होगी।

(6) प्रत्यय देश-काल से परे होते हैं -प्रत्यय की अन्य विशेषताओं से ही सिद्ध होता है कि ये देश-काल से परे होते हैं। यदि इन्हें देश-काल से परे नहीं मानते तो इनकी वस्तुओं की तरह किसी स्थान और समय विशेष में स्थित माना जाएगा।अतः इनको वस्तु-रूप मानना आवश्यक होगा, जबकि प्रत्यय वस्तुरूप नहीं, विचाररूप है, पूर्ण है, और द्रव्यस्वरूप है। विदित है कि वस्तु में ये सारी विशेषताएं नहीं पायी जाती। वस्तुओं को इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है, जबकि प्रत्यय इन्द्रियगम्य नही है। वस्तुएँ नश्वर होती है, जबकि प्रत्यय अनश्वर होते है। पूर्ण का कभी विनाश नहीं होता। इसकी सत्ता स्वयं में है, इनकी उत्तपत्ति किसी के कारण नहीं हुई है। वस्तुएं तो उत्पन्न की गयी होती हैं, और जिनकी उत्पत्ति होती है, उनका विनाश भी होता है। अतः प्रत्यय देश-काल से परे और अनश्वर रूप हैं।

(7) प्रत्यय अपरिवर्तनीय (Immutable) और अनश्वर होते हैं - प्रत्यय की अन्य विशेषताओं के आधार पर यह भी सिद्ध होता है कि ये अपरिवर्तनीय और अनश्वर होते हैं। जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है उसका विनाश भी होता है परन्तु प्रत्यय की उत्पत्ति नहीं होती, वह नित्य है और साथ ही अनश्वर भी है। इसका क्षय, विनाश और परिवर्तन नहीं होता। जिसका आदि और अन्त नहीं होता, वह नित्य, अविनाशी और परिवर्तनशील होता है। उदाहरण के लिए सुन्दर वस्तुओं की उत्पत्ति होती है, उनमें परिवर्तन होता है, उनका क्षरण होता है और अन्त में विनाश हो जाता है, परन्तु सौन्दर्य प्रत्यय में न परिवर्तन होता है और न उसका विनाश ही होता है। वह तो नित्य और अपरिवर्तनशील है।

प्रत्ययों के प्रकार (Kinds of Ideas)

प्रत्ययों की विशेषता के अंतर्गत प्रत्ययों के विभेद या प्रकार (Variety) का भी उल्लेख किया गया है। उल्लेखनीय है कि जहाँ सुकरात ने केवल नैतिक प्रत्ययों की चर्चा की थी, वहाँ प्लेटो ने अनेक प्रकार के प्रत्ययों का उल्लेख किया है। प्लेटो के अनुसार प्रत्ययों की विविधता को निम्नलिखित रूपों में बताया जा सकता है - जैसे,

(1) प्राकृतिक वस्तुओं के प्रत्यय - पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, नदी, पर्वत, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, आदि।

(2) मनुष्य -कृत वस्तुओं के प्रत्यय- मेज, कुर्सी, घड़ी, कलम, दावात, घड़ा आदि।

(3) नैतिक प्रत्यय - न्याय, शुभत्व, स्वच्छता, सुन्दरता आदि।

(4) अनैतिक प्रत्यय - असुन्दरता, अशुभत्व, अन्याय, दुराचार आदि।

(5) समस्त गुणों के प्रत्यय - सफेदी, भारीपन, ठोसपन आदि।

(6) गणितीय प्रत्यय - रेखा, वृत्त और त्रिभुज के प्रत्यय।

(7) मानवीय क्रियाओं और अनुभूतियों के प्रत्यय।

प्रत्यय के इन प्रकारों को देखकर यह पता चलता है कि प्लेटों ने संसार की सभी वस्तुओं के प्रत्यय की कल्पना की है। कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो प्रत्यय से व्याप्त न हो। ऐसा इसलिए भी कि प्लेटो के अनुसार प्रत्यय के बिना ज्ञान ही संभव नहीं है। अतः प्रत्यय रहित किसी वस्तु की कल्पना संभव नहीं। यहाँ तक कि कीचड़, धूल, नाखून आदि तक के प्रत्यय रहते हैं।

इस प्रकार सृष्टि के कण-कण में परम तत्व-प्रत्यय व्याप्त रहता है। प्रत्यय-रहित कोई वस्तु नहीं है।

प्रत्ययों का जगत (Kindom of Ideas)

प्रत्ययों के विषय में यह प्रश्न हो सकता है कि प्रत्यय रहते कहाँ है? चूंकि प्रत्यय (Ideas) विचार-रूप होते हैं अतः सहज ही सोचा जा सकता है कि प्रत्यय किसी विचारक के मन में होंगे, किन्तु प्लेटो का यह कहना है कि प्रत्यय बिना किसी विचारक के ही होते हैं। प्लेटो प्रत्यय के विषय में यह भी कहते हैं कि प्रत्यय बिना किसी विचारक के ही होते हैं। प्लेटो प्रत्यय के विषय में यह भी कहते हैं कि प्रत्यय देश कालातीत होते हैं। फिर प्रत्यय रहते कहाँ हैं? इसके विषय में प्लेटो का मत है कि प्रत्यय एक अलग संसार में विश्वास करते हैं, जिसे वे 'कोसमोई' कहते हैं। यही व्यवस्थित रूप में इसका ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। यही प्रत्ययों का जगत (Kingdom of Ideas) है। यह है तो बहुत ही व्यवस्थित जगत, परन्तु व्यवस्थित रूप में इसका ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। प्लेटो के अनुसार एक दार्शनिक का कर्तव्य यह है कि वह इस व्यवस्थित जगत का ज्ञान प्राप्त करे।

प्लेटो ने प्रत्ययों के साम्राज्य कोक पिरामिड के आकार का माना है। इसमें सारे प्रत्यय एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। शीर्ष पर केवल एक प्रत्यय होता है, जिसे प्लेटो 'शुभ' (Good) का प्रत्यय कहते हैं। इस रूप में प्रत्य के रूप में जानने को 'द्वन्द न्याय' (Dialectic) कहा गया है। प्लेटो के दर्शन में 'शुभ' प्रत्यय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह प्लेटो के दर्शन में वही है, जो पार्मेनाइडीन के दर्शन में 'सत्' है, स्पिनोजा के दर्शन में 'द्रव्य' है और शंकर के दर्शन में 'ब्रह्म' है।

शुभ का प्रत्यय (The Idea of the good)

जब यह प्रश्न आता है कि क्या प्रत्ययों में एकता है? या वे एक दूसरे से असंबद्ध है? क्या अशतत्व, घटत्व आदि प्रत्ययों में कोई एकता नहीं है? यहाँ प्लेटो का उत्तर यह है कि सभी प्रत्यय एक परम प्रत्यय में समावेशित होते हैं या एकता को प्राप्त होते हैं। इसी परम प्रत्यय या महासामान्य को प्लेटो ने शुभ-प्रत्यय (श्रेयस् प्रत्यय) (Form or Idea of the good) कहा है। शुभ-प्रत्यय सर्वोच्च और शक्तिशाली प्रत्यय है। जो सम्बन्ध विशेष अश्वों का 'अश्वत्व' (प्रत्यय) से है, वही सम्बन्ध प्रत्यों का शुभ-प्रत्यय से है। इस प्रकार प्रत्यय एक महासमष्टि के अंग के रूप में हैं। विशेषों की एकता का आधार उनका प्रत्यय है, और समस्त प्रत्ययों का आधार शुभ प्रत्यय है।

स्वयं प्लेटो ने यह शंका उत्तन्न की थी कि ''इन प्रत्ययों में परस्पर क्या सम्बन्ध है? क्या ये अस्त-व्यस्त और अनियमित समूह मात्र नहीं है? और स्वयं उन्होंने इसका उत्तर भी दिया है। उनके अनुसार ये प्रत्यय अस्त-व्यस्त नहीं है वरन् ये शुभ तत्व रूपी सूत्र में बंधे है। शुभ तत्व इनमें समाया है और इन्हें अनुप्राणित कर रहा है। उसी के कारण उनमें एकता और समन्वय है ।'' प्लेटो के इन विवरणों से शुभ प्रत्यय का स्वरूप स्पष्ट हो रहा है।

शुभ प्रत्यय का स्वरूप

शुभ-प्रत्यय अन्तिम द्रव्य है, प्रत्यय द्रव्य रूप है। वस्तु विशेष द्रव्य नहीं हो सकती। कारण यह है कि वस्तुओं की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती जबकि द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता होती है। वस्तु तो प्रत्यय की प्रतिलिपि (प्रतिरूप copy) मात्र होती है। अतः उनकी सत्ता का आधार प्रत्यय है। फिर भी प्रत्यय विशेषों की सापेक्षता में ही 'द्रव्य' है, प्रत्यय वस्तु विशेषों की एकता के आधार के रूप में द्रव्य हैं, न कि स्वतंत्र रूप में। ऐसी स्थिति में अन्तिम रूप से जो प्रत्ययों का आधार होगी वही द्रव्य कहलाएगी। अतः जो वस्तु अन्तिम द्रव्य है उसका ही नाम 'शुभ-प्रत्यय' है।

शुभ प्रत्यय को परम सत्, परम सुन्दर तथा परम् शुभ कहा गया है

'सिम्पोजियम', 'फीड्रस' तथा 'रिपब्लिक' में शुभ प्रत्यय को क्रमशः परम् सौन्दर्य (Suipreme Beauty), परम सत् (Supreme Being) तथा 'शुभ' या 'शिव' तत्व (Idea of the good) कहा गया है। परम् सौन्दर्य के रूपमें इसका चित्रण इस प्रकार किया गया है - ''न इस 'परम सौन्दर्य' की कल्पना किसी सुन्दर मुख या सुन्दर हाथ या अन्य किसी सुन्दर अंग की समानता से की जा सकती है और न इसकी कल्पना बुद्धि द्वारा या विज्ञान द्वारा की जा सकती है। इस पृथ्वी या स्वर्ग में कोई इसके समान नहीं। यह नित्य और सदा समरस है।''

'परम सत्' का चित्रण इस प्रकार है -''परम सत्' का न कोई रूप है, न कोई आकार और न कोई घनत्व। इसका साक्षात्कार केवल विशुद्ध प्रज्ञा से हो सकता है।..... तब यह एसा नहीं प्रतीत होगा जैसा सृष्टि में हो रहा है, उस समय वह अपने नित्य और विशुद्ध स्वरूप में प्राप्त होगा।''

'शुभ' या शिवतत्व' की रूपरेखा इस प्रकार है - ''शिव तत्व' 'शुभ' केवल सब वस्तुओं के (अर्थात् इन्द्रिय जगत के) ज्ञान का ही कारण नहीं है, वह उसी सत्ता और उसके स्वरूप का अर्थात् विज्ञानों (प्रत्ययों) का भी कारण है, फिर भी इस शिवतत्व को (अन्य विज्ञानों के सामने) केवल विज्ञान (प्रत्यय) ही नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसका गौरवपूर्ण स्थान और इसकी शक्ति विज्ञानों (प्रत्ययों) से बहुत ऊपर है।

संक्षेप में इस 'शुभ प्रत्यय' के स्वरूप के विषय में कहा जा सकता है कि यह 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम' है। अद्वैत वेदान्त की शब्दावली में यह 'सच्चिदानन्द' है। यह प्रत्ययों का भी प्रत्यय है। यह प्रत्ययों का अनर्यामी अधिष्ठान है। ''यह समस्त सत्ता और ज्ञान का मूल स्त्रोत है। यह आत्मा को ज्ञान शक्ति और दृश्य जगत को सत्ता प्रदान करता है। यह ईश्वर से भी ऊपर है।.....यह शिव तत्व (शुभ प्रत्यय), ईश्वर और प्रत्यय दोनो का कारण है। यह उनका भी प्राण है तथा शिव तत्व (शुभ) को ईश्वर का भी पिता (Father of that captain and cause) कहा है।''

(1) शुभ सर्वोच्च है - प्लेटो के अनुसार शुभ का प्रत्यय सर्वोच्च स्थान पर है। अर्थात् शुभ प्रत्यय अन्य प्रत्ययों का नियामक है। सभी प्रत्यय इसी से है। यह सभी पदार्थों को अस्तित्वमान बनाता है, सभीको सत्ता प्रदान करता है। इसी से प्रकृति का अस्तित्व है, जगत इसकी छाया है। यही सर्वोच्च सत्ता, ज्ञान और मूल्य है। शुभ के विषय में एक प्रश्न यह उठता है कि क्या शुभ प्रत्यय है? इस विषय पर मतभेद है। कुछ लोग कहते हैं कि (टेलर) जिस प्रकार सूर्य के रंग कहना अनुचित होगा, उसी प्रकार शुभ को प्रत्यय कहना उचित नहीं होगा। वास्तव में सभी प्रत्यय शुभ की अभिव्यक्ति मात्र है। इसके विपरित कुछ लोग तर्क देते हैं कि प्लेटो के विचारों को देखते हुए यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि शुभ प्रत्यय नहीं है। वास्तव में प्लेटो ने शुभ को प्रत्यय की विशेषता से ही अलंकृत किया है, परन्तु भेद यह है कि शुभ सर्वोच्च प्रत्यय है।

(2) शुभ 'पर', 'अपर' दोनों है- शुभ जगत में व्याप्त है और जगत के परे भी है। ''प्रोफेसर टेलर ने प्लेटो के शिवतत्व की ईसाई धर्म के ईश्वर से तुलना की है। यह तुलना आंशिक ही हो सकती है, क्योंकि दोनो सृष्टि के मूल कारण हैं, किन्तु ईसाई धर्म के ईश्वर केवल 'पर' है और यह शिवतत्व (शुभ) 'पर' और 'अन्तर्यामी' (अपर) दोनो हैं।

(3) शुभ अनिर्वचनीय है - शुभ को भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। उपनिषदों में भी परम सत्ता या तत्व को अनिर्वचनीय कहा गया है। यदि शुभ की व्याख्या की जाती है तो भाषा विरोधपूर्ण हो जाती है। प्लेटो इसकी व्याख्या विरोधपूर्ण ढंग से ही करते हैं। जैसे शुभ ''सत् है और सत् से भिन्न भी है।'' 'यह सर्वत्र व्याप्त भी है और साथ ही अप्राप्त आदर्श भी है।' 'अनिर्वचनीय शिव तत्व (शुभ) का इससे अधिक निर्वचन नहीं हो सकता। प्लेटो ने अपने शिष्यों के साक्षात् सम्पर्क में आकर तत्व का जो उपदेश दिया था उसको उन्होंने प्रकाशित नहीं किया। चरम उपदेश तो मौन ही है।''

(4) शुभ का अपूर्ण वर्णन - शुभ सभी सत्ता का मूल स्त्रोत है। इसलिए यह अनोखा और सभी वस्तुओं से भिन्न है। इसका पूर्ण वर्णन संभव नहीं है। इसके वर्णन में सादृश्यानुमान ही लागू हो सकता है। वास्तव में सम्पूर्ण रूप से इसका वर्णन संभव नहीं कहा जा सकता ।यह रहस्यपूर्ण है, क्योंकि सब कुछ कहने के बाद भी यह रहस्य ही बना रहता है।

प्लेटो का ज्ञान सिद्धान्त

प्लेटो ने अपने युग के दर्शन में सबसे महत्वपूर्ण विषय ज्ञान की समस्या को स्पष्ट रूप से समझा था। प्लेटो ने देखा कि साफिस्टो ने जो ज्ञान-सिद्धान्त प्रस्तुत किया था वह 'प्रत्यक्षीकरण' पर निर्भर था। अर्थात् ज्ञान और कुछ नहीं प्रत्यक्षीकरण है। इस मत का खंडन सुकरात पहले ही शुरु कर चुके थे। प्लेटो ने भी इसका खंडन करनाअपना लक्ष्य बनाया। प्लेटो ने 'थियाटिटस' नामक संवाद में 'ज्ञान प्रत्यक्षीकरण है', का खंडन किया है। प्लेटो ने अपने ज्ञान-सिद्धान्त को दो तरीके से बतलाने का प्रयास किया है- एक है, खंडन पक्ष और दूसरा है मंडन पक्ष। खंडन पक्ष में प्लेटो ने बताया है कि ज्ञान क्या नहीं है। इसके अन्तर्गत उन्होंने यह बताया है कि 'ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है' अर्थात इन्द्रियजन्य ज्ञान का खंडन किया है। मंडन पक्ष के अन्तर्गत बतलाया है कि 'ज्ञान बौद्धिक है' अर्थात् 'बौद्धिक ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है।' यहाँ क्रमशः 'ज्ञान प्रत्यक्ष है' तथा 'ज्ञान मत या धारणा है' का खंडन प्रस्तुत करेंगें।

'ज्ञान प्रत्यक्ष है' का खंडन

प्रोटागोरस तथा सॉफिस्ट विचारकों की मान्यता रही है कि ज्ञान इन्द्रियजन्य है। अर्थात् हमें इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वही वास्तविक ज्ञान है। प्लेटो इस मान्यता का खंडन करने के लिए निम्नलिखित तर्कों को प्रस्तुत करते हैं-

(1) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव, सत्य ज्ञान नहीं हो सकता - प्रोटागोरस तथा सॉफिस्ट दार्शनिकों द्वार जो यह तर्क

दिया जाता है कि 'ज्ञान प्रत्यक्षीकरण' है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव ही सत्य ज्ञान है, यह गलत है, क्योंकि इनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान सत्य है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि व्यक्ति को जो कुछ प्रतीत होता है, वहीं उसके लिए सत्य है, किन्तु भविष्य की घटनाएँ इसे असत्य सिद्ध कर देती हैं। जैसे किसी व्यक्ति को ऐसा प्रतीत हो सकता है कि वह अगले वर्ष चुनाव में विजयी होकर मन्त्रिमण्डल में ले लिया जाएगा, किन्तु वह चुनाव में ही असफल हो जाता है। अतः व्यक्ति का अनुभव (ज्ञान) सत्य सिद्ध नहीं होता।

(2) प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान परस्पर विरोधी होता है, असत्य और आभास (Appearance) मात्र होता है - प्रत्यक्ष से मिला हुआ ज्ञान परस्पर विरोधी होता है, जैसे दूर आकाश में उड़ता हुआ जहाज बहुत ही छोटा दिखायी देता है, जब कि वही जहाज जमीन पर बहुत बड़ा दिखलाई देता है। यह विरोध की स्थिति प्रत्यक्ष ज्ञान से ही तो उत्पन्न हुयी है। इसी से यह भी सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान असत्य है, न कि सत्य। यह भी कहा जाता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान वास्तविक नहीं आभास (Appearance) होता है। अतः आभास कभी सत् नहीं होता है। इसीलिए कहा जाता है कि "Sense perception does not reveal thetrue reality of things, but gives us mere appearance."

(3) शिक्षा और वाद-विवाद की संभावना समाप्त - प्लेटो के अनुसार 'ज्ञान प्रत्यक्ष' है इसलिए भी खंडित हो जाता है, कि यदि यह मान लिया जाता है तो शिक्षा की आवश्यकता नहीं रह जाती। जब छात्र और अध्यापक के प्रत्यक्ष समान है, तो छात्र को अध्यापक कुछ भी नहीं सिखा सकते। यही स्थिति वाद-विवाद में भी आती है। यदि 'ज्ञान प्रत्यक्ष' है, और यदि सबके प्रत्यक्ष सत्य है तो वाद-विवाद तो तब सम्भव है, जब अनुभव विरूद्ध हों, यदि दोनो सत्य हैं, तो विवाद की संभावना नहीं रह जाती।

(4) मनुष्य और पशु के ज्ञान में अन्तर कैसे होगा? - यदि प्रत्यक्ष ज्ञान को सत्य मान लिया जाता है तो मनुष्य प्रत्यक्ष करने वाला हुआ और उसे ही 'सभी वस्तुओं का मापदण्ड मानना होगा।' किन्तु पशु भी तो प्रत्यक्ष करने वाला प्राणी है। ऐसी स्थिति में मनुष्य की तरह पशु को भी मनुष्य के समान समस्त वस्तुओ का मापदण्ड मानना होगा। यदि ऐसा होता है तो फिर मनुष्य और पशु में अन्तर कैसा? या मनुष्य और पशु के ज्ञान में अन्तर कैसे किया जाएगा? यह प्रश्न एक जटिल स्थिति उत्पन्न करता है।

(5) आत्म-विरोधी सिद्धान्त - सॉफिस्टोका सिद्धान्त यह कहता है कि 'जो लोगों को सत्य प्रतीत हो, वही सत्य है। ठीक इसी सिद्धान्त का उपयोग करते हुए प्लेटो सॉफिस्टों के सिद्धान्त का खंडन करते हुए कहते हैं कि ''मुझे यह प्रतीत होता है कि सॉफिस्टों का सिद्धान्त असत्य है, तो उन्हें यह मान लेना होगा कि उनका सिद्धान्त असत्य है।'' अतः प्लेटो ने उनके सिद्धान्त से ही उनके मत का खण्डन कर दिया । इससे सिद्ध है कि सॉफिस्टों का मत असत्य और आत्मविरोधी है।

(6) सत्य की वस्तुनिष्ठता (Objectivity) का विनाश - सॉफिस्टों के सिद्धान्त को यदि सत्य मान लिया जाय तो सत्य की वास्तुनिष्ठता का विनाश हो जाएगा। 'ज्ञान प्रत्यक्ष है' या 'जो मैं देखता हूँ, मेरे लिए सत्य है', यदि इसे मान लिया जाय तो एक ही वस्तु एक ही समय में सत्य भी होगी और असत्य भी। एक व्यक्ति को सत्य प्रतीत होने पर वह उसे सत्य कहेगा, और दूसरे व्यक्ति को असत्य प्रतीत होने पर वह उसे असत्य कहेगा। अतः ऐसी स्थिति में वस्तु की सत्यता या असत्यता नष्ट हो जाती है। अर्थात सत्य की वस्तुनिष्ठता का विनाश हो जाता है। यदि सॉफिस्टों का यह सिद्धान्त मान लिया जाय तो सत्य और असत्य में भेद करना संभव नहीं होगा।सत्य का ज्ञान उसकी वस्तुष्ठिता पर निर्भर है। सत्य लिए सत्य है। सत्य वस्तुनिष्ठ होने पर ही सब के लिये सत्य होता है।

(7) प्रत्यक्षीकरण में भी बुद्धि की आवश्यकता है - प्लेटो के अनुसार प्रोटागोरस का यह कथन कि 'ज्ञान प्रत्यक्षीकरण है' या 'ज्ञान-इन्द्रिय संवेदनों तक सीमित है' सत्य नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनेक मानसिक क्रियाओं का होना आवश्यक है, बिना उन मानसिक क्रियाओं के प्रत्यक्ष की क्रिया पूरी नहीं होती और ज्ञान भी संभव नहीं होता।उदाहरण के लिए यह जानने के लिए कि, यह एक कागज का टुकड़ा है', इसे जानने के लिए हम केवल कागज के टुकडे कार्यों ही प्रत्यक्ष नहीं कर लेते। इसके लिए तुलना (Comparison) और वर्गीकरण करते हैं, वस्तुओ के वर्गीकरण में कागज का स्थान, रूप आकार कहाँ आता है, उसके ज्ञान के लिए रंग, आकार, आदि की एकरूपता और विभिन्नता को भी आधार भूमि में रखते हैं। बिना इन किग्राओं के 'कागज के टुकड़े' का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते।अर्थात हमारा प्रत्यक्षीकरण कई मानसिक क्रियाओं के सम्मिलन के पश्चात् ही पूर्ण होता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्यक्षीकरण में भी बुद्धि की आवश्यकता होती है। अतः यह कहना गलत है कि 'ज्ञान प्रत्यक्षीकरण है।' केवल इन्द्रिय प्रत्क्ष से ज्ञान असंभव है।

ज्ञान मत (Opinion) या धारणा है, का खंडन

प्लेटो इसका खंडन करने के पश्चात् कि 'ज्ञान प्रत्यक्ष है', इस मत का भी खंडन करते हैं कि 'ज्ञान मत या धारणा है (Knowledge is opinion) प्लेटो ने बताया है कि कोई भी मत चाहे वह 'मिथ्या' हो या 'सही मत' हो, ज्ञान नहीं है। इसका कारण यह है कि 'मत' या 'धारणा' बिना कारण बताए केवल 'भावना' पर आधारित होते हैं। यही नहीं 'मत' विश्वास पर निर्भर होते हैं। इसलिये इनका कोई मूल्य नहीं होता। (Yet opinion may e true or false, even when it is proved true, it rests on persuation or feeling and hence has no value whatever.) पुनः कहते हैं कि केवल मत या धारणा ज्ञान नहीं है, चाहे वह सत्य ही क्यों न सिद्ध हो जाय। वह अपने को ज्ञान के रूप में सत्य सिद्ध नहीं कर सकता। मत या धारणा के विपरीत वास्तविक ज्ञान जो तर्क पर आधारित होता है, वह स्वतः अपने को सत्य सिद्ध करता है। इसी को प्रो. थिली के शब्दों में देखें - "As mere opinion it is not knowledge since, even when it happens to be true, it can not justify itself. Genuine knowldege, on the other hand, which is based on reason, can authenticate itself" (वही 76) प्लेटो 'मत' काखंडन करते हुए कहते है कि सामान्यतः लोग 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष' और 'मत' के आधार पर चिन्तन करते हैं। उनके चिन्तन का कोई सिद्धान्त नहीं होता। अर्थात् उनको इसका ज्ञान नहीं रहता कि वे क्यों सोचते या चिन्तन करते हैं उसके पीछे उनका कोई सिद्धान्त या उद्देश्य नहीं बल्कि वासना या मूलप्रवृत्ति, रीति-रिवाज या आदतवश उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार छोटे जीव जैसे चींटी, मधुमक्खीयां बरें स्वार्थवश सुख की इच्छा और लाभ के लिए कार्य करते हैं। अतः आम लोग महान बेहोश सॉफिस्ट हैं। प्लेटो स्पष्टतः कहते हैं कि सॉफिस्ट आभास और सत् (वास्तविकता) तथा सुख की इच्छा तथा शुभ के बीच भ्रम और उलझन में पडे रहने के लिए अपराध बोध से ग्रसित है। अर्थात् सॉफिस्ट वास्तविक ज्ञान की स्थिति से परिचित नहीं हैं, प्लेटो के इस कथन से सिद्ध हैं कि 'मत' का वास्तविक 'ज्ञान' से भेद स्पष्ट हैं। ज्ञान वह नहीं है, जो 'मत' है। 'मत' से भिन्न ज्ञान है। प्लेटो के अनुसार 'इन्द्रिय-प्रत्यक्ष' और 'मत' से वास्तविक ज्ञान तक पहुँचने या बढ़ने की क्रिया तबतक पूरी नहीं होगी जब तक हारेअन्दर सत्य के प्रति इच्छा या प्रेम नहीं होगा। यह इच्छा हमारे अन्दर सुन्दरविचारों के आधार पर जागेगी और वहीं हमें सत्य तक पहुँचाएगी। सत्य से प्रेम ही हमें द्वन्द्वन्याय (Dialectic) के लिए प्रेरित करता है, यही हमें इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से विचार के प्रत्ययात्मक ज्ञान (Conceptional Knowldege), और विशेष से सार्वभौमिक ज्ञान तक उठने के लिए बाध्य करता है। सारांश में प्लेटो वास्तविक ज्ञान (Real Knowledge) को न तो प्रत्यक्षीकरण से प्राप्त किया मानते हैं और न ही मत या धारणा से बना हुआ मानते हैं। प्लेटो सत्य ज्ञान को प्रत्यात्मक कहते हैं। ज्ञान प्रत्ययात्मक होता है।

****

अरस्तू (Aristotle)

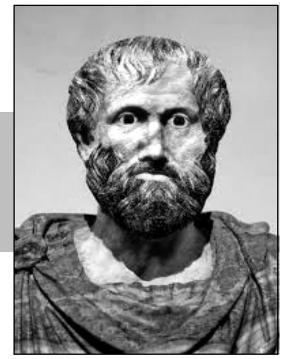

अरस्तू का जन्म 384 ई. पू. में एथेन्स के उत्तर लगभग दौ सौ मील दूर मेसीडोनिया शहर के स्टेगिरा नामक नगर में हुआ था। उनके पिता निकोमेशस मेसीडोन के राज फिलिप के राजवैद्य थे। 17 वर्ष की अवस्था में अरस्तु का प्रवेश प्लोटों की 'अकेडमी' में हुआ, जहाँ वे 20 वर्षों तक विद्यार्थी और अध्यापक के रूप में रहे। प्लेटों की मृत्यु (347 ई.पू.) के पश्चात् अरस्तू ने यात्रा प्रारम्भ की। कुछ दिनों तक भ्रमण के बाद वे पुनः एथेन्स लौटे और एक पाठशाला की स्थापना की। 342 ई.पू. में राजा फिलिप ने राजकुमार सिकन्दर (जो बाद में महान घोषित किया गया) को शिक्षा देने के लिए अरस्तू को बुलाया। सात वर्ष बाद वे पुनः एथेन्स लौट आए और अपनी सुप्रसिद्ध संस्था 'लाइसियम' की स्थापना की। इस संस्था को ग्रीक देवता लाइसियन अपोलो को अर्पित किया गया था, इसलिए संस्था का नाम लाइसियम पड़ा था। इसका दूसरा नाम पेरिपेटेटिक स्कूल अर्थात् पर्यटक स्कूल भी था। इस नाम का कारण यह है कि अरस्तू पर्यटन करते हुए शिक्षा देते थे। अरस्तू की शिक्षाएँ संवाद और व्याख्यानों द्वारा होती थी। 323 ई. पू. में सिकन्दर की अचानक मृत्यु हो जाने केबाद अरस्तू के ऊपर अधार्मिकता का आरोप लगाया गया। अतः वे एथेन्स छोड़कर चालसिस चले गए और वहीं एक वर्ष बाद 322 ई. पू. में उनका देहान्त हो गया।

हीगल जैसे दार्शनिक ने भी अरस्तु की प्रतिभा के विषय में कहा है कि ''अब तक जितनी प्रतिभाएँ उत्पन्न हुयी हैं, उनमें अरस्तू सर्वाधिक प्रतिभा-सम्पन्न थे। काल उनके समान प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति आज तक नहीं उत्पन्न कर सका है। यहां तक की सम्पूर्ण यूरोप में उनके समान प्रतिभावान पुरूष उनके बाद लगभग 2000 वर्ष तक उत्पन्न नहीं हुआ।'' अरस्तू अपने दर्शन को पूर्ववर्ती दार्शनिकों के विचारों का पूर्ण समन्वय मानते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक पूर्ववर्ती दार्शनिक ''तुतलाता हुआ अरस्तू'' है। अरस्तू की प्रतिभा का अन्दाजा इससे लगाया जा सकता है कि उन्होंने ज्ञान की किसी शाखा को अछूता नहीं छोड़ा है।

रचनाएं

अरस्तू ने मनोविज्ञान, आचारशास्त्र, राजनीति, तर्कशास्त्र आदि विद्याओं पर विचार किया। कहा जाता है कि वे तर्कशास्त्र और प्राणिशास्त्र के तो जन्मदाता ही थे। तर्कशास्त्र का विवरण उनके ग्रन्थ 'अर्गेनान' में मिलता है। 'नाइकोमेकियन एथिक्स' नीतिशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। राजनीति पर उनका पालिटिक्स नामक ग्रन्थ है, और साहित्यशास्त्र पर 'पोयटिक्स' है। प्राणीशास्त्र पर उनकी अनेक पुस्तकें हैं। अरस्तू के दार्शनिक विचारों का संग्रह जो उनके भौतिकशास्त्र के पश्चात् आया, 'मेटाफिजिक्स' है। कुछ लोगों के अनुसार अरस्तू के ग्रन्थों को चौथी शताब्दी ई.पू. का विश्व कोष कहा जाता है। कुछ लोगों के अनुसार अरस्तू के छोटे-बड़े ग्रन्थों की संख्या 1000 है और कुछ लोगो के अनुसार 400 है। किन्तु इनकी उपलब्धता के विषय में कहा जाता है कि इतने का चौथाई भाग ही उपलब्ध है।

अरस्तू की समस्याएँ

अरस्तू के समक्ष सबसे बड़ी समस्या प्लेटो के प्रत्यय से सम्बन्धित है। अरस्तू को इसमें कुछ ऐसी कठिनाइयाँ और असंगतियाँ देखने को मिलीं जिनको वैज्ञानिक तथा संगतपूर्ण बनाना आवश्यक था। अरस्तू ने इस समस्या को अपने दर्शन का विषय बनाया और एक संगतिपूर्ण समाधान ढूंढने का प्रयास किया। अरस्तू ने प्लेटो के प्रत्यय सिद्धान्त की अलोचनाएं की। अरस्तू ने भी अपने गुरू प्लेटो के समान ही प्रत्यय (सामान्य) को ही द्रव्य माना है।

अरस्तू सामान्य को कल्पना नहीं वास्तविक सत् मानते हैं। उनकी दृष्टि में प्रत्ययों का 'परे' होना ही एक बड़ी समस्या है, इस पर पुनर्विचार होना चाहिये। वास्तविक जगत से अलग प्रत्यय को स्वीकार करके प्लेटो ने बहुत बड़ी समस्या खड़ी

कर दी। एक काल्पनिक आकाशीय जगत हो गया और दूसरा जो व्यवहार और अनुभूत जगत है वह आभास मात्र रह गया।

दूसरे आकार तथा पदार्थ के बीच खाई थी। यह एक समस्या थी, जिसका संगतपूर्ण समाधान ढूंढना शेष था। पदार्थ और आकार के बीच इस प्रश्न का समाधान चाहिए था कि किस प्रकार दूर स्थित और अपरिवर्तनीय 'प्रत्यय' जड़ और अबौद्धिक पदार्थों को प्रभावित करता है? फिर प्रत्यय तो 'वस्तु' के सार-तत्व हैं, प्लेटो सार-तत्व को वस्तु से अलग कर देते हैं। यह कैसे संभव है कि किसी वस्तु का सार-तत्व, उस वस्तु के बिना अलग रहे? सार-तत्व को वस्तु में ही हो सकता है, न कि विस्तु का सार-तत्व, उस वस्तु के बिना अलग रहे? सार-तत्व तो वस्तु में ही हो सकता है, न कि वस्तु के बाहर। कुछ भी हो प्लेटो ने 'वस्तु' और 'प्रत्यय' के द्वैत को तो खड़ा कर ही दिया है।

प्लेटो ने इस द्वैत में से अरस्तू ने अपरिवर्तनीय शाश्वत 'आकार' को तो स्वीकार कर लिया परन्तु उसके 'परे' होने की बात को स्वीकार नहीं किया। प्रो. थिली के अनुसार अरस्तू ने प्रत्यय (आकार) को आकाश से नीचे पृथ्वी पर उतार लिया। अर्थात् अरस्तू ने बताया कि आकार (प्रत्यय) 'वस्तु' से अलग नहीं वरन उसी वस्तु में अन्तर्निहित रहते हैं। वे वस्तु से परे नहीं वस्तु में अनुस्यूत रहते हैं। आकार और पदार्थ अलग नहीं वरन् शाश्वत् रूप से एक साथ रहने वाले हैं। आकार और वस्तु मिलकर वस्तु विशेष की रचना करते हैं। प्रत्येक विशेष 'आकार' के नियन्त्रण और निर्देशन में ही गति, परिवर्तन वृद्धि और विकास करते हैं। यह इन्द्रिय जगत (व्यवहार जगत), वास्तविक जगत की नकल या छाया मात्र नहीं है। यह वास्तविक जगत है। 'आकार' और 'पदार्थ' एकमएक हैं और विज्ञान के सत्य विषय हैं। अरस्तू के वास्तविक जगत ने ही प्राकृतिक विज्ञानों को प्रोत्साहित किया।

अरस्तू ने प्लेटो के द्वारा पैदा की गयी समस्याओं का सामना किया और उसके संगतपूर्ण समाधान का प्रयास किया। अरस्तू के द्रव्य विचार के लिए उनके कारण सिद्धान्त को समझना आवश्यक है।

अरस्तू का कारणता का सिद्धान्त

कारण सम्बन्धी अरस्तू (384-322 ई.पू.) का मत - अरस्तू का कारण सम्बन्धी मत व्यापक है- इसमें 'कैसे' और 'क्यों' दोनो का समावेश है। अरस्तू ने कारण शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। कारण और हेतु में अन्तर होता है ।किसी वस्तु का कारण उसके लिए कोई हेतु नहीं प्रस्तुत करता और न तो उसकी व्याख्या प्रस्तुत करता है। कारण तो 'कैसे' का उत्तर है अर्थात् कारण केवल प्रक्रिया है, जिसके द्वारा कोई हेतु परिणाम उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए मृत्यु किसी भी कारण से हो सकती है - जैसे बीमारी से, आकस्मिक घटना से, किन्तु ये कारण इसकी व्याख्या नहीं करते कि मृत्यु 'क्यों' होती है। अरस्तू की विशेषता यह है कि इन्होंने अपने कारण की मान्यता में कारण तथा हेतु दोनो का समावेश किया है।

व्यापक अर्थ में ही अरस्तू ने कारण को चार भागों में बांटा है, वे हैं- (1) अपादन कारण, (2) निमित्त कारण, (3) स्वरूप या आकस्मिक कारण, (4) प्रयोजन कारण या अन्तिम कारण। इन चार प्रकार के कारणों की विशेषता यह है कि ये एक दूसरे के विकल्प नहीं होते। इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि किसी वस्तु की व्याख्या के लिए इनमें से एक या दूसरा कारण अवश्य उपस्थित होगा। किसी घटना के लिए इन चारों कारणों की उपस्थिति होती है। अर्थात् कोई घटना इनका संयुक्त परिणाम होती है। ये चारों कारण सब जगह पाए जाते हैं, चाहे मनुष्य और ब्रह्माण्ड की रचना हो या मनुष्य या प्रकृति द्वारा रचना की गयी वस्तु हो। कोई घटना क्यों घटित होती है, इसका उत्तर स्वरूप कारण तथा प्रयोजन कारण से प्राप्त होता है। अब इन चारों प्रकार के कारणों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है -

(1) उपादान कारण (Material cause) - किसी वस्तु का उपादान कारण उस पदार्थ को कहते हैं, जिससे उस वस्तु का निर्माण हुआ है। जब भी कोई परिवर्तन या कार्य उत्पन्न किया जाता है, तो वह किसी पदार्थ में ही संभव होता है, और कार्य उस पदार्थ की प्रकृति पर आश्रित होता है। उदाहरण के लिए पत्थर या संगमरमर उपादान कारण है, जिनका उपयोग कलाकार मूर्ति के निर्माण में करता है। पत्थर वह पदार्थ है, जिसमें परिवर्तन लाया जाता है। उपादान कारण का स्वरूप भौतिक और मानसिक दोनो हो सकता है।

(2) निमित्त कारण (Efficient cause) - इसे योग्य कारण भी कहते हैं। इसका अर्थ है वह कारण, जिसे हम योग्यता, चतुरता या परिश्रम कहते हैं और जिसका उपयोग वस्तु के निर्माण में होता है। वह शक्ति (Force) और गति है, जिससे किसी वस्तु का निर्माण होता है। यही उस वस्तु का निमित्त कारण है। इसे योग्य कारण भी कहते हैं, क्योंकि शिल्पकार या मूर्तिकार जब अपने परिश्रम और योग्यता या चतुरता को मूर्ति के निर्माण में लगाता है तो उसे मूर्ति का योग्य कारण कहते हैं। कभी-कभी कर्त्ता (मूर्तिकार या शिल्पकार) भी योग्य कारण या निमित्त कारण कहलाता है।

(3) स्वरूप या आकारिक कारण (Formal Cause) - किसी वस्तु का स्वरूप कारण या आकारिक कारण उस रूप या आकार को कहते हैं जो कि उस वस्तु पर रोपा जाता है। यह सर्वविदित है प्रत्येक वस्तु का कोई-न-कोई आकार या स्वरूप होता है और वह किसी-न-किसी पदार्थ से बना होता है। कार्य उत्पन्न होने का अर्थ है पदार्थ और वस्तु के रूप में परिवर्तन होना। जैसे कलाकार पतथ्यर या संगमरमर की शिला पर किसी व्यक्ति का आकार बनाता है।

(4) प्रयोजन का कारण या अन्तिम कारण (Final Cause) - किसी वस्तु के निर्माण का जो लक्ष्य का प्रयोजन होता है, वही उस वस्तु का प्रयोजन कारण कहलाता है। इसी प्रयोजन कारण के द्वारा ही वस्तु के निर्माण की सारी क्रियाओं को एक निश्चित दिशा मिलती है। इसे अन्तिम कारण इसलिए कहते हैं कि वस्तु को जो अन्तिम रूप वस्तु बनने के पश्चात् मिलता है, वह इसी प्रयोजन के कारण ही संभव होता है। वस्तु-निर्माण की सारी क्रियाएं उसी के निर्माण के लिए प्रेरित होती हैं।

चारों कारणों के दो ही मौलिक रूप हैं - उपादान कारण और आकारिक कारण

यद्यपि अरस्तू ने चार प्रकार के कारणों का उल्लेख और विश्लेषण किया है, परन्तु उनके अनुसार प्रयोजन कारण (या अन्तिम कारण) और निमित्त कारण (या योग्य कारण), स्वरूप कारण (या अकारिक कारण) के अन्तर्गत लिए जा सकेत हैं। प्रयोजन कारण घटना का लक्ष्य है। घटना का प्रोजन उस वस्तु का निर्मित रूप है। अतः यह उस आकार की सिद्धी है। अतः दोनो एक ही हैं। इसी तरह निमित्त कारण और स्वरूप कारण भी एक हैं। निमित्त कारण से परिवर्तन होता है, और प्रयोजन कारण ही परिवर्तित रूप कहा जा सकता है। इस परिवर्तन का कारण लक्ष्य है। इस तरह दोनो एक हैं। प्रयोजन कारण आकारिक कारण के अन्तर्गत आता है। अतः निमित्त कारण आकारिक कारण के अन्तर्गत आया। सारांश यह है कि कारमों के मूल रूप में दो ही कारण आ रहे हैं- एक उपादान कारण और दूसरा स्वरूप या आकारिक कारण। इन्हीं दोनो से किसी घटना की व्याख्या संभव है।

समीक्षा

1. मानवत्वारोपी- कुछ आलोचक अरस्तू के कारण-सिद्धान्त की आलोचना में यह कहते हैं कि आधुनिक विज्ञन अरस्तू के सिद्धान्त को मानवत्वारोपी मानता है। अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य किसी वस्तु में परिवर्तन करता है या मनुष्य क्रिया करता है, उसी प्रकार अरस्तु का कारण भी कार्य को उत्पन्न करता है। आलोचकों की दृष्टि में यह कारण की मानवत्वारोपी व्याख्या है। इस व्याख्या को वैज्ञानिक व्याख्या की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

2. अवैज्ञानिक - आलोचक अरस्तू के कारण सिद्धान्त की दूसरी आलोचना यह कह कर करते हैं कि अरस्तू का कारण सिद्धान्त अवैज्ञानिक है, क्योंकि वैज्ञानिक दृष्टि से केवल उपादान कारण तथा निमित्त कारण को ही किसी घटना का कारण कहा जा सकता है। स्वरूप कारण तथा प्रयोजन कारण को किसी घटना का वास्तविक कारण नहीं कहा जा सकता। कोई घटना 'क्यों' घटित होती है, इसका सम्बन्ध स्वरूप कारण तथापय6योजन कारण से है।वास्तव में इसका सम्बन्ध कार्य के हेतु से है। इतना ही नहीं अरस्तू का निमित्त कारण वैधानिक दृष्टि से (निमित्त कारण के विषय में विज्ञान की दृष्टि) मेल नहीं खाता। विज्ञान की दृष्टि में निमित्त कारण में ऊर्जा या शक्ति को माना जाता है, जबकि अरस्तू निमित्त कारण मनस को मानते हैं।

(3) कारण कार्य के पहले होना चाहिए, न कि कार्य करण से पहले- वैज्ञानिक दृष्टि से यह माना जाता है कि कारण कार्य के पहले होता है। अर्थात कारण कार्य का पूर्वगामी है, किन्तु अरस्तू के कारण सिद्धान्त से स्पष्ट रूप से कारण (स्वरूप कारण तथा प्रयोजन कारण) विचार की दृष्टि से कार्य के पहले आते हैं। उदाहरण के लिए घडे का रूप या उसके निर्माण का प्रयोजन मिट्टी में परिवर्तन के पहले ही होता है।

(4) अरस्तू का सिद्धान्त व्यापक है - अरस्तू तथा विज्ञान की कारण की मान्यता में अन्तर इस दृष्टि से भी है कि विज्ञान का सम्बन्ध केवल परिवर्तन से है, जबकि अरस्तू का सम्बन्ध 'क्यों' से है। अर्थात् कैसे घटना घटती है, केवल इतने से ही इसका सम्बन्ध नहीं वरन घटना क्यों घटती है, इससे भी अरस्तू के कारण सिद्धान्त का सम्बन्ध है। इससे सिद्ध होता है कि अरस्तू का सिद्धान्त वैज्ञानिक कारणता के सिद्धान्त से अधिक व्यापक है। इस दृष्टि से अरस्तू का सिद्धान्त मिल के सिद्धान्त से भी भिन्नता रखता है।

अरस्तू और ह्यूम का कारण सिद्धान्त

अरस्तू द्वारा किया गया कारण का वर्गीकरण ह्यूम को स्वीकार नहीं है। अरस्तू ने कारणके चार भेद किए। ह्यूम इनमें

से केवल निमित्त कारण (efficient cause) कोस्वीकार करते हैं। ह्यूम, अरस्तू के अन्य तीन कारम को वास्तव में 'कारण' नहीं है, ऐसा मानते हैं। ह्यूम के अनुसार कार्य को उत्पन्न करने वाला कारण केवल 'निमित्त कारण' ही हो सकता है। ह्यूम अपने इस मत के समर्थन में तर्क देते हुए अपनी पुस्तक 'ए ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर' में कहते हैं कि "शक्ति अथवा उत्पादकता सम्बन्धी हमारा प्रत्यय किन्ही दो वस्तुओं के सतत् सम्बन्ध के फलस्वरूप ही उत्पन्न होता है, अतः जहां यह सतत् सम्बन्ध नहीं पाया जाता वहीं किसी प्रकार का कारण नहीं हो सकता। इस उद्धरण से स्पष्ट होता है कि ह्यूम अरस्तू के परम्परागत वर्गीकरण से सहमत नहीं हैं।

अरस्तू का द्रव्य और आकार सिद्धान्त

भूमिका - अरस्तू की द्रव्य (Substance) की अवधारणा का प्रतिपादन प्लेटो की अवधारणा के विरोध में हुआ है। प्लेटो के अनुसार तो द्रव्य सामान्य (universal) या आकार (form) था, जिसका निवास स्थान प्रत्यय-जगत् (जो शाश्वत् और परे' (Transcendent) का जगत है) है। अरस्तू के लिए 'द्रव्य वास्तविक विशेष है'। (substance for Aristotle, is the concerate individual) अरस्तू ने प्लेटो के द्रव्य-सिद्धान्त (सामान्य) की आलोचनाकी है।

तत्वशास्त्र की मूल समस्या है सत्ता के अन्तिम सिद्धान्त का पता लगाना। किस प्रकार हम जगत की व्याख्या करेंगे, इसका मूल तत्व क्या है? इस समस्या के लिए अरस्तू का समाधान प्लेटो तथा डिमाक्रिस के सिद्धान्तों के बीच ढूंढा गया है। अरस्तू प्लेटो के प्रत्यय-जगत् को जो 'परे' जगत का है, उसे स्वीकार नहीं करते और डिमाक्रिटस के जड़तत्व को भीजो प्रत्ययों से अलग है, को अस्वीकार करते हुए दोनो के बीच अपनीस्थिति स्पष्ट करते हैं। अरस्तू के अनुसार न तो अकेला पुद्‌गल (जड़तत्व) सत्य है, और न अकेला आकार (form) ही। दोनो मिलकर ही सत्य हैं। दोनो की एकता ही सच्ची या तात्विक वस्तु है। यही अरस्तू का मूल सिद्धान्त है। अरस्तू नेअने सिद्धान्त को और अधिक स्पष्ट करते हुए बताया कि प्रत्यय या आकार पदार्थ (Matter) के अभाव में स्वतः अस्तित्ववान तत्व नहीं हो सकते । अरस्तू के अनुसार 'पदार्थ के बिना आकार संभव नहीं (There can be no form without matter)। अरस्तू प्लेटो के प्रत्यय सिद्धान्त की आलोचना के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे। इसी तरह भौतिकवादियों के सिद्धान्त की आलोचना के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उद्देश्यविहिन जड़तत्व द्वारा परिवर्तन सत्ता जो दिखाई पड़ रही है, उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। अतः बिना उद्देश्यपूर्ण निर्देशन या 'आकार' (Form) के कोई जड़तत्व (पुद्‌गल) नहीं हो सकता (Threre can be no matter without directing purpose or form) प्लेटो स्थूल जगत के अनुभव में आने वाले विषयों (वस्तुओं) को प्रत्यय (सामान्य) का अपूर्ण प्रतिरूप मानते हैं और प्रत्यय या सामान्य ही द्रव्य हैं। दूसरी और अरस्तू विशेष विषयों या वस्तुओं को ही वास्तविक द्रव्य मानते हैं। (Aristotle regards the particularobjects or individual beings as real substances.) परन्तु वस्तु विशेष का मूल्य तत्व या स्वरूप तो आकार (Form) से ही निर्धारित होता है।अर्थात् वस्तु की पहचान वर्ग के आवश्यक गुण से ही हो पाती है। इस प्रकार अरस्तु के लिए भी आकार या प्रत्यय आवश्यक तत्व हैं।

****

तुलसीदास

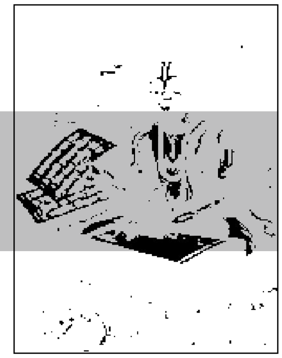

तुलसीदास भक्ति आंदोलन के महान पुरोधा थे। तुलसी लोक धर्म में विश्वास रखते थे। लोक धर्म का अर्थ लोक कल्याण था। तुलसी के अनुसार यदि हिंसा का सहारा लेकर भी लोक कल्याण की भावना स्थापित होती है तो फिर वह हिंसा भी जायज है। अत्याचारियों के प्रति सात्विक हिंसा, व्यभचारियों के प्रति सात्विक क्रोध का भाव भी लोक धर्म ही है। इससे भी मानव मूल्य की स्थापना होती है। तुलसी राम द्वारा बलि के वध को जायज ठहराते हैं क्योंकि उसने सुग्रीव की पत्नी को अपने वश में कर रखा था। इसी प्रकार जब समुद्र उन्हें मार्ग नहीं दे रहा था तो उनका धनुष सक्रिय हो जाता है। यहां तुलसी कहते हैं कि 'बिनु भय होई न प्रीति'। मानव कल्याण के निमित उन्होंने दूसरे को भयभीत करने को सही ठहराया।

तुलसी मर्यादा पालन में विश्वास रखते थे । यह मर्यादा समाज के साथ-साथ पूरे वातावरण में देखना चाहते थे। जब राम वन गमन के लिए तैयार रहते हैं तब सीता भी जाने के लिए जिद करती है। राम उसे समझाते हैंकि वन जीवन कष्टकर है। तब सीता जवाब देती है कि पत्नी के सारे नाते रिश्ते उसके पति से है। उसके अभाव में सारे संबंध आग की भांति तपाने लगती है। अर्द्धांगिनी होने के नाते पति के सुख-दुख के आधे का वह भी भागी है। तुलसी मर्यादावाद के जरिये ही भाई-भाई, पति-पत्नी, माता-पिता के बीच संबंध निर्धारित करते हैं। पर ध्यान रहे कि तुलसी का मर्यादावाद किसी को नियमों का गुलाम नहीं बनाता। जब लक्ष्मण, मेघनाद के वाण से घायल हो जाते हैं तब राम कहते हैं 'ज्यों जनतऊ वनु बंध विचोहु, पिता वचन मनतऊनहीं मोही'। अर्थात यदि जानता कि वन में अपने भाई से बिछड जाता तो फिर पिता के वचन को नहीं मानता।

तुलसी के मानव मूल्य की अन्य विशेषता उनका समन्वयवादी होना था। रावण के खिलाफ युद्ध में बंदरों का मानव के सहकर्मी के रूप में युद्ध लडना मानव-जानवर का समन्वय है, सबरी के झूठे बेर खाना शुद्र-क्षत्रीय का समन्वय है। इसी प्रकार उन्होंने अवधी व ब्रजभाषा में कविताएं रचकर भाषायी समन्वय का परिचय दिया। राम के द्वारा शिव की पूजा करके उन्होंने वैष्णव व शिव मत का समन्वय किया। यह समन्वयवाद वैविध्यता में मेल-जोल करना सीखाता है।

तुलसी के लोक दर्शन व लोक धर्म का मूल भाव समाज में संतुलन स्थापित करना है। तुलसी ने रामराज्य की संकल्पना रखी थी। रामराज्य में पुरुष एवं नारी के लिए एक ही नियम है। पुरुषों को भी एक ही नारी व्रत का पालन करने की वकालत की गयी है। तुलसी जब कहते हैं;

'एक नौरीव्रतरत सब झारी, ते मन बच क्रम पतिहितकारी।'

तो इसका मतलब यही है। इसी प्रकार तुलसी एक ऐसे समाज की बात करते हैं जिसमें कोई भी अज्ञानी या भूख न हो;

'नहीं दरिद्र कोऊ दुखी न दीना। नहिं कोऊ अबुध न लच्छन हीना।।'

तुलसी मानव कल्याण प्रजा के हित में देखते हैं। राजा प्रजा के संघर्ष में तुलसी प्रजा के साथ है। रामचरितमानस में वे प्रजा को सताने वाले को कहते हैं;

'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। ते मृप अवसि नरक अधिकारी।।'

यहां तक कि वे उन राजाओं के पतन की भविष्यवाणी करते हैं जो;

'राज करत बिनु काज ही, करैं कुचालि कुसाज। तुलसी ते दसकंध ज्यों, जइहैं समित समाज।''

तुलसी का मूल संदेश है मानव प्रेम। मानव प्रेम को सक्रिय रूप देना, सहानुभूति को व्यवहार में परिणत करके जनता के मुक्ति संघर्ष में योग देना हमारा कर्त्तव्य है।

****

कबीर

कबीर भक्ति काल के पुरोधा थे। समाज में व्याप्त बुराइयों की दो टूक शब्दों में निंदा करने व प्रहार करने के कारण सामान्यतया उन्हें एक सुधारक भी कहा जाता है। पर वस्तुतः कबीर सुधारक न होकर एक मानवतावादी थे जिन्होंने समाज में व्याप्त भेदभाव पर प्रहार कर मानवीय मूल्य को स्थापित करने का प्रयास किया।

जब वे कहते हैं कि 'यदि जनेऊ पहनने से कोई ब्राह्मण होता है तो फिर ब्राह्मण अपनी पत्नी को तो जनेऊ नहीं पहनाता, फिर वह तो शुद्र हो गयी, ऐसे में वह अपनी पत्नी का बनाया भोजन क्यों खाता है? कबीर इसके माध्यम से एक और ब्राह्मणवाद पर प्रहार करते हैं तो दूसरी ओर महिलाओं के प्रति भेदभावी वाली सामाजिक दृष्टिकोण पर भी प्रहार करते हैं। संतजन तो भाव के भूखे होते हैं, धन का लोभ उनको नहीं होता। जो धन का भूखा बनकर घूमता है वह तो साधू हो ही नहीं सकता।वे जो भी कहते और करते थे, वह आत्मविश्वास के साथ करते थे और विवेक का साथ कभी नहीं छोडते थे। वह सत्य की खोज को सभी धर्म और पंथ के साधकों तक पहुँचाने की कोशिश की है। इस विषय के अज्ञान के विरूद्ध लडने में अपना समस्त जीवन व्यतीत किया।

वे सच्चे मानवतावादी थे। मानव - मानव में उन्होंने जाति और धर्म के नाम पर कभी झगडा नहीं लगाया, बल्कि सत मार्ग दर्शन करके मिथ्या अभिमान को नष्ट करने का उपदेश दिया। कबीर बराबर प्रयत्नशील रहे कि दुखी, असहाय और पीडित जनता के बीच सुख-शांति का प्रसार हो एवं उनका जीवन सुरक्षित और आनंदमय हो। कबीर संतप्त जनजीवन के बीच शांत बना देते थे। वे सुखी जीवन की कला भक्ति को बताते थे। कबीर के पास यही ज्ञान था, इसी ज्ञान के सहारे वे जनजीवन में हरियाली लाने का प्रयास करते रहे। वे कहते हैं कि अगर तुम अपनी भलाई चाहते हो, तो मेरी बातों को ध्यान से सुनो और उन पर अमल भी करो।' वे हम मानव को सर्वप्रथम स्वयं को स्थिर करने, शांत होने, अपने को पहचानने एवं आनंद में रहने को कहते हैं। उनके अनुसार जब मानव, मन के सारे विकारों को दूर करके शांत स्थिर चित्त से बैठेगा, तो वह हर प्रकार की विषम परिस्थिति से बचा रहेगा।

कबीर व्यावहारिकता पर बल देते हैं। उनका सब सुझाव सीधा और अनुकरणीय है। वे मानव को सांसारिक प्रपंच से हटाकर अंतर्मुखी होने का सुझाव देते हैं। वे कहते हैं कि दूर का सोचना व्यर्थ है। समीपता में ही सुख का वास है। सभी शरीर धारियों को इस संसार में अपने कर्मानुसार दुख उठाना ही पडता है। दुख की इस घडी में कई घबडाना नहीं चाहिए, बल्कि शांतिपूर्वक दुख को सहन करना चाहिए। ज्ञानी जन अपने ज्ञान के बल पर इस दुख की मार को स्थिर चित्त से शांति पूर्वक भोग लेते हैं, लेकिन अज्ञानीजन दुख कीमार से तिलमिला जाते हैं और रूदन करने लगते हैं। जब तक मन में विकार है, तब तक सांसारिक प्रपंच से छुटकारा पाना संभव नहीं है। शुद्धि के पश्चात ही भक्ति रस में मन रमता है, तब तक सांसारिक प्रपंच से मन शनैःशनैः हटने लगता है। वे कहते हैं, मन निर्मल होने पर आचरम निर्मल होका और आचरण निर्मल होने से ही आदर्श मनुष्य का निर्माण हो सकेगा। वे कहते हैं कि विवेक के निर्देशों का पालन करने वाले जीवन में असीम आनंद का प्रवाह होता है। विवेकी व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होता, क्योंकि उसे अच्छी तरह ज्ञात है कि संसार की समस्त स्थितियाँ नश्वर एवं क्षणिक हैं। आनंद दूसरों को दुख देकर नहीं, बल्कि इच्छापूर्वक स्वयं दुख झेलने से ही प्राप्त होता है।

****

पं. दीनदयाल उपाध्याय

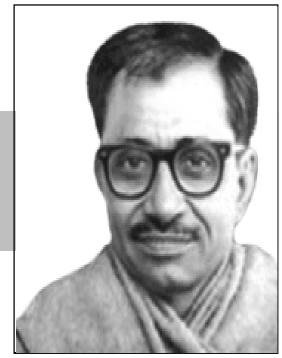

आधुनिक राजनीति को शुचिताएवंशुद्धता का प्रतिरूप देनेवाले निःस्वार्थ व एक निष्ठ भाव से राष्ट्र को समर्पित पं. दीनदयाल उपाध्याय का जन्म 25 सितम्बर 1916 को अजमेर (राजस्थान) के ग्राम धनक्रिया में हुआ बचपन में ही माता-पिता का देहावसान हो जाने के कारण इनका लालन-पालन मामा श्री राधारमण शुक्ल के सानिध्य में हुआ। उपाध्याय जी बचपन से ही असाधारण प्रतिभा के धनी थेतथा अपने छात्र जीवन में वह हमेशा सर्वाधिक अंक प्राप्त करने वाले छात्र बने। कानपुर में अध्ययन करते समय 1937 में उनकी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रति रूचि जागृत हुई और संघ के सम्पर्क ने ही उनके जीवन की दिशा बदल दी। उस समय राजनीति ने राष्ट्र जीवन को सिद्धांत हीनता, पदलोलुपता, वैमनस्यता तता अनुशासनहीनता के चंगुल में बुरी तरह जकड़ लिया था ऐसे दुष्कर पथपर निडरता और निःस्वार्थ सेवा का शंख फूकते हुए उपाध्याय जी सदैव आदर्श पुरुष के रूप में स्मरण किये जाते हैं। राष्ट्र की सेवा में सम्पूर्ण जीवन अर्पण करने वाले पं. दीनदयाल उपाध्याय का एक ही लक्ष्य था कि वे राजनीतिक दृष्टि से सुदृढ़, सामाजिक दृष्टि से उन्नत एवं आर्थिक दृष्टिकोण में राष्ट्र को समृद्धशाली बनायें। भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीय एकता के प्रति उनके मन में पावन आस्था थी।

मूल विचारक के रूप में ''एकात्म मानववाद''के सर्वप्रथम प्रतिपादक उपाध्यायजी ने आधुनिक राजनीति, अर्थव्यवस्था तथा समाज रचना के लिए एक चतुरंगी भारतीय धरातल प्रस्तुत किया है।निःसंदेह ''एकात्म मानववाद'' के रूप में श्री दीनदयाल उपाध्याय कामूलगामी चिंतन भारतीय का उसी भांति पथ प्रशस्त करता रहेगा जिस प्रकार प्राचीन काल में आचार्य चाणक्य का अर्थशास्त्र और आधुनिक काल में लोकमान्य तिलक का गीता रहस्य दिशा निर्देशित करता है।

एक चिंतक, विचारक तथा राजनीतिक सचेतक के अतिरिक्त पं. दीनदयाल उपाध्याय एक प्रखर साहित्यकार व श्रेष्ठ पत्रकार भी थे। समय मिलने पर उन्होंने अनेक विषयों पर लेख लिखा ''सम्राट चंद्रगुप्त'', जगतगुरू शंकराचार्य, भारतीय अर्थनीति एक दिशा, पंचवर्षीय योजना, अवमूल्यन आदि उनकी चर्चित रचनायें हैं।

11 फरवरी 1968को इस महानदेशभक्त चिंतक विचारक एवं साहित्यकार का निधन हो गया। इनके निधन पर तत्कालीन जनसंघ अध्यक्ष एवं राष्ट्रीय चिंतक श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा था ''सूर्य ढल गया अब हमें तारों के प्रकाश में मार्ग खोजना होगा।''

****

राम मनोहर लोहिया

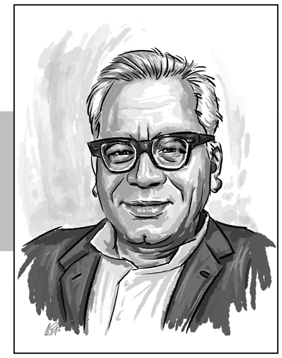

स्वाधीनता आन्दोलन एवं समाजवादी आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले राम मनोहर लोहिया ने गाँदीवादी विचारों को अपनाते हुए समाजवाद की एक नई व्याख्या एवं कार्यक्रम प्रस्तुत किया। लोहिया ने अपनी पुस्तक 'इतिहास चक्र' में बताया कि इतिहास तो चक्र की गतिसे आगे बढ़ता है। उन्होंने जाति एवं वर्ग को ऐतिहासिक गतिविज्ञान की दो मुख्य शक्तियाँ बताया तथा कहा कि इन दोनों के मध्य लगातार खींचतान चलती रहती है, जिससे इतिहास आगे बढ़ता रहता है। जाति रूढ़िवादी शक्ति का प्रतीक है तथा जड़ता को बढ़ावा देती है, जिस कारण समाज बँधी-बँधाई परम्परा पर चलने को विवश होता है, जबकि वर्ग गत्यात्मक शक्ति का प्रतीक है जो सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा देता है। आज तक का पूरा मानव इतिहास जातियों एवं वर्गों के निर्माण और विलय की कहानी है। जातियाँ शिथिल होकर वर्गों में बदल जाती है तथा वर्ग सुगटित होकर जातियों का रूप धारण कर लेता है। लोहिया ने भारत के इतिहास को दासता का एक लम्बा दौर जाति-प्रथा का परिणाम माना। उनके अनुसार, जाति-प्रथा के विरूद्ध संघर्ष करने वाले ही वास्तविक क्रान्तिकारी होते हैं।

लोहिया के अनुसार, एशिया महाद्वीप की विशिष्ट परिस्थितियों को ध्यान में रखकर ही यहाँ के समाजवादियों को अपनी नीतियाँ विकसित करनी चाहिए, क्योंकि यहाँ की सभ्यता का विकास सामन्तवाद एवं सदियो पुराने निरंकुशतन्त्र से हुआ है। एशिया की राजनीति धार्मिक रूढ़ियों और राजनीतिक प्रथाओं का मिश्रण है, जो संकीर्ण मनोवृत्ति एवं सम्प्रदायवाद को जन्म देती है, जिसके परिणामस्वरूप लोकतन्त्रीय राजनीति के अभाव में आतंक और हत्याएं राजनीति का हिस्सा बन जाती है। आधुनिक युग के अधिकारीतन्त्र एवं तकनीकतन्त्र के विकास से एक नया वर्ग अस्तित्व में आ गया है, जिसके परिणामस्वरूप ऐसे नेतृत्व का उदय हुआ है, जो जनता की भावनाओं से खिलवाड़ करके अपनी कुर्सी बचाकर उस पर टिका रहता है।

लोहिया ने अपनी दूसरी पुस्तक'समाजवादी नीति के विविध पक्ष'में समाज की संरचना चार पर्तों- गाँव, मण्डल, प्रान्त एवं राष्ट्र की विवेचना की। यदि राज्य का संगठन इन चार पर्तों के अनुसार किया जाए, तो वह समुदाय का वास्तविक प्रतिनिधि बन जाएगा। लोहिया ने राज्य में चार स्तम्भों के निर्माण की व्यवस्था को 'चौ खम्बा राज्य' कहा जैसे चार खम्बे अपना पृथक-पृथक अस्तित्व रखते हुए भी एक छत रूपी राज्य को संभालते हैं, वैसे ही यह व्यवस्था केन्द्रीकरण एवं विकेन्द्रीकरण की परस्पर विरोधी अवधारणाओं में जो सामंजस्य स्थापित करेगी। गाँव, मण्डल, प्रान्त एवं केन्द्रीय सरकार के चार प6शासन के स्वायत्त अंग स्थापित किए जाएँगे, जो कृत्यात्मक संघवाद के अन्तर्गत आपस में जुड़े रहेंगे। लोहिया की प्रस्तावित व्यवस्था में जिलाधीश का पद समाप्त कर दिया जाएगा, क्योंकि वह प्रशासनिक शक्ति का जमाव है। पुलिस और कल्याणकारी कार्य गाँव और नगर कीपंचायते संभालेगी। ग्राम प्रशासन छोटी-छोटी मशीनों पर आधारित कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देगा, जो सहकारी संस्थाओं में संगठित होंगे, जिससे आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण और बढ़ती हुई बेरोजगारी को समाप्त किया जा सकेगा। इसके विश्व स्तर पर लागू किया जाएगा, जो विश्व संसद और विश्व सरकार के रूप में अपने तर्कसंगत परिणाम पर पहुंचेगी।

****

मौलाना अबुल कलाम आजाद

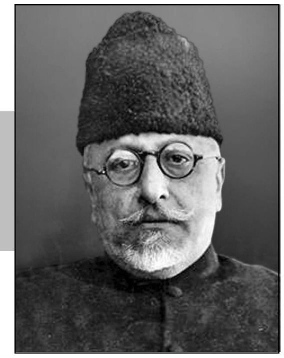

स्वतंत्र भारत के पहले शिक्षा मंत्री और स्वतंत्रता संग्राम सेनानी मौलाना अबुल कलाम आजाद का जन्म 17 नवम्बर 1888 में मक्का में हुआ था। उनका बचपन का नाम अहमद था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा स्थानीय स्तर पर हुई जबकि उच्च शिक्षा हेतु मिस्र (काहिरा विश्वविद्यालय) गए।

अबुल कलाम आजाद ने अपना राजनीतिक जीवन उर्दू साप्ताहिक अखबार अल हिलाल (1912) से प्रारंभ किया। उन्होंने अपने समाचार पत्र के माध्यम से देश में राष्ट्रीयता और हिन्दू-मुस्लिम एकता लाने का प्रयास किया। ब्रिटिश सरकारों के विरोध में लिखने के कारण उनके अखबार को प्रतिबंधित करते हुए उन्हें बंगाल से निर्वासित कर दिया गया। इसके बाद मौलाना आजाद ने कांग्रेस का दामन थामा।

मौलाना आजाद को 1940 के कांग्रेस अधिवेशन का अध्यक्ष बनाया गया और वह लगातार 6 वर्षों तथा अर्थात् 1945 तक कांग्रेस के अध्यक्ष रहे। 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद वे भारत के पहले शिक्षा मंत्री बनाए गए। ये देश विभाजन के घोर विरोधी थे। 22 फरवरी 1958 को इस महान व्यक्तित्व ने अंतिम साँसे लीं।

मौलाना अबुल कलाम आजाद बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। वे गाँधी जी के विचारों पर चलने वाले व्यक्ति थे। उनके अंदर एक कवि, लेखक, पत्रकार, स्वतंत्रता सेनानी सभी गुण एक साथ मौजूद थे। इन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर जोर देते हुए विभाजन के अंतिम समय तक पाकिस्तान मांग का विरोध किया। मुख्य रूप से इन्होंने खिलाफत आन्दौलन से स्वतंत्रता संग्राम में कदम रखा। रे 1923 में सबसे कम उम्र में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष बने।

आजाद की माँ अरबी मूल की थीं जबकि उनके पिता मोहम्द खैरूद्दीन एक फारसी थे। ये अफगानी उलेमाओं के खानदान से ताल्लुक रखते थे। तेरह वर्ष की आयु में इनका विवाह जुलैखा बैगम से हुआ। इन्होंने दर्शन, इतिहास गणित आदि विषयों की शिक्षा प्राप्त की। स्वतंत्रता के बाद भारत के पहले शिक्षा मंत्री बने और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC) की स्थापना में उनका प्रमुख योगदान था।

मौलाना अबुल कलाम आजाद का प्रमुख योगदान मुस्लिम परम्परा के विपरीत स्वतंत्रता आन्दोलन को समर्थन देना था। उन्होंने अंग्रेजों द्वारा आम आदमी के शोषण का विरोध किया। इसके अलावा मुस्लिम लीग के अलगाववादी विचारों को नकारते हुए बंगाल विभाजन 1905 का विरोध किया। उनके द्वारा सम्पादित अल हिलाल जिसका उद्देश्य मुसलमान युवकों को स्वतंत्रता आन्दोलन के प्रति उत्साहित करना और हिन्दू-मुस्लिम एकता पर जोर देना था। उन्होंने अनेक क्रांतिकारी गतिविधियों में भाग लिया जिससे कारण उन्हें जेल जाना पड़ा।

जलियाँवाला बाग हत्याकांड ने इनको अंदर से हिला दिया। यही कारण था कि गाँधी जी के असहयोग आन्दोलन में भाग लेकर महत्वपूर्ण योगदान दिया। सभी गुणों से सम्पन्न होने के अलावा वे एक अच्छे वक्ता तथा कुशल रणनीतिकार थे। शिक्षा मंत्री रहते हुए इन्होंने बहुत सारे सराहनीय कार्य किये।

वर्ष 1992 में मौलाना अबुल कलाम आजाद को मरणोपरांत भारत रत्न से सम्मानित किया गया। वे जीवन भर शिक्षा मंत्री के रूप में उनके अभूतपूर्व योगदान के कारण ही उनके जन्म दिवस 11 नवम्बर को राष्ट्रीय शिक्षा दिवस के रूप में मनाया जाता है।

****

गुरू नानक

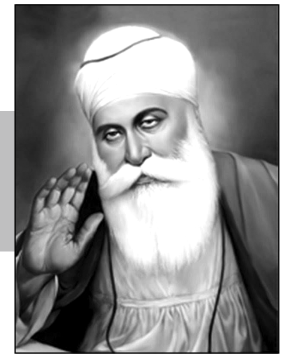

महान आध्यात्मिक गुरु तथा सिख सम्प्रदाय के संस्थापक, गुरू नानक का जन्म 15 अप्रैल, 1469 को राई भोई दी तल्वण्डी में हुआ था जिसे अबलाहौर के पास ननकाना साहिब के नाम से जाना जाता है। नानक के पिता, मेहता कालू चन्द एक किसान थे और गाँव के लेखाकार (Accountant) थे। नानक की माँ का नाम तृप्ता था। अपने बचपन में ही नानक की रहस्यमय मनोवृत्ति थी। वे चिन्तक तथा पवित्र विचारों वाले थे। वे अपने अध्यापकों से आध्यात्मिक प्रश्न करते थे तो वे आश्चर्यचकित रह जाते थे। उनके पिता ने नानक का ध्यान सांसारिक वस्तुओं (मामलों) में लगाने के लिए बहुत कोशिश की। उन्होंने नानक को भूमि जोतने पर लगा दिया। लेकिन बालक नानक ने अपने काम पर ध्यान नहीं दिया। वे खेतों में भी ध्यान-योग करने लगे।उनके पिता ने अन्य धन्धों में भी उनकी रूचि पैदा करने की कोशिश की पर कोई लाभ नहीं हुआ।

गुरू नानक की एक ही बहन थी जिसका नाम नानकी था। उसका विवाह जय राम के साथ हुआ जो कपूरथला के पास सुल्तानपुर में लम्बी-चौड़ी जागीर के मालिक नवाब दौलत खान की सेवा में था। नानक का विवाह भी उनकी बहन के विवाह के तुरन्त बाद हो गई।उनकी पत्नी का नाम सुलक्खनी (सुलक्षणी) था। लेकिन विवाह एवं दो बच्चों का जन्म भी गुरू नानक की आध्यात्मिक खोज को रोक नहीं पाया। वे ध्यान-योग के लिए वन में या एकान्त स्थानों पर चले जाते थे।

नानकी और जय राम नानक को बहुत प्यार करते थे और उनका बहुत आदर करते थे। राय बूबर, तलवण्डीं के जमीदार भी उनका बहुत आदर करते थे। उन्होंने नानक के लिए, सुल्तानपुर में नवाब के भण्डार के प्रभारी की नौकरी का प्रबन्ध कर दिया। कुछ वर्षों बाद नानक ने नौकरी छोड़ दी और आध्यात्मिक खोज में निकल पड़े। भारतीय संतों के ढंग के अनुसार वे लम्बी यात्रा पर निकल गए।उन्होंने भारत के विभिन्न मुस्लिम व हिन्दु धार्मिक केन्द्रों की यात्रा की। नानक की जिज्ञासा ने ही उन्हें विदेशों की यात्रा के लिए प्रेरित किया। नानक अपनी यात्रा से 1520 में वापस लौटे।

उनके जीवन के शेष वर्ष करतारपुर में बीते जो केन्द्रीय पंजाब का एक दूसरा गाँव था। यह संभवतः इस अवधि का अन्तिम समय था जब सिख सम्प्रदाय की नींव रखी गई थी। गुरू नानक को आध्यात्मिक मास्टर माना जाने लगा था। समाज के विभिन्न वर्गों के लोग उनके संदेश को सुनने के लिए भारी संख्या में आने लगे। वे गुरू नानक के अनुयायियों के समूहों द्वारा भाए जाने वाले अनेक भक्ति गीतों (सबद) में अभिव्यक्त गुरू नानक की नैतिक शिक्षाओं के प्रति बहुत आकर्षित होने लगे। यह भारत की जीवन्त धार्मिक परम्पराओं को भाग बना रहा।

नानक ने अपने जीवन के अंतिम वर्ष अपने परिवार के साथ करतारपुर में बिताए। गुरु नानक की मृत्यु 1538 में हुई, उस समय उनकी आयु 69 वर्ष की थी। गुरू अंगद उनके उत्तराधिकारी बने। अन्य गुरू हुए हैं- गुरू अमरदास, गुरु रामदास, गुरू अर्जुन देव, गुरू हरगोविन्द, गुरू हर राई, गुरू हर किशन, गुरू तेज बहादुर तथा गुरूगोविन्द सिंह।

****